ओ३म्

मीमांसा दर्शन

मीमांसार्य्यभाष्य

द्वितीय भाग

भाष्यकार

श्री पं॰ आर्यमुनि जी महामहोपाध्याय

ओ३म्

मीमांसार्य्यभाष्य

(द्वितीय भाग)

भाष्यकार

महामहोपाध्याय श्री पण्डित आर्य्यमुनि जी

संवत् २०३४ विक्रमी] [मूल्य : ४०-००

सत्यार्थप्रकाश शताब्दी वर्ष में प्रकाशित

प्रकाशक—
हरयाणा साहित्य संस्थान
गुरुकुलझज्जर, रोहतक
(हरयाणा) दूरभाष–४४

सृष्टिसंवत् १९६०८५३०७८
कलिसंवत् ५०७८
दयानन्दाब्द १५३

मुद्रक—
जय्यद प्रेस, बल्लीमारान,
दिल्ली–११०००६

प्रथम चार पृष्ठ आचार्य प्रिंटिंग प्रेस, रोहतक में मुद्रित ।

प्रकाशकीय वक्तव्य

महाभारत और उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन) के रचयिता महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के शिष्य महाप्राज्ञ जैमिनि मुनि विरचित पूर्व-मीमांसा दर्शनका आर्यभाष्य पाठकों की सेवामें उपस्थित करते हुये हमें अतिहर्ष हो रहा है। इस शास्त्र में कर्मकाण्ड विषय का प्रमुखता से वर्णन है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पूना में दिये दसवें प्रवचन में मीमांसा के विषय में कहा था—

"पहला दर्शन जैमिनि जी का बनाया मीमाँसा-शास्त्र है। इसमें धर्म और धर्मी का विचार किया है और प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन्हीं दो प्रमाणों को माना है। धर्म की प्रशंसा करते हुये इन्होंने वर्णन किया है कि आज्ञा ही धर्म का लक्षण है।"

पुनः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ग्रन्थप्रामाण्याप्रमाण्यविषय में लिखा है "वेदों के छः उपाङ्ग अर्थात् जिनका नाम षट्शास्त्र है—उनमें से एक व्यासमुनि आदिकृत भाष्य सहित जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्म धर्मी दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है।"

महर्षि के इन शब्दों से मीमांसा की वेदानुकूलता सिद्ध है। नवीन-भाष्यकारों ने यह भ्रम उत्पन्न कर दिया था कि मीमांसा में यज्ञ आदि में पशु के अंग काट-काटकर होम करने का विधान है। प्रस्तुत आर्य-भाष्य में महामहोपाध्याय श्री पण्डित आर्य्यमुनि जी ने सप्रमाण इसका निराकरण किया है। यह दर्शन भी अन्य दर्शनों की भांति त्रैतवाद का ही पोषक है। कुछेक टीकाकार मीमांसा दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते। किन्तु ईश्वर के अस्तित्व का निषेधार्थक एक भी सूत्र इस शास्त्र में नहीं है। प्रत्युत पूर्वापर प्रकरण को संगति सहित देखने पर "देवताश्रये च," "सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथा भूतोपदेशात्" इत्यादि अनेक सूत्रों से ईश्वर की सत्ता मीमांसा से सर्वथा सिद्ध होती है।

मीमाँसा के वास्तविक उद्देश्य से लोगों को दूर करने में नवीन टीकाकारों ने अपनी अज्ञानतावश बहुत योगदान दिया है। शबर स्वामी कृत मीमांसाभाष्य पर श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक, बृहट्टीका, मध्यम-टीका, बृहती आदि कुमारिलभट्ट और प्रभाकरभट्ट की टीकाओं तथा मण्डनमिश्रकृत मीमांसानुक्रमणी एवं विधिविवेक और पार्थसारथि कृत शास्त्रदीपिका आदि नूतन ग्रन्थ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। महर्षिदयानन्द सरस्वती ने मीमांसा के निषिद्ध ग्रन्थों में धर्मसिन्धु और व्रतार्कादि का

उल्लेख किया है। सत्यार्थप्रकाश तृतोयसमुल्लास में मीमांसा आदि षट्शास्त्रों के लिये लिखा है—

"जहां तक बनसके वहां तक ऋषिकृत व्याख्यासहित अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्यायुक्त छः शास्त्रों को पढ़ें पढावें।"

यद्यपि महर्षिदयान्द जी ने अपने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकादिग्रन्थों में जैमिनिमुनिकृत सूत्र पूर्वमीमाँसा को व्यासमुनिकृत व्याख्या सहित पढने का विधान किया है, किन्तु उसके न मिलने तथा उनके उपर्युक्त वाक्य को ध्यान में रखते हुये उपलब्ध मीमांसाभाष्यों में सर्वाधिक वेदानुकूल, सरल तथा सुबोध होने से आर्य-मुनिकृत आर्यभाष्य को योग और सांख्य के पश्चात् तीसरे दर्शन का यह आर्यभाष्य आपके सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं।

महर्षि जैमिनि ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्य वादरि (महर्षि वादरायण व्यास के पिता) अपने गुरु वादरायण (वेदव्यास), ऐतिशायन, काष्र्णाजिनि, आत्रेय, लावुकायन और कामुकायन आदि आचार्यों का उल्लेख मीमांसा दर्शन में किया है। अन्यत्र काशकृत्स्न के मीमांसा का उल्लेख भी देखने में आया है। प्रसिद्ध वैयाकरण महामुनि पाणिनि के गुरु उपवर्ष ने भी इन सूत्रों पर भाष्य लिखा था। किन्तु आर्यों के अभाग्यवश हूण, अरब, मुसलमान और अंग्रेज आदि संस्कृति और सभ्यता के दूषक विदेशी आक्रमणकारियों ने उन श्रेष्ठ ग्रन्थों को नष्ट कर दिया। अनार्षग्रन्थों के पठन पाठन के अधिक प्रचार से भी आर्षग्रन्थ लुप्त होते चले गये। सहस्रों हस्तलिखित ग्रन्थ इस आर्यावर्त से जर्मन, जापान, अमेरिका, फ्रांस और इंगलैण्ड आदि देशों में भी चले गये हैं। यत्न करके उन्हें मूल अथवा प्रतिलिपिरूप में पुनः उपलब्ध करना चाहिये।

अनेक वर्षों से यह ग्रन्थ अप्राप्य था। अब 'हरयाणा साहित्य संस्थान' गुरुकुल झज्जर से इसका पुनः प्रकाशन किया है। आशा है पाठक और दर्शनप्रेमी महानुभाव इसका हार्दिक स्वागत करके शेषदर्शन भाष्यों के प्रकाशन में हमारा उत्साहवर्द्धन करेंगे। दर्शनभाष्यों के प्रकाशन सम्बन्धी पवित्र और उपयोगी कार्य के लिये श्री देवकरामजी आर्य दूधवा भिवानी निवासी ने हमें आर्थिक सहायता दी है। हम इसके लिये इनके अत्यन्त आभारी हैं।

गुरुकुलझज्जर
रोहतक

निवेदक
ओमानन्द सरस्वती

मीमांसार्य्यभाष्य के द्वितीयभाग की विषयसूची

चतुर्थाध्याय

षष्ठाध्याय

विषय	पृ०	पं०
यज्ञादि कर्मों में स्त्रियों के अधिकार का निरूपण	११२८	१०
स्त्री पुरुष दोनों को साथ मिलकर अग्न्याधान करने में पूर्वपक्ष	११३३	१७
उक्त पूर्वपक्ष का समाधान	११३४	१
ब्राह्मणादि वर्णत्रय का यज्ञादि कर्मों में अधिकार कथन करने में पूर्वपक्ष	११३५	१०
उक्त पूर्वपक्ष का समाधान	११३५	२२
उक्त विषय में बादरि ऋषि के मत से निरूपण	११३६	१९
शूद्र को वैदिक कर्मों के करने में पूर्वपक्ष	११३८	१२
उक्त पूर्वपक्ष का समाधान	११३९	१
ब्राह्मणादि वर्णों में संस्कार की विशेषता का निरूपण	११३९	१०
यज्ञादि कर्मों में निर्धन का अधिकार कथन करने के लिये पूर्वपक्ष	११४४	२०
उक्त पूर्वपक्ष का समाधान	११४५	९
अङ्गहीन का यज्ञ में अधिकार निरूपण	११४६	१०
नौका चलाने वाले मल्लाहों का यज्ञ में अधिकार निरूपण	११५२	५
पुरुष की स्व २ कर्मों में प्रवृत्ति का निरूपण	११५४	६
वर्णव्यवस्था का निरूपण	११५५	१
कर्म करने में पुरुष की स्वाधीनता का निरूपण	११५६	१३
कर्त्ता को ही फल का निरूपण	११५९	२
निषिद्ध कर्मों की अकर्तव्यता का निरूपण	११६७	१५
अग्निहोत्रादि कर्मों के निरन्तर करने में पूर्वपक्ष	११७०	९

ओ३म्

अथ मीमांसार्य्यभाष्ये चतुर्थाध्याये प्रथमःपादः प्रारभ्यते

सङ्गति–तृतीयाध्याय में "कौन कर्म शेष तथा कौन उसका शेषी कर्म है" इस प्रकार शेषशेषिभाव का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब "कौन कर्म प्रयोजक अर्थात् निमित्त तथा कौन कर्म प्रयोज्य अर्थात् नैमित्तिक है" इस प्रकार कर्मों का प्रयोज्यप्रयोजकभाव अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभाव निरूपण करने के लिये चतुर्थाध्याय का आरम्भ करते हुए प्रथम उसकी उपयोगी क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ सम्बन्धी जिज्ञासा की कर्त्तव्यता कथन करते हैं :–

अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा । १ ।

पद०–अथ । अतः । क्रत्वर्थपुरुषार्थयोः । जिज्ञासा ।

पदा०–(अथ) शेषशेषिभाव के अनन्तर (क्रत्वर्थपुरुषार्थयोः) क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ की (जिज्ञासा) जिज्ञासा करनी चाहिये (अतः) क्योंकि वह कर्मों के प्रयोज्यप्रयोजकभाव का उपयोगी है ।

भाष्य–क्रतु तथा याग यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, जो क्रतु के लिये हो उसको "क्रत्वर्थ" तथा जो पुरुष के लिये हो उसको "पुरुषार्थ" और जानने की इच्छा को "जिज्ञासा" कहते हैं, जब यह ज्ञात होजाय कि अमुक कर्म क्रत्वर्थ तथा अमुक पुरुषार्थ कर्म है तो यह भी अत्यन्त स्फुट होजाता है कि अमुक

कर्म प्रयोज्य तथा अमुक कर्म प्रयोजक है, निमित्त, प्रयोजक तथा अनुष्ठापक यह तीनों और नैमित्तिक, प्रयोज्य तथा अनुष्ठाप्य यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं अर्थात् क्रतु अपने उपकार के लिये तथा पुरुष अपने सुख के लिये जिस कर्म के अनुष्ठान का निमित्त है वह "प्रयोज्य" और क्रतु तथा पुरुष उसका "प्रयोजक" है, इस प्रकार प्रयोज्यप्रयोजकभाव का ज्ञान क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ ज्ञान के अधीन है और जो जिसके अधीन है उसका जानना आवश्यक है, क्योंकि उसके जाने विना तदधीन जाना नहीं जासक्ता, इसलिये शेषशेषिभाव के अनन्तर कर्मों के परस्पर प्रयोज्यप्रयोजकभाव जानने के लिये क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ की जिज्ञासा करनी चाहिये।

सं०—अब क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ का लक्षण कथन करते हैं:—

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाविभक्तत्वात् । २ ।

पद०—यस्मिन् । प्रीतिः । पुरुषस्य । तस्य । लिप्सा । अर्थलक्षणा । अविभक्तत्वात् ।

पदा०—(यस्मिन्) जिसके अनुष्ठान से (पुरुषस्य) पुरुष को (प्रीतिः) सुख प्राप्त होता और (लिप्सा) जिसके सम्पादन की इच्छा (अर्थलक्षणा) स्वतः ही होती है (तस्य) उस कर्म को पुरुषार्थ कहते है क्योंकि (अविभक्तत्वात) वह प्रीति के साधन कर्म से भिन्न नहीं ।

भाष्य—प्रीति, सुख यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, जिस "कर्म" से पुरुष को सुखप्राप्ति की संभावना होती है कि इसके अनुष्ठान से मुझ को अवश्य सुख प्राप्त होगा या यों कहो कि जो कर्म इसके

सुख का साधन तथा इससे क्रियाजासक्ता है उसके सम्पादन करने की इच्छा पुरुष को स्वभाव से ही होती है उसमें प्रेरणा की आवश्यकता नहीं अर्थात् जैसे बच्चे अपने खेल कूद में, विचारशील अपने विचार में, सत्सङ्गी अपने सत्सङ्ग में तथा व्यसनी अपने व्यसन में स्वतः ही प्रवृत्त होते हैं और अपनी प्रवृत्ति में किसी की प्रेरणा की यत्किञ्चित् भी आकांक्षा नहीं करते, क्योंकि उनको दृढ़ विश्वास है कि यह कर्म हमारे सुख का साधन है वैसेही जो कर्म सुख का साधन तथा जिसके सम्पादन की पुरुष को स्वतः ही इच्छा होती है उसको "पुरुषार्थ" और जो साक्षात् सुख का साधन नहीं तथा जिसके करने के लिये प्रेरणा की आवश्यकता है उसको "क्रत्वर्थ" कर्म कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जो कर्म सम्यक् अनुष्ठित हुआ पुरुष के वांच्छित फल का साधन है उसका नाम "पुरुषार्थ" और जो कर्म सम्यक् अनुष्ठित हुआ साक्षात् उक्त फल का साधन नहीं किन्तु फल के जनक कर्म का उपकारी है उसका नाम "क्रत्वर्थ" है।

सार यह निकला कि प्रधान कर्म का नाम "पुरुषार्थ" और अङ्ग कर्म का नाम "क्रत्वर्थ" है।

सं०—अब प्रजापति व्रतों को पुरुषार्थकर्म कथन करते हैं:—

तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय, शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वात्, न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते,तेनार्थे-

नाभिसम्बन्धात् क्रियायां पुरुषश्रुतिः । ३ ।

पद०—तदुत्सर्गे । कर्माणि । पुरुषार्थाय । शास्त्रस्य । अनतिशङ्क्यत्वात् । न । च । द्रव्यं । चिकीर्ष्यते । तेन । अर्थेन । अभिसम्बन्धात् । क्रियायां । पुरुषश्रुतिः ।

पदा०—(तदुत्सर्गे) प्रीतिरूपफल की उपलब्धि न होने पर भी (कर्माणि) प्रजापतिव्रतादि संज्ञक कर्म (पुरुपार्थाय) पुरुष के लिये ही जानने चाहियें, क्योंकि (शास्त्रस्य) शास्त्रोक्त बात (अनतिशङ्क्यत्वात्) पर्य्यनुयोग के योग्य नहीं होती (च) और (द्रव्यं) याग का अङ्गभूत कोई द्रव्य भी (न. चिकीर्ष्यते) उक्त कर्मों द्वारा संस्करणीय नहीं पाया जाता जिससे उनको क्रत्वर्थ माना जाय और (तेन. अर्थेन) पुरुषार्थ के साथ (अभिसम्बन्धात्) सम्बन्ध होने से (क्रियायां) उक्त कर्मों में (पुरुपश्रुतिः) पुरुष श्रवण भी चरितार्थ होजाता है ।

भाष्य—किसी यागविशेष के प्रकरण में अपठित "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन"=वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त हुआ पुरुष उदय तथा अस्त होते सूर्य्य को न देखे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण के विषय हैं इनमें जो उदय तथा अस्त होते सूर्य्य का अनीक्षण आदि रूप कर्म विधान किये हैं उनको "प्रजापतिव्रत" कहते हैं, उक्त कर्म पुरुषार्थ हैं किंवा क्रत्वर्थ अर्थात् वह पुरुष के लिये विधान किये गये हैं अथवा याग के लिये ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि उक्त कर्म याग के लिये तभी होसक्ते हैं जब वह साक्षात् अथवा तदपेक्षित द्रव्य के संस्कार द्वारा उसके उपकारी हों परन्तु उक्त वाक्यों से उनका याग के लिये किसी प्रकार

भी उपकारी होना नहीं पाया जाता और "एतावता हैनसा मुक्तो भवति"=जो पुरुष प्रजापतिव्रत संज्ञक कर्मों को करता है वह अनेक पापों से छूटजाता है, इत्यादि वाक्यों से उक्त कर्मों के साथ पुरुष का सम्बन्ध स्पष्ट है और वह तभी चरितार्थ होसक्ता है जब उनको पुरुषार्थ मानाजाय अर्थात् उक्त कर्मों के साथ जो पुरुष का सम्बन्ध दिखाया गया है वह सप्रयोजन है निष्प्रयोजन नहीं, यदि उक्त कर्म साक्षात् अथवा द्रव्य द्वारा क्रत्वर्थ होते तो पुरुष के साथ उनका सम्बन्ध कदापि न दिखाया जाता किन्तु क्रतु के साथ दिखाया जाता परन्तु पुरुष के साथ दिखाया है इससे सिद्ध है कि उक्त कर्म क्रत्वर्थ नहीं किन्तु पुरुषार्थ हैं।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" आदि की भांति उक्त वाक्यों में प्रजापति व्रतों का स्वर्ग रूप फल निरूपण नहीं किया तथापि पूर्वोक्त "एतावता" वाक्य से उनके अनुष्ठान का पापनिवृत्तिरूप फल स्पष्ट है और जो फलवाला होता है वह पुरुषार्थ ही होता है क्रत्वर्थ नहीं यह नियम है, और यह लोकसिद्ध बात है कि जिस कर्म के अनुष्ठान में पुरुष नियुक्त किया जाता है यदि वह उसके अनुष्ठान में मग्न हुआ सूर्य्य के उदय तथा अस्त पर दृष्टि न दे और अनुष्ठान करता चला जाय तो मध्य में कर्म के विगुण होजाने के कारण जो उसके निष्फल होने का हेतु पाप होना था वह उसको नहीं होता और कर्म भी यथाविधि साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हुआ प्रभूत फल का जनक होता है वैसेही वैदिक कर्मों के अनुष्ठान काल में जो पुरुष यह मन में कभी नहीं लाता कि कब सूर्य्य उदय तथा कब अस्त होता है और अनुष्ठान लगातार किये जाता है उसको

शीघ्र ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है और वेदोक्त कर्मों के न करने अथवा प्रमादपूर्वक करने से जो पाप होता है वह उससे छूट जाता है और पापों से छूटना वैसेही पुरुष को अभीष्ट है जैसे स्वर्ग को प्राप्त होना, दोनों में यत्किञ्चित् भी भेद नहीं और जो कर्म साक्षात् पुरुष के अभीष्ट फल का जनक है उसका पुरुषार्थ होना उचित है। "एतावता" वाक्य से स्पष्ट है कि प्रजापति व्रत संज्ञक कर्मों के यथाविधि अनुष्ठान करने से पुरुष को निष्पापता रूप फल की प्राप्ति होती है और जिससे कोई फल प्राप्त होता है वह कर्म पुरुषार्थ है क्रत्वर्थ नहीं।

सार यह निकला कि "नेक्षेत" वाक्य में अनीक्षण अर्थात् उदय तथा अस्त होते सूर्य्य का "न देखना" विधान नहीं किया गया किन्तु अनीक्षणसङ्कल्प अर्थात् "यावत्पर्य्यन्त अनुष्ठान यथाविधि पूर्ण न हो तावत्पर्य्यन्त सूर्य्य कब उदय तथा कब अस्त होता है, इस प्रकार उसके उदय और अस्त का अनुसन्धान तक नहीं करूंगा" एवं विध सङ्कल्प विधान किया है और वह अर्थवाद रूप वाक्यशेष से उक्त फल वाला है और जो फलवाला है उसका ज्योतिष्टोम आदि की भांति पुरुषार्थ कर्म होना ठीक है, इसलिये सिद्ध हुआ कि प्रजापतिव्रत संज्ञक कर्म पुरुषार्थ हैं क्रत्वर्थ नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुति फलानि स्युः। ४।

पद०—अविशेषात्। तु। शास्त्रस्य। यथाश्रुति। फलानि। स्युः।

पदा०-"तु" शब्द आशङ्का की सूचना के लिये आया है (यथाश्रुति) वाक्यशेप के अनुसार (फलानि) फलवाले समिधादिकर्म भी पुरुषार्थ होने चाहियें क्योंकि (शास्त्रस्य) उन का विधायक शास्त्र भी (अविशेषात्) प्रजापतिव्रतसंज्ञक कर्म विधायक शास्त्र के समान है।

भाष्य-यदि अर्थवाद रूप वाक्यशेष के बल से फलवाले होने के कारण प्रजापतिव्रत संज्ञक कर्म पुरुषार्थ हैं क्रत्वर्थ नहीं तो "समिध्" आदि प्रयाज सञ्ज्ञक कर्म भी पुरुषार्थ ही होने चाहियें क्योंकि अर्थवाद रूप वाक्यशेष से इनके भी फल सुने जाते हैं अर्थात् जैसे "नेक्षेतोद्यन्तम्" आदि वाक्यों से प्रजापतिव्रत संज्ञक कर्म विधान किये गये हैं वैसे ही "समिधोयजति" आदि वाक्यों से प्रयाज संज्ञक समिध् आदि कर्म भी विधान किये गये हैं और जैसे उक्त दोनों प्रकार के कर्मों का विधायक शास्त्र समान है वैसे ही फल वाक्य भी समान है विधिवाक्य तथा फलवाक्य दोनों के समान होने से समिध् आदि कर्मों को भी प्रजापतिव्रत संज्ञक कर्मों के समान होना आवश्यक है और उक्त संज्ञक कर्म पुरुषार्थ हैं इसलिये समिधादि कर्मों को भी पुरुषार्थ ही होना चाहिये क्रत्वर्थ नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि समिधादि कर्मों को जो क्रत्वर्थ माना गया है वह ठीक नहीं, क्योंकि वह शास्त्र तथा फल से प्रजापतिव्रत संज्ञक कर्मों के समान हैं और जो उक्त अंश में परस्पर समान हैं उनको शेष अंश में भी समान होना उचित है, इसलिये प्रजापति-व्रत संज्ञक कर्म जैसे पुरुषार्थ हैं वैसे ही समिधादि प्रयाज सञ्ज्ञक कर्म भी पुरुषार्थ होने चाहियें क्रत्वर्थ नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

अपिवा कारणाग्रहणे तदर्थमर्थस्यानभि-सम्बन्धात् । ६ ।

पद०—अपि । वा । कारणाग्रहणे । तदर्थम् । अर्थस्य । अनभिसम्बन्धात् ।

पदा०—"अपि, वा" यह दोनों शब्द उक्त आशङ्का के निराकरणार्थ आये हैं (कारणाग्रहणे) श्रुति आदि विनियोजक प्रमाणों के मध्य किसी भी प्रमाण की उपलब्धि न होने से (तदर्थ) उक्त प्रजापतिव्रत संज्ञक कर्म पुरुषार्थ माने गये हैं क्योंकि (अर्थस्य) प्रमाण के न मिलने से उनका किसी प्रधान कर्म के साथ (अनभिसम्बन्धात्) सम्बन्ध नहीं होसक्ता ।

भाष्य—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या यह छः कर्मों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव रूप से सम्बन्ध कराने वाले विनियोजक प्रमाण हैं, इनका विस्तार पूर्वक निरूपण तृतीयाध्याय में किया गया है, इन्हीं के बल से क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ कर्म का ज्ञान होता है अर्थात् उक्त प्रमाणों के मध्य किसी प्रमाण से भी जिस कर्म का किसी प्रधान कर्म के साथ अङ्गरूपतया सम्बन्ध प्रमाणित है वह "क्रत्वर्थ" तथा जिसका किसी प्रधान कर्म के साथ उक्त रूप से सम्बन्ध प्रमाणित नहीं है वह पुरुषार्थ कर्म है "**समिधोयजति, तनूनपातं यजति**" इत्यादि वाक्यों से विहित समिध् आदि "प्रयाज" संज्ञक कर्मों का दर्शपूर्णमास रूप प्रधान कर्म के साथ उक्त रूप से सम्बन्ध श्रुति आदि प्रमाणों से सिद्ध है पुनः निरूपण की आवश्यकता नहीं, परन्तु प्रजापतिव्रत संज्ञक कर्मों का किसी प्रधान कर्म के साथ अङ्गाङ्गिभाव रूप

सम्बन्ध है यह उक्त प्रमाणों के मध्य किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता और उसके सिद्ध न होने से उनको "समिध्" आदि की भांति क्रत्वर्थ भी नहीं मान सक्ते ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे उक्त प्रयाज संज्ञक कर्मों के क्रत्वर्थ होने में "श्रुति" आदि प्रमाण मिलते हैं वैसे प्रजापतिव्रत संज्ञक कर्मों के क्रत्वर्थ होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता और प्रमाण के न मिलने से उनको उनकी भांति क्रत्वर्थ मानना भी उचित नहीं ।

सार यह निकला कि यद्यपि अर्थवाद रूप वाक्यशेष से उक्त प्रयाज संज्ञक कर्मों का भी फल सुना जाता है, तथापि एतावन्मात्र से उनको पुरुषार्थ नहीं मान सक्ते, क्योंकि उक्त विनि-योजक प्रमाणों के उपलब्ध होने से उनका क्रत्वर्थ होना प्रमाणित है, परन्तु प्रजापतिव्रतसंज्ञक कर्मों के क्रत्वर्थ होने में उक्त विनि-योजक प्रमाणों के मध्य कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता और विनियोजक प्रमाण के उपलब्ध न होने से बलात् किसी प्रधान याग के साथ उनका उक्त रूप सम्बन्ध भी नहीं होसक्ता और उसके न होने से उनको क्रत्वर्थ मानना भी उचित नहीं, इसलिये अर्थवाद रूप वाक्यशेष से फल का श्रवण समान होने पर भी उक्त प्रयाज संज्ञक कर्मों की भांति वह क्रत्वर्थ नहीं होसक्ते अतएव उनको पुरुषार्थ कर्म मानना ही युक्त है, यही निश्चेतव्य है।

सं०-अब उक्त अर्थ में लोकानुभव कथन करते हैं :-

तथाच लोकभूतेषु । ६ ।

पद०-तथा । च । लोकभूतेषु ।

पदा०-(च) और (तथा) जैसा ऊपर निरूपण किया गया है वैसेही (लोभूकतेषु) सम्पूर्ण लोगों में देखा जाता है ।

भाष्य–यह सर्वजन प्रसिद्ध बात है कि जब कभी "स्नानं कुरु"=स्नान कर "पाकं कुरु"=पाक कर, इस प्रकार कहा जाय तो झट बुद्धिस्थ होजाता है कि स्नान पाकार्थ विधान किया है, और जब कभी "स्नानं कुरु"=स्नान कर, इस प्रकार केवल स्नान ही विधान किया जाय तो कोई पुरुष भी उसको पाकार्थ नहीं समझता, इसी प्रकार "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" से दर्शपूर्णमास का विधान करके "समिधो-यजति" आदि से समिदादि प्रयाज कर्म विधान करने से निःसन्देह स्पष्ट होजाता है कि पाकार्थ स्नान की भांति प्रयाज कर्म भी "दर्शपूर्णमास" रूप क्रतु के लिये हैं, परन्तु प्रजापति-व्रत संज्ञक कर्म इस प्रकार विधान नहीं किये गये किन्तु केवल "स्नानं कुरु" की भांति विधान किये गये हैं, और इतना ही नहीं प्रत्युत शरीर शुद्धि आदि स्नान फल की भांति उनका निष्पापता रूप फल भी कथन किया गया है, और जिनका इस प्रकार विधान तथा फल कथन किया गया है उनके विषय में यह कल्पना नहीं कीजासक्ती कि वह प्रयाज की भांति क्रत्वर्थ हैं अपि तु लोकानुभव के अनुसार यही कल्पना करनी ठीक है कि वह दर्शपूर्णमास की भांति पुरुषार्थ हैं।

सार यह निकला कि जैसे श्रुति लिङ्गादि प्रमाणों से अर्थ का निश्चय होता है वैसेही लोकानुभव से भी होता है, और लोकानुभव से सिद्ध है कि जो कर्म फल सहित स्वतन्त्र विधान किये गये हैं और जिन के अन्यार्थ होने में कोई दृढ़ प्रमाण उपलब्ध नहीं होता वह पुरुषार्थ हैं, प्रजापतिव्रतसंज्ञक कर्म भी

न्त्रतन्त्र तथा फल सहित विधान किये गये हैं और प्रयाज की भांति उनके क्रत्वर्थ होने में कोई दृढ़ प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता, इसलिये वह भी पुरुषार्थ हैं क्रत्वर्थ नहीं।

सं०—अब यज्ञायुधों का स्व २ अर्थ के लिये विधान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

द्रव्याणित्वविशेषेणानर्थक्यात्प्रदीयेरन्।७।

पद०—द्रव्याणि। तु। अविशेषेण। आनर्थक्यात्। प्रदीयेरन्।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष के सूचनार्थ आया है (द्रव्याणि) "स्फ्य" आदि यज्ञायुध (अविशेषेण) सम्पूर्ण रूप से (प्रदीयेरन्) अग्नि में हवन करने चाहियें, क्योंकि (आनर्थक्यात्) अन्यथा उनका विधान व्यर्थ होजाता है।

भाष्य—"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में जो "स्फ्य" आदि दश यज्ञायुध विधान किये हैं वह होमार्थ विधान किये हैं किंवा "वेदि" आदि के "खोदना" आदि रूप स्व स्व कार्य्य के लिये? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "**एतानि वै दश यज्ञायुधानि**"=यह दश याग के साधन हैं, इस प्रकार "स्फ्य" आदि को यज्ञायुध कथन किया है, यज्ञायुध, यज्ञसाधन तथा यज्ञाङ्ग यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, यदि इनका सम्पूर्ण रूप से हवन न किया जाय तो उक्त वाक्य सर्वथा व्यर्थ होजाता है क्योंकि हवन किये विना वह याग के अङ्ग नहीं होसक्ते और वाक्य का व्यर्थ होना ठीक नहीं, इसलिये उनका विधान होमार्थ है स्व २ कार्य्यार्थ नहीं, यही मानना उचित है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात् तस्माद्यथाश्रुति स्युः । ८ ।

पद०-स्वेन । तु । अर्थेन । सम्बन्धः । द्रव्याणां । पृथगर्थत्वात् । तस्मात् । यथाश्रुति । स्युः ।

पदा०-"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (द्रव्याणां) उक्त यज्ञायुधों का (स्वेन, अर्थेन) अपने २ कार्य्य के साथ (सम्बन्धः) सम्बन्ध होना उचित है, क्योंकि (पृथगर्थत्वात्) उनका भिन्न २ कार्य्य विधान किया गया है (तस्मात्) इसलिये (यथाश्रुति) श्रुति के अनुसार ही (स्युः) उनका विनियोग होना ठीक है ।

भाष्य-"स्फ्येनोद्धन्ति" आदि वाक्यों से "स्फ्य" आदि के भिन्न २ स्व २ कार्य्य विधान किये गये हैं, और जिनके भिन्न २ अपने कार्य्य विधान किये गये हैं उनका अपने कार्य्य को छोड़कर अन्यत्र विनियोग नहीं होसक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि "एतानि वै दश यज्ञायुधानि" वाक्य में "स्फ्य" आदि का यज्ञसाधनत्व रूप से अनुवाद मात्र किया है विधान नहीं, यदि विधान होता तो सम्पूर्ण रूप से उनके अग्नि में प्रदान की कल्पना कीजाती, परन्तु अनुवाद दशा में ऐसी कल्पना नहीं कीजासक्ती, और यह सर्वसम्मत है कि अनुवाद अन्यत्र विहित का ही होता है, और जो अन्यत्र एक कार्य्य के लिये विहित हैं उनका कार्य्यान्तर के लिये विधान कैसे होसक्ता है, "स्फ्य" आदि के वेदि आदि का

खोदना आदि रूप स्वकीय कार्य्य अन्यत्र विहित हैं यदि उनका अग्नि में हवन कर दिया जाय तो उक्त कार्य्य नहीं होसक्ते, और उनके न होने से याग नहीं होसक्ता, और पुरोडाश आदि अन्य होतव्य द्रव्यों के विद्यमान होने से द्रव्यान्तर की आवश्यकता भी नहीं है, और कदाचित् पुरोडाश तथा कदाचित् स्फ्य आदि का-इस प्रकार वैकल्पिक होम मानने में कोई प्रमाण नहीं है और जिसका साधक कोई प्रमाण नहीं उसकी कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि वह निष्प्रमाणकी होने से उपादेय नहीं होसक्ती, और यज्ञायुधों का उक्त वाक्य में अनुवाद मान कर अन्यत्र विहित स्व २ कार्य्य के साथ सम्बन्ध मानने में कोई दोष नहीं प्रत्युत दोनों वाक्य चरितार्थ होजाते हैं, इसलिये यही मानना उचित है, कि उक्त यज्ञायुध हवनार्थ विधान नहीं किये किन्तु अपने २ कार्य्य के लिये किये हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

चोद्यन्ते चार्थकर्मसु । ९ ।

पद०-चोद्यन्ते । च । अर्थकर्मसु ।

पदा०-(च) और (अर्थकर्मसु) हवन आदि क्रिया के लिये (चोद्यन्ते) पुरोडाश आदि विधान किये गये हैं।

भाष्य-"आग्नेयो ऽष्टाकपालः" इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि दर्शपूर्णमास याग में पुरोडाश आदि का हवन होता है, यदि यज्ञायुधों का हवन विवक्षित होता तो पुरोडाश आदि के विधान की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि हवन के लिये कोई द्रव्य होना चाहिये सो यज्ञायुध प्रथम विद्यमान हैं, परन्तु प्रथम विहित होने पर भी उनको छोड़कर पुरोडाश आदि का विधान

किया है, इससे सिद्ध है कि "स्फ्य" आदि का विधान स्वकीय कार्य्य के लिये है हवन के लिये नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं:-

लिङ्गदर्शनाच्च । १० ।

पद०-लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते त्रयोदशामावास्यायाम्"=पूर्णमास याग में चौदह और दर्श में तेरह आहुतियें दीजाती हैं, इस वाक्य में जो "दर्शपूर्णमास" याग में आहुतियों की संख्या कथन की है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि उक्त याग में यज्ञायुधों की भी आहुति दीजाती तो आहुतियों की उक्त संख्या कथन न कीजाती क्योंकि आयुधों की आहुति स्वीकार करने से प्रतियाग दश आहुति अधिक होजाती हैं, परन्तु अधिक का कथन न करके केवल पुरोडाश सम्बन्धी आहुतियों की संख्या कथन की है, इससे स्पष्ट है कि उक्त यज्ञायुधों का हवन नहीं किया जाता किन्तु उनसे स्व स्व कार्य्य ही किया जाता है, या यों कहोकि यज्ञायुधों का विधान अपने कार्य्य के लिये है हवन के लिये नहीं।

सं०-अब याग में देय पशु गत "एकत्व" आदि संख्या की विवक्षा कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् । ११ ।

पद०-तत्र । एकत्वम् । अयज्ञाङ्गम् । अर्थस्य । गुणभूतत्वात् ।

पदा०-(तत्र) दानार्ह पशुओं में (एकत्वं) श्रूयमाण एकत्वादि संख्या (अयज्ञाङ्गं) याग का अङ्ग नहीं, क्योंकि (अर्थस्य) वह उक्त पशुओं का (गुणभूतत्वात्) विशेषण होने से गौण है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में जो "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" वाक्य से पशु का दान विधान किया है उसमें श्रूयमाण एकत्व संख्या अविवक्षित है किंवा विवक्षित अर्थात् "पशु" पदोत्तर वर्ती एक वचन से प्राप्त एकत्व संख्या की विवक्षा न करके अनेक पशुओं का दान अभिप्रेत है अथवा उसकी विवक्षा करके एक ही पशु का दान ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय-पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में जो दानार्थक "आलभेत" क्रिया पद है उसके साथ कर्म कारक "पशु" मात्र का सम्बन्ध है पशुपदोत्तरवर्ती एकवचन के वाच्य एकत्वसंख्या का नहीं, क्योंकि वह पशु का विशेषण होने से गौण है, अर्थात् "पशुम्" पद में प्रकृति तथा प्रत्यय दो अंश हैं इनमें पशुरूप प्रकृति अंशका अर्थ पशुरूप द्रव्य तथा "अम्" रूप प्रत्यय अंशका अर्थ एकत्वसंख्या है, परन्तु पशु और एकत्वसंख्या दोनों के मध्य पशुका "आलभेत" पदवाच्य क्रिया के साथ सम्बन्ध होसक्ता है एकत्वसंख्या का नहीं, क्योंकि पशु द्रव्य तथा संख्या गुण है और द्रव्य क्रिया का सम्बन्ध संभव होने पर भी गुण क्रिया का सम्बन्ध संभव नहीं, और जिसका क्रिया के साथ सम्बन्ध ही संभव नहीं उसकी विवक्षा माननी भी उचित नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में पशु का दान विधान किया

है संख्या का नहीं, और वह पशु एक हो अथवा अनेक तो भी उक्त वाक्य उपपन्न होसक्ता है, इसलिये "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" वाक्य में जो पशु का दान विधान किया है उसमें एकत्वसंख्या विवक्षित नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

एकश्रुतित्वाच्च ।१२।

पद०-एकश्रुतित्वात् । च ।

पदा०-(च) और (एकश्रुतित्वात्) एकत्वसंख्या का श्रवण पायजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—"एकां गां दक्षिणां दद्यात्तेभ्य एव"=जिन ऋत्विजों से याग कराया गया है, उन्हीं को एक गौ दक्षिण में दे, इस वाक्य में जो देय गौ के वाची द्वितीयाविभक्ति एकवचनान्त "गां" पद के साथ एकत्वसंख्या के वाची "एकां" पद का प्रयोग किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में हेतु है, यदि "पशु" पद में "अम्" प्रत्यय का अर्थ एकत्वसंख्या विवक्षित होती तो "गां" पद में भी वह होसक्ती थी, क्योंकि "पशुं" पद तथा "गां" पद दोनो समान हैं, और विवक्षित होसकने से पुनः उसके बोधनार्थ "एकां" पद के उपादान की कोई आवश्यकता न थी, उपादान तथा ग्रहण यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, परन्तु उपादान किया है इस से सिद्ध है कि "गां" पद में "अम्" प्रत्यय का अर्थ एकत्वसंख्या विवक्षित नहीं और "गां" पद में विवक्षित न होने से "पशुं" पद में भी वह विवक्षित नहीं होसक्ती।

तात्पर्य्य यह है कि वाञ्छित अर्थ के लाभार्थ ही "विशेष्य" पद के साथ "विशेषण" पद का प्रयोग किया जाता है यदि

वाञ्छितार्थ का विशेष्य पद मे ही लाभ होजाय तो विशेषण के उपादान की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु उक्त वाक्य में "गां" विशेष्य पद के साथ "एकां" विशेषण पद का उपादान किया है इससे स्पष्ट है कि "गां" पद से एक गौ रूप वाञ्छित अर्थ का लाभ नहीं होसक्ता, और जैसे "गां" पद से उक्त अर्थ का लाभ नहीं होसक्ता वैसेही "पशुं" पद से भी उसका लाभ नहीं होसक्ता, क्योंकि वह दोनों समान हैं।

सार यह निकला कि जैसे दक्षिणा में देय गौ रूप अर्थ के वाची "गां" पद उत्तरवर्ती "अम्" प्रत्यय का अर्थ एकत्व-संख्या विवक्षित नहीं वैसेही "पशुं" पद में भी विवक्षित नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष में आशङ्का करते हैं:—

प्रतीयत इतिचेत्। १३।

पद०—प्रतीयते। इति। चेत्।

पदा०—(प्रतीयते) कचित् एक वचनान्त पद से एकत्व संख्या की प्रतीति भी होती है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है।

भाष्य—एक वचनान्त पद से एकत्व संख्या की प्रतीति नहीं होती यह नियम नहीं, क्योंकि "गामानय" इत्यादि लौकिक वाक्यों में इसका व्यभिचार स्पष्ट है अर्थात् जब गुरु शिष्य को आज्ञा देता है कि "भो गामानय"=हे शिष्य गौ को ला, तो वह गुरु की आज्ञा पाते ही एक गौ ले आता है यदि "गां" पद उत्तरवर्ती एक वचन "अम्" प्रत्यय का अर्थ एकत्व संख्या सर्वत्र अविवक्षित होती, या यों कहो

कि उसकी प्रतीति न होती तो वह शिष्य कदापि एक गौ न लाता किन्तु दो चार ले आता, आज्ञा पाते ही उसके एक गौ ले आने से सिद्ध है कि कहीं प्रत्यय से भी संख्या का लाभ होता है सर्वत्र उसके अलाभ का नियम नहीं, और जो "एकां गां" वाक्य में एक वचनान्त "गां" पद के साथ एकत्व संख्या के वाची "एकां" विशेषण पद का उपादान किया है वह प्रत्ययार्थ की स्पष्टता के अभिप्राय से किया है उसका यह भाव कदापि नहीं कि प्रत्यय का वाच्य संख्या कहीं भी विवक्षित नहीं होती।

तात्पर्य्य यह है कि जब लोक में देखा जाता है कि एक वचनान्त शब्द का प्रयोग करने से एक ही पदार्थ का बोध होता है अनेक का नहीं तब यह कल्पना कैसे प्रमाणित मानी जाय कि शास्त्र में उसका बोध नहीं होता, प्रत्युत ऐसा ही मानना उचित है कि जैसे लोक में प्रत्ययांश से संख्या का बोध होता है वैसेही शास्त्र में भी होता है, इसलिये सिद्ध हुआ कि "पशुं" पद में "अम्" प्रत्यय का अर्थ एकत्व संख्या याग का अङ्ग विवक्षित है अविवक्षित नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

नाशब्दं तत्प्रमाणत्वात्पूर्ववत्। १४।

पद०—न। अशब्दं। तत्प्रमाणत्वात्। पूर्ववत्।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (पूर्ववत्) "पूर्वो धावति"=प्रथम दौड़ता है, ऐसा कहने से जैसे द्वितीय तृतीय का आर्थिक बोध होता है वैसेही (तत्प्रमाणत्वात्) प्रमाणीभूत वाक्य के श्रवण से जो एकत्व संख्या का बोध होता है वह भी (अशब्दं) आर्थिक होता है शाब्द नहीं।

भाष्य-"गामानय" इत्यादि वाक्यों से जो गौ वृत्ति एकत्व संख्या का बोध होता है वह आर्थिक है शाब्द नहीं अर्थात् जैसे "पूर्वोधावति"=प्रथम विद्यार्थी दौड़ता है,इस वाक्य में द्वितीय तृतीय आदि विद्यार्थियों का न दौड़ना अर्थ से पाया जाता है वैसे ही "गामानय" इस वाक्य में जो आनयन क्रिया के कर्म गौ रूप अर्थ के साथ एकत्व संख्या का बोध होता है वह भी शाब्द नहीं किन्तु आर्थिक है, अर्थजन्य, अर्थ से प्राप्त तथा आर्थिक यह तीनों और शब्दजन्य तथा शाब्द यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और उक्त लौकिक वाक्य में गौ वृत्ति एकत्व संख्या का आर्थिक बोध होने के कारण क्रिया में अन्वय होना भी असम्भव है, क्योंकि वाक्यार्थ-बोध में शब्दानुपस्थित अर्थ का भान नहीं होता, या यों कहोकि शाब्दबोधमें उन्हीं अर्थोंका परस्पर सम्बन्ध होकर भान होता है जिनकी प्रतीति अर्थ से नहीं होती किन्तु शब्द से होती है यह नियम है और इस नियम के अनुसार अर्थ से उपस्थित हुई एकत्व संख्या क्रिया में अन्वित न होने के कारण विवक्षित नहीं होसक्ती और उसके विवक्षित न होने से उक्तयाग में एक पशु का दान भी सिद्ध नहीं होसक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि यदि उक्त लौकिक वाक्य के अनुसार "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" में पशुगत एकत्वसंख्या का भान आर्थिक मानें तो भी वह "आलभेत" क्रिया में अन्वित न होने के कारण विवक्षित नहीं होसक्ती, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य द्वारा दान के लिये विधान किये गये पशु में एकत्वसंख्या अङ्ग रूप से विवक्षित नहीं और उसके विवक्षित न होने से उक्त याग में एक पशु के दान का नियम भी नहीं होसक्ता ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तद् दृश्यते तस्य ज्ञानं यथाऽन्येषाम् ॥ १५ ॥

पद०—शब्दवत् । तु । उपलभ्यते । तदागमे । हि । तत् । दृश्यते । तस्य । ज्ञानं । यथा । अन्येषाम् ।

पदा०—"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (शब्दवत्) पशुगत एकत्वसंख्या शाब्द (उपलभ्यते) प्रतीत होती है (हि) क्योंकि (तदागमे) "पशु" प्रातिपदिकोत्तरवर्त्ती "अम्" प्रत्यय में (तत्) वह (दृश्यते) वाच्यरूप से विद्यमान है (तस्य) और उसका (ज्ञानं) ज्ञान (अन्येषां) पशु आदि पदार्थों के समान होना उचित है ।

भाष्य—जैसे "पशुम्" पद में प्रकृति भूत "पशु" प्रातिपदिक का अर्थ "पशु" शाब्द है वैसे ही "अम्" प्रत्यय का अर्थ होने से एकत्वसंख्या भी शाब्द है और जो शाब्द है उसका शाब्दबोध में भान होना आवश्यक है, शाब्दबोध तथा वाक्यार्थज्ञान यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, यह कभी नहीं होसक्ता कि शब्द से उपस्थित हुआ पदार्थ शाब्दबोध में प्रतीत न हो, और जो शाब्दबोध में प्रतीत होता है उसका साक्षात् किंवा परम्परया क्रिया के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है, क्योंकि वाक्यार्थबोध में जितने पदार्थों का भान होता है वह क्रियान्वयद्वारा ही होता है यह नियम है और गुण होने के कारण यद्यपि एकत्वसंख्या का "आलभेत" क्रिया में अन्वय नहीं होसक्ता तथापि पशु द्वारा सम्बन्ध होना संभव है अर्थात् जिस पशु का दान किया जाता है वह एक होना

चाहिये इस प्रकार सम्बन्ध होसक्ता है और जिसका क्रिया के साथ सम्बन्ध होसक्ता है उसकी अविवक्षा माननी ठीक नहीं, और यह किसी विज्ञ पुरुष से अविदित नहीं कि प्रत्यय-कारक तथा संख्या दोनों अर्थों में होता है, यदि उनके मध्य "कारक" की विवक्षा तथा संख्या की अविवक्षा कल्पना की जाय तो वह किसी प्रकार से भी सङ्गत नहीं होसक्ती और बिना प्रयोजन "अर्द्धजरती" न्याय का अनुसरण भी प्रशंसनीय नहीं है।

तात्पर्य्य यह है कि "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने"=प्रकृति भूत पदार्थ में एकत्व तथा द्वित्व संख्याकी विवक्षा होने पर एकवचन तथा द्विवचन प्रत्यय होते हैं, "कर्मणि द्वितीया"=कर्म कारकमें द्वितीया विभक्ति होती है, इत्यादि सूत्रों से कर्मादि कारक तथा "एकत्व" आदि संख्या अर्थ में "अम्" आदि प्रत्यय विधान किये गये हैं और जो जिस अर्थ में विधान किये गये हैं उनसे उस अर्थ का बोध होना आवश्यक है, क्योंकि बोध के न होने से उनका उस अर्थ में विधान व्यर्थ होजाता है, और जिसका "प्रत्यय" रूप शब्द से बोध होता है उसकी वाक्यार्थ में अविवक्षा किसी प्रकार भी युक्त नहीं होसक्ती, और इसमें सब विद्वान् सहमत हैं कि जिस प्रकृति से जो प्रत्यय विधान किया गया है वह अविवक्षित अर्थ में विधान नहीं किया गया, हां ऐसी अवस्था में अविवक्षा भी अवश्य कल्पना की जासक्ती है जहां किसी प्रबल प्रमान के साथ विरोध होता है जैसाकि मी० ३।१।१३। के "ग्रहैकत्वाविवक्षाधिकरण" में निरूपण किया गया है, परन्तु प्रकृत में किसी प्रबल प्रमाण के साथ विरोध नहीं है प्रत्युत प्रथमोपस्थित एकत्वसंख्या का परित्याग करने में "उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभवाः"

के साथ सुतरां विरोध होता है, और एकत्व संख्याकी अविवक्षा मानने में लोक सङ्ग्रह भी नहीं होसक्ता, क्योंकि उसकी अविवक्षा मानने में अधिकपशुओं के दानार्थ ऋत्विजों का प्रत्येक यजमान से आग्रह करना संभव है जिस का अन्तिम परिणाम ठीक नहीं, और जिस की अविवक्षा मानने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता और न्यायविरोध तथा लोकविरोध स्पष्ट है उसकी अविवक्षा कैसे उचित होसक्ती है, और अनुचित का स्वीकार सर्वथा गर्हित तथा अश्रद्धेय है, इसलिये सिद्ध है कि "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" में जिस पशु का दान विधान किया गया है उस में एकत्वसंख्या विवक्षित है अविवक्षित नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं :-

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ १६ ॥

पद०-तद्वत् । च । लिङ्गदर्शनम् ।

पदा०-(च) और (तद्वत्) जैसा पीछे निरूपण किया गया है वैसा ही (लिङ्गदर्शनं) उक्त अर्थ का साधक लिङ्ग भी पाया जाता है।

भाष्य-"कर्णा याम्याः, अवलिप्ता रौद्राः, नभोरूपाः पार्जन्याः, तेषामैन्द्राग्नो दशमो भवति"=सब के नियन्ता परमात्मा के उद्देश से सुन्दर कानों वाली, सम्पूर्ण पापियों को दण्ड देने वाले परमात्मा के उद्देश से केसर के सदृश रूप वाली तथा सब प्रजा में समान रूप से स्व २ कर्म के अनुसार ऐश्वर्य्य का सेचन करने वाले परमात्मा के उद्देश से आकाश के सदृश रूपवाली गौओं का और इनके मध्य दशवां सांड सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न तथा प्रकाश स्वरूप परमात्मा के उद्देश से दान करे, इस वाक्य में

जो "करणाः" आदि का बहुवचन से निर्देश करके सांड को दशवां कथन किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि "करणाः" आदि प्रातिपदिक के उत्तरवर्ती बहुवचन रूप "अम्" प्रत्यय का वाच्य त्रित्व संख्या विवक्षित न होती तो "ऐन्द्राग्न" सांड को दशवां कथन न किया जाता परन्तु कथन किया है, इससे स्पष्ट है कि उक्त वाक्य में जो पशुवाची "कर्णा,ःअवलिप्ताः, तथा नभोरूपाः" बहुवचनान्त पद प्रयुक्त हुए हैं उनमें प्रत्ययार्थ त्रित्वसंख्या विवक्षित है, क्योंकि उसके विवक्षित होने से ही तीन त्रिक की नौ संख्या होती है और उनके नौ होने से ही दशवां सांड होसक्ता है अन्यथा नहीं, जैसे उक्त वाक्य में प्रत्ययार्थ त्रित्वसंख्या विवक्षित है वैसेही "पशुम्" पद में प्रत्ययार्थ एकत्व संख्या भी विवक्षित है।

सम्पूर्ण अधिकरण का सार यह निकला कि "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" वाक्य में जो प्रकाश तथा सोमस्वरूप परमात्मा के उद्देश से पशु का दान विधान किया है वह एक पशु का किया है अनेक का नहीं।

जैसे उक्त वाक्य से विहित पशु में एकत्व संख्या विवक्षित है वैसे ही सर्वत्र देय पशुओं में श्रूयमाण संख्या भी विवक्षित ही जाननी चाहिये।

सं०-अब संख्या की भांति लिङ्ग की विवक्षा कथन करते हैं :-

तथाच लिङ्गम् । १७ ।

पद०-तथा । च । लिङ्गम् ।

पदा०-(च) और (तथा) जैसे संख्या विवक्षित है वैसे ही (लिङ्ग) लिङ्ग भी विवक्षित है-

भाष्य-**वसन्ते प्रातराग्नेयीं कृष्णग्रीवामालभेत, ग्रीष्मे मध्यन्दिने सिंहिमैन्द्रीं, शरदि अपराह्ने श्वेतां बार्हस्पत्याम्** "=वसन्तऋतु में प्रातःकाल प्रकाश स्वरूप परमात्मा के उद्देश से काली गर्दन वाली, ग्रीष्मऋतु में बारा बजे के भीतर परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा के उद्देश से सिंहसदृश तथा शरदृऋतु में तीसर पहर विद्याधिपति परमात्मा के उद्देश से शुक्ल वर्ण वाली गौ का दान करे, इत्यादि वाक्यों में जो स्त्री लिङ्ग शब्द से गौओं का दान विधान किया है उनमें संख्या की भांति लिङ्ग विवक्षित है किंवा नहीं अर्थात् उक्त वाक्य में गौओं का दान विधान किया है अथवा बैलों का? यह सन्देह हैं, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि जैसे शास्त्र में प्रत्ययार्थ संख्या विवक्षित है वैसे ही लिङ्ग भी विवक्षित है, क्योंकि ऐसा न होने से सर्वत्र अनाश्वास होजाता है और शास्त्रोक्त अर्थ में विश्वास न होना महापाप का जनक है जिस से भावी अनिष्ट होना संभव है सो ठीक नहीं, इस लिये उक्त वाक्य में गौओं का दान विधान किया है बैलों का नहीं।

तात्पर्य्य यह हैं कि जैसे प्रत्ययार्थ संख्या विवक्षित है वैसे ही प्रकृति भूत प्रातिपदिक गत लिङ्ग भी विवक्षित है क्योंकि प्रत्ययार्थ समान होने पर भी एक में विवक्षा तथा दूसरे में अविवक्षा मानने से अर्द्धजाती का अनुसरण करना पड़ता है सो उचित नहीं, इस लिये संख्या की भांति लिङ्ग भी विवक्षित है यही निश्चेतव्य हैं।

सं०-अब "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों को अदृष्टार्थता कथन करते हैं:-

आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत । १८ ।

पद०–आश्रयिषु । अविशेषेण । भावः । अर्थः । प्रतीयेत ।

पदा०–आश्रयिषु = "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों में (भावः) भावि सुख की जनक (अर्थः) अदृष्टार्थता (प्रतीयेत) जाननी चाहिये, क्योंकि (अविशेषेण) वह भी याग के समान कर्म हैं :–

भाष्य–प्रधान आहुतियों के अनन्तर जो शेषहविः के संस्कारार्थ "स्विष्टकृत्" आदि कर्म किये जाते हैं उनका नाम "आश्रयि कर्म" है, क्योंकि वह अन्यत्र उपयुक्त हविः के संस्कारार्थ आश्रयण किये गये हैं, या यों कहोकि जिस हविः से प्रधान कर्म किये गये हैं उसके संस्कारार्थ जो शेषहविः से "स्विष्टकृत्" आदि होम रूप कर्म किये जाते हैं उनको "आश्रयिणः" कहते हैं, उक्त कर्म केवल शेषहविः के संस्कारार्थ ही हैं किंवा अदृष्टार्थ भी अर्थात् उक्त कर्म केवल शेषहविः के संस्कारार्थ ही किये जाते हैं अथवा भावि फल के जनक अदृष्ट के लिये? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि उक्त कर्म उपयुक्त हविः के संस्कारार्थ ही किये जाते हैं तथापि अंशभेद के कारण उनसे भावि फल के जनक अदृष्ट का होना भी सम्भव है, उक्त कर्मों में मन्त्रपाठ, आहवनीय अग्नि के साथ हविः द्रव्य का संयोग तथा परमात्मा के उद्देश से उसका त्याग, यह तीन अंश हैं, इनके मध्य प्रथम तथा द्वितीय अंश संस्कारार्थ होने पर भी तृतीय अंश को संस्कारार्थ नहीं कह सके

क्योंकि देवता के उद्देश से हविःत्याग को अदृष्टार्थता का नियम है अर्थात् जिस कर्म में परमात्मा रूप देवता के उद्देश से द्रव्य का त्याग किया जाता है या यों कहोकि परमात्मा के उद्देश से वैदिक अग्नि में किंवा किसी योग्य पुरुष को दिया जाता है उसको प्रधान कर्म कहते हैं, और जो प्रधान कर्म होता है वह भावी फल का जनक होने से "दर्शपूर्णमास" आदि प्रधान कर्म की भांति अदृष्टार्थ अवश्य होता है, " स्विष्टकृत् " आदि कर्मों के मध्य भी एक अंश में परमात्मा रूप देवता के उद्देश से हविः रूप द्रव्य का त्याग किया जाता है, इससे सिद्ध है कि सम्पूर्ण रूप से उक्त कर्म अदृष्टार्थ न होने पर भी अंश द्वारा अदृष्टार्थ अवश्य है।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि "शेषात् स्विष्टकृते समवद्यति" इत्यादि वाक्यों में " स्विष्टकृत् " आदि कर्म उपयुक्त शेषहविः के संस्कारार्थ विधान किये गये हैं तथापि उनमें संस्कारकर्मता के अतिरिक्त आंशिक प्रधानकर्मता भी विद्यमान है, क्योंकि उनमें मन्त्र पाठ तथा आहुति रूप द्रव्य प्रक्षेप के अतिरिक्त परमात्मा रूप देवता के उद्देश से उक्त द्रव्य का त्याग भी किया जाता है और जो प्रधान कर्म है उसका अदृष्टार्थ होना आवश्यक है, इसलिये उक्त कर्म केवल संस्कारार्थ ही नहीं किन्तु अदृष्टार्थ भी है।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

चोदनायान्त्वनारम्भोऽविभक्तत्वान्नह्यन्येन विधीयते । १९ ।

पद०—चोदनायां । तु । अनारम्भः । अविभक्तत्वात् । नहि) अन्येन । विधीयते ।

पदा०-"तु" शब्द शङ्का के लिये आया है (चोदनायां) शेषहविः से विधान किये गये "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों में (अनारभ्य:) आंशिक अदृष्टार्थता नहीं होसक्ती, क्योंकि (अविभक्तत्वात्) वह अभिन्न कर्म हैं और (अन्येन) अन्य किसी वाक्य से (नहि) विधीयते) उनकी अदृष्टार्थता का विधान नहीं पाया जाता।

भाष्य-"शेषात्स्विष्टकृते समवद्यति" इत्यादि वाक्यों से प्रधान आहुतियों के अनन्तर शेष बची हवियों द्वारा "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों की कर्तव्यता विधान कीगई है उनसे उनका आंशिक भेद प्रतीत नहीं होता प्रत्युत अभेद प्रतीत होता है, यदि उक्त वाक्यों से उनका आंशिक भेद प्रतीत होता अथवा किसी अन्य वाक्य से प्रधान कर्म की भांति स्वतन्त्रता पूर्वक विधान उपलब्ध होता तो अवश्यमेव वह संस्कारार्थ होने पर भी अदृष्टार्थ कल्पना किये जाते, परन्तु जैसे उनका प्रधान कर्म की भांति स्वतन्त्रता पूर्वक किसी अन्य वाक्य द्वारा विधान उपलब्ध नहीं होता वैसे ही उक्त विधायक वाक्यों से उनका आंशिक भेद भी प्रतीत नहीं होता अर्थात् जिन कर्मों का प्रयोजन भिन्न२ है उनकी संज्ञा एक नहीं होसक्ती परन्तु प्रकृत में "स्विष्टकृत्" संज्ञा एक है, इससे स्पष्ट है कि वह एक कर्म है अनेक नहीं और जो एक कर्म है उसको संस्कारार्थ तथा अदृष्टार्थ नहीं कह सक्ते, क्योंकि एक को उभयार्थता का विरोध है।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि "स्विष्टकृत्" कर्म में तीन अंश हैं तथापि उक्त वाक्य से वह एक ही कर्म सिद्ध होता है और एक कर्म के दो प्रयोजन बिना किसी प्रबल प्रमाण के मानने युक्त नहीं, इसलिये "स्विष्टकृत्" आदि कर्म संस्कारार्थ ही हैं अदृष्टार्थ नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोऽर्थे च गुणभूतताऽऽश्रयाद्धि गुणीभावः । २० ।

पद०—स्यात् । वा । द्रव्यचिकीर्षायां । भावः । अर्थे । च । गुणभूतता । आश्रयात् । हि । गुणीभावः ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त आशङ्का के निराकरणार्थ आया है (द्रव्यचिकीर्षायां) उपयुक्त हविः के संस्कारार्थ होने पर भी (अर्थे) "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों में (भावः) अदृष्टार्थता (च) और (गुणभूतता) संस्कारार्थता दोनों प्रकार (स्यात्) होसक्ते हैं (हि) क्योंकि (गुणीभावः) संस्कारार्थता तथा अदृष्टार्थता (आश्रयात्) उद्देश के अधीन है ।

भाष्य—यद्यपि "स्विष्टकृत्" आदि के विधायक वाक्यों से उक्त कर्मों का अभेद पाया जाता है तथापि उनमें आंशिक भेद होना सम्भव है क्योंकि उसके प्रयोजक मन्त्रोच्चारण, द्रव्यप्रक्षेप आदि अनेक अंश पाये जाते हैं, और यह लोक तथा शास्त्र सिद्ध बात है कि समस्त रूप से कर्म एक होने पर भी अंश भेद से भिन्न होसक्ता है जैसा कि गुरुकुल के ब्रह्मचारियों से पूच्छा जाय कि आप क्या कर्म करते हैं तो आप उत्तर देते हैं "अध्ययन" करते हैं परन्तु विचार पूर्वक देखा जाय तो समस्त रूप से वह एक कर्म होने पर भी अंश भेद से भिन्न है, क्योंकि उसके भीतर उसके अनेक अंश विद्यमान हैं, "दर्शपूर्णमास" संज्ञक शास्त्रीय कर्म भी समस्त रूप से एक होने पर भी अंश भेद से अनेक कर्म स्पष्ट है

क्योंकि उसमें भी अवान्तर भेद अनेक हैं, और जो बात लोक तथा शास्त्र उभय सिद्ध है उसके स्वीकार में कोई दोष नहीं होसक्ता और "स्विष्टकृत" कर्म में अंशों के भिन्न होने से आंशिक भेद स्फुट है, यह प्रत्येक विद्वान् जान सक्ता है कि मन्त्रोच्चारण, द्रव्याग्निसंयोग इन दोनों अंशों को संस्कारार्थ होने पर भी परमात्मा के उद्देश से हविःत्याग रूप तृतीय अंश संस्कारार्थ नहीं होसक्ती, क्योंकि संस्कार कर्म परमात्मा के उद्देश से नहीं किया जाता किन्तु याग सम्बन्धी किसी द्रव्य विशेष के उद्देश से किया जाता है और उक्त तृतीयांश-परमात्मा के उद्देश से की जाती है, इसलिये सिद्ध है कि "स्विष्टकृत" आदि कर्म संस्कारार्थ ही नहीं किन्तु अदृष्टार्थ भी हैं।

सं०—अब द्रव्य तथा कर्म सम्बन्धी प्रयोजनांश में समता तथा विषमता निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं:—

अर्थे समवैषम्यमतो द्रव्यकर्मणाम् । २१ ।

पद०—अर्थे । समवैषम्यम् । अतः । द्रव्यकर्मणाम् ।

पदा०—(अतः) इससे आगे (द्रव्यकर्मणां) द्रव्य तथा कर्म दोनों की (अर्थे) प्रयोजन अंश में (समवैषम्यं) समता तथा विषमता निरूपण कीजातीं है ।

भाष्य—प्रयोजन तथा फल यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, कौन द्रव्य तथा कर्म-फल अंश में सम तथा विषम है इसका निरूपण आगे किया जाता है अर्थात् शेषशेषिभाव का निरूपण किया गया अब उसके अनुष्ठान रूप फल में द्रव्य तथा कर्म की समता और विषमता निरूपन की जाती है ।

तात्पर्य्य यह है कि कौन किसका प्रयोजक है इसका अब स्पष्ट रूप से निरूपण किया जाता है, यही प्रतिज्ञात अर्थ है, प्रयोजक तथा अनुष्ठापक और अनुष्ठान का निमित्त यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं।

सं०–अब "आमिक्षा" द्रव्य को "दधिप्रक्षेप" रूप कर्म का प्रयोजक कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् । २२ ।

पद०–एकनिष्पत्तेः । सर्वं । समं । स्यात् ।

पदा०–(सर्वं) आमिक्षा तथा वाजिन यह दोनों (समं) समान रूप से दधिप्रक्षेप के प्रयोजक हैं, क्योंकि (एकनिष्पत्तेः) एक बार दधिप्रक्षेप से ही उनकी निष्पत्ती होती है।

भाष्य–"चातुर्मास्य" याग के "वैश्वदेव" पर्व में "तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्"=तप्त दुग्ध=गरमदूध में दधि के प्रक्षेप=डालने से जो आमिक्षा=फुटकी दूध होजाता है वह विश्वेदेवों के लिये तथा शेष पानी रूप वाजिन वाजियों के लिये है, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें जो तप्त दुग्ध में आतञ्चन रूप दधि का प्रक्षेप=डालना कथन किया है उसका प्रयोजक आमिक्षा तथा वाजिन दोनों द्रव्य हैं किंवा आमिक्षा मात्र है? यह सन्देह है, इस में प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि दधि के प्रक्षेप से आमिक्षा तथा वाजिन दोनों सिद्ध होते हैं अर्थात् दधि का प्रक्षेप जैसे आमिक्षा के लिये आवश्यक है वैसे ही वाजिन के लिये भी

आवश्यक है, क्योंकि तप्त दुग्ध में दधि प्रक्षेप के विना जैसे आमिक्षा सिद्ध नहीं होसक्ती वैसे ही वाजिन भी सिद्ध नहीं होसक्ता इसलिये वह अपनी सिद्धि के लिये उसके प्रयोजक होसक्ते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे अपनी सिद्धि के लिये दधिप्रक्षेप का निमित्त आमिक्षा द्रव्य है वैसे ही वाजिन भी उसका निमित्त है, निमित्त की समानता होने से प्रयोज्य-प्रयोजकभाव का समान होना भी उचित है, इसलिये तप्त दुग्ध में जो दधि का प्रक्षेप किया जाता है उसका प्रयोजक केवल आमिक्षा नहीं किन्तु आमिक्षा तथा वाजिन दोनों हैं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

संसर्गरसानिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात्। २३।

पद०-संसर्गरसनिष्पत्तेः। आमिक्षा। वा। प्रधानं। स्यात्।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (आमिक्षा) वाजिन तथा आमिक्षा दोनों के मध्य आमिक्षा ही (प्रधानं) दधि प्रक्षेप का प्रयोजक है, क्योंकि (संसर्गरसनिष्पत्तेः) दधि के सम्बन्ध से उसी की प्रथम निष्पत्ति होती है।

भाष्य-यद्यपि एक ही बार के दधिप्रक्षेप से आमिक्षा तथा

वाजिन दोनों निष्पन्न होते हैं तथापि उक्त दोनों के मध्य आमिक्षा ही दधिप्रक्षेप का प्रयोजक होसक्ती है वाजिन नहीं, क्योंकि आमिक्षा प्रधान तथा वाजिन गौण है, और प्रधान तथा गौण दोनों के मध्य प्रधान में ही प्रयोजकता रूप कार्य्य का सम्बन्ध होना युक्त है गौण में नहीं अर्थात् दुग्ध की घनीभाव अवस्था विशेष का नाम ही आमिक्षा है और वह अवस्था विशेष तावत्पर्य्यन्त निष्पन्न नहीं होती यावत्पर्य्यन्त तप्त दुग्ध में दधि का प्रक्षेप न किया जाय यह सर्वानुभव सिद्ध है, और दधि के प्रक्षेप से जब आमिक्षा निष्पन्न होजाती है तब वाजिन स्वयमेव निष्पन्न होजाता है उसकी निष्पत्ति के लिये कोई व्यापार विशेष करना नहीं पड़ता, इससे स्पष्ट है कि दधिप्रक्षेप रूप प्रयत्न से साध्य केवल आमिक्षा और वाजिन उसका अनुनिष्पादी=पीच्छे स्वयमेव होने वाला है, और जो जिसका अनुनिष्पादी है वह उसका गुणभूत तथा दूसरा प्रधानभूत है और गुणभूत तथा प्रधानभूत दोनों के मध्य प्रधान भूत ही प्रयोजक होता है गुणभूत नहीं यह नियम है।

तात्पर्य्य यह है कि तप्त दुग्ध में दधि का प्रक्षेप आमिक्षा-सिद्धि के अभिप्राय से ही किया जाता है वाजिनसिद्धि के अभि-प्राय से नहीं, और जिसकी सिद्धि के अभिप्राय से दधि का प्रक्षेप ही नहीं किया गया वह उसके प्रक्षेप का निमित्त कदापि नहीं होसक्ता और जो जिसका निमित्त नहीं होसक्ता उसकी कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि आमिक्षा तथा वाजिन दोनों के मध्य आमिक्षा ही दधि के प्रक्षेप का निमित्त है वाजिन नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :-

मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च । २४ ।

पद०-मुख्यशब्दाभिसंस्तवात् । च ।

पदा०-(च) और (मुख्यशब्दाभिसंस्तवात्) मुख्यार्थ के परामर्शी सर्वनाम शब्द द्वारा आमिक्षा को विश्वेदेवार्थता कथन करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-मुख्यार्थ का परामर्शी=ग्राहक सर्वनाम शब्द सर्व-सम्मत है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, "तप्ते पयसि" वाक्य में दधिप्रक्षेप का विधान करके पश्चात् आमिक्षारूपता को प्राप्त पय=दुग्ध का "सा" इस सर्वनाम "तद्" शब्द से परामर्श करके विश्वेदेवों के लिये होना कथन किया है, यदि आमिक्षा प्रधान न होती तो उक्त सर्वनाम शब्द से परामर्श करके उसको विश्वेदेवार्थता कथन न कीजाती, क्योंकि प्रधान होने के बिना सर्वनाम उसका परामर्श नहीं कर सक्ता, उसका परामर्श करने से सिद्ध है कि आमिक्षा प्रधान तथा वाजिन अप्रधान द्रव्य है, और प्रधान तथा अप्रधान दोनों के मध्य प्रधान को ही दधिप्रक्षेप का निमित्त मानना उचित है अप्रधान को नहीं, इसलिये आमिक्षा तथा वाजिन दोनों के मध्य आमिक्षा ही तप्त पय में दधिप्रक्षेप का निमित्त है वाजिन नहीं, पय, दुग्ध, क्षीर तथा दूध यह चारों पर्य्याय शब्द हैं ।

सं०-अब "पदकर्म" को "गौ के नयन" का अप्रयोजक कथन करते हैं :-

पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ।२५।

पद०-पदकर्म । अप्रयोजकं । नयनस्य । परार्थत्वात् ।

पदा०—(पदकर्म) पदकर्म (नयनस्य) गौनयन का (अप्रयोजकं) प्रयोजक नहीं, क्योंकि (परार्थत्वात्) वह गौण है ।

भाष्य—"ज्योतिष्टोम" याग के अन्तर्गत "सोम" मूल्य लेने के प्रकरण में "अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति"= लाल रङ्ग तथा पीले नेत्रों वाली एक वर्ष की गौ से सोम मूल्य ले, इस वाक्य से सोम का मूल्य लेना विधान करके पश्चात् उसके मूल्यार्थ जिन "हविर्धान" नामक शकटों पर सोम बेचने के लिये रखा हुआ है उनके समीप यज्ञभूमि से गौ के नयन = लेजाते समय "षट् पदान्यनुनिष्क्रामति सप्तमं पदमध्वर्युरञ्जलिना गृह्णाति"= अध्वर्यु छः पद = कदम उसके पीछे जाये और सातवें पद की रज लेकर सोमशकटों के अक्ष में डाले, इस वाक्य में जो सातवें पद की धूड़ी उठाकर उक्त दोनों शकटों के अक्ष में डालना रूप "पदकर्म" = सप्तम पद में कर्तव्य कर्म विधान किया है वह "गौनयन" का प्रयोजक है किंवा नहीं अर्थात् यागभूमि से सोम भरे शकटों के समीप जो गौ लाई जाती है उसका अनुष्ठापक सोमक्रय = सोम का खरीदना है अथवा उक्त "पदकर्म" है, या यों कहोकि उक्त शकटों के समीप गौ का नयन = लेजाना सोम मूल्य लेने के लिये है यद्वा "पदकर्म" के लिये है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि सोम मूल्य लेने के उद्देश से सोमभरे शकटों के समीप गौ का नयन होता है "पदकर्म" के उद्देश से नहीं, यदि "पदकर्म" के उद्देश से होता तो अवश्यमेव उक्त कर्म उसका प्रयोजक होसक्ता क्योंकि जिस के उद्देश से जिसका विधान होता है वह उसका प्रयोजक होता है यह नियम है, और "गवा सोमं क्रीणाति"=

गौ से सोम मूल्यले, इत्यादि विधिवाक्यों में सोमक्रय के उद्देश से गौं का विधान स्पष्ट है और जिस के उद्देश से जिसका विधान स्पष्ट है उसके समीप उसका नयन होना भी उचित है और उसके होने से मध्य में होने वाला पदकर्म उस के नयन का प्रयोजक नहीं होसक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि उद्देश का विषय होने से "सोमक्रय" मुख्य कर्म तथा आनुषङ्गिक होने से "पदकर्म" गौण कर्म है और मुख्य तथा गौण दोनों के उपस्थित होने पर मुख्य को छोड़कर गौण को "गौनयन" का प्रयोजक नहीं मान सक्के, क्योंकि "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसम्प्रत्ययः"=गौण तथा मुख्य दोनों के मध्य मुख्य में ही कार्य्य के सम्बन्ध का नियम है गौण में नहीं, और जिस के सम्बन्ध का जिस में नियम है उसका परित्याग उचित नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "गौनयन" का प्रयोजक "सोमक्रय" है "पदकर्म" नहीं ।

सं०—अब तुषोपवाप को कपालों के सम्पादन का अप्रयोजक कथन करते हैं :—

अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थोहि विधीयते । २६ ।

पद०—अर्थाभिधानकर्म । च । भविष्यता । संयोगस्य । तन्निमित्तत्वात् । तदर्थः । हि । विधीयते ।

पदा०—(च) और (अर्थाभिधानकर्म) तुषोपवाप रूप कर्म कपालों के सम्पादन का प्रयोजक नहीं होसक्ता (हि) क्योंकि (भविष्यता) पुरोडाश के साथ (संयोगस्य) संयुक्त कपालों को

(तन्निमित्तत्वात्) तुषोपवाप का निमित्त कथन किया है और (तदर्थः) पुरोडाश श्रपण के लिये ही (विधीयते) कपालों का विधान किया गया है।

भाष्य०—"दर्शपूर्णमास" याग के अन्तर्गत "कपालेषु श्रपयति"=कपालों में पुरोडाश पकाये, इत्यादि वाक्यों से कपालों में पुरोडाशश्रपण का विधान करके पश्चात् "पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति"=जिस कपाल में पुरोडाश पकाया गया है उसमें तुषों का उपवाप करे, उपवाप, धारण तथा रखना यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, इत्यादि वाक्यों से जो पुरोडाशकपालों में तुषों का रखना विधान किया है वह उक्त कपालों के सम्पादन का प्रयोजक है किंवा नहीं अर्थात् उक्त कपालों के सम्पादन का प्रयोजक तुषों का उपवाप है अथवा पुरोडाशश्रपण ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि पुरोडाशकपालों में तुषों का उपवाप विधान किया है केवल कपालों में नहीं, यदि केवल कपालों में विधान होता तो अवश्य तुषों के उपवाप को उनके सम्पादन का निमित्त कल्पना किया जाता परन्तु पुरोडाशकपालों में उनके रखने का विधान करने से तुषों का उपवाप कपालों के सम्पादन का निमित्त नहीं होसक्ता, क्योंकि पुरोडाशों के पकाये बिना वह "पुरोडाशकपाल" नहीं कहला सक्ते, और यदि "पुरोडाशकपाल" संज्ञा सिद्धि के लिये तुषोपवाप से प्रथम उनमें पुरोडाशों के पकाने का विधान माना जाये तो उनका पुरोडाशश्रपण के लिये होना स्पष्ट हो जाता है, और जो जिसके लिये है उसका प्रयोजक नहीं होसक्ता

है दूसरा नहीं, अर्थात् "कपालेषु श्रपयति" वाक्य से जैसे कपालमात्र में पुरोडाशश्रपण की साधनता पाई जाती है वैसे ही "पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति" वाक्य से तुषोपवाप की साधनता नहीं पाई जाती किन्तु इसके विपरीत पुरोडाशश्रपणं के लिये जिस कपाल का उपादान किया गया है उसमें उसकी साधनता पाई जाती है, इससे स्पष्ट है कि कपालों का सम्पादन तुषोपवाप के लिये नहीं किन्तु पुरोडाशश्रपण के लिये है, और पुरोडाशश्रपण के अनन्तर व्यर्थ पड़े हुए कपालों में तुषोपवाप का विधान "प्रतिपत्तिकर्म" के अभिप्राय से किया गया है। उपयुक्त वस्तु के कार्य्यान्तर में उपयोग का नाम "प्रतिपत्तिकर्म" है। पाक, श्रपण तथा पकाना यह तीनों और उपादान तथा ग्रहण यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और जो "प्रतिपत्तिकर्म" होता है वह गौण होने के कारण प्रधान कर्म के होते प्रयोजक नहीं होसक्ता, यह नियम है, और "पुरोडाशश्रपण" प्रधान कर्म सर्व सम्मत है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि "तुषोपवाप" के विधायक वाक्य में जो पुरोडाशरूप विशेषण सहित कपाल का साधन विभक्ति से ग्रहण किया है कि "पुरोडाशकपाल" में तुषों का उपवाप करे, इससे स्पष्ट है कि प्रथम पुरोडाश श्रपण में विनियुक्त हुए कपाल पश्चात् तुषोपवाप में विनियुक्त होते हैं और जिसमें जिनका प्रथम विनियोग है वही उनके सम्पादन का प्रयोजक हो सक्ता है दूसरा नहीं।

सार यह निकला कि पुरोडाश बनाने के लिये जो "धान" कूटे जाते हैं उनके "तुष" इधर उधर फैंकने से यज्ञभूमि मलिन हो जाती है और मलिन होजाने से पुनः यागानुष्ठान के योग्य नहीं रहती और पुरोडाश पका लेने क पीछे भूमि पर फैंकने की अपेक्षा समीप उपस्थित कपालों में उनका रखना प्रशस्त है इसी अनुसन्धान से तुषोपवाप के लिये सविशेषण कपाल का साधन रूप से विधान किया है परन्तु उद्देश का विषय न होने से वह कपालों के सम्पादन का प्रयोजक नहीं होसक्ता,क्योंकि वह शेष कर्म है और जो शेष कर्म होता है उसका कोई शेषी कर्म भी होना आवश्यक है और प्रथम विहित होने से पुरोडाशश्रपण ही शेषी कर्म होसक्ता है दूसरा नहीं और जो शेषी कर्म है उसी का प्रयोजक होना भी युक्त है, इसलिये सिद्ध हुआ कि कपालों के सम्पादन का प्रयोजक परोडाशश्रपण है तुषों का उपवाप नहीं ।

सं०—अब लोहितनिरसन तथा शकृत्सम्प्रवेध को "अग्नीषोमीय" पशु के नयन की अप्रयोजकता कथन करते हैं:—

पशावनालम्भाल्लोहितशकृतोर कर्मत्वम् । २७ ।

पद०—पशौ । अनालम्भात् । लोहितशकृतोः । अकर्मत्वम् ।

पदा०—(पशौ) पशु के नयन में (लोहितशकृतोः) लोहितनिरसन तथा शकृत्सम्प्रवेध दोनों (अकर्मत्वं) प्रयोजक नहीं, क्योंकि (अनालम्भात्) उनके उद्देश से पशु का नयन नहीं होता ।

भाष्य–"ज्योतिष्टोम" याग में जो "अग्नीषोमीय" नामक पशु का दान किया जाता है उसके अलङ्कारार्थ अङ्गों का चित्रीकरण "अथ हृदयस्याग्रे ऽवद्यति" इत्यादि वाक्यों से विधान करके पश्चात् दानार्थ यज्ञभूमि में लाये गये पशु के आश्वासनार्थ "शकृत्सम्प्रविध्यति" = मल को हटाये, "लोहितं निरस्यति" = रक्तवर्ण वाले घास को उसके मुख में देने के लिये छोटा २ करे, इत्यादि वाक्यों में "शकृत्" = मल का सम्प्रवेध = दूरीकरण तथा लोहित = रक्त वर्ण के घास विशेष का निरसन = छोटा २ करना रूप जो दो कर्म विधान किये हैं वह अग्नीषोमीय पशु के यज्ञभूमि में नयन का प्रयोजक हैं किंवा नहीं अर्थात् याग भूमि में जो पशु का नयन किया गया है या यों कहो कि यज्ञशाला में लाया गया है,उसका प्रयोजक दान है अथवा लोहितनिरसन तथा शकृत्सम्प्रवेध है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यज्ञ-भूमि में दान के उद्देश से पशु लाया गया है लोहितनिरसन तथा शकृत्सम्प्रवेध के उद्देश से नहीं, यदि इनके उद्देश से लाया जाता तो अवश्य उक्त दोनों कर्म उसके नयन में प्रयोजक होते, क्योंकि जिसके उद्देश से जो लाया जाता है वही उसके नयन में प्रयोजक होता है यह नियम है, और दान के उद्देश से यज्ञभूमि में पशु का नयन स्पष्ट है, इसलिये उक्त पशु के नयन का प्रयोजक दान क्रिया है लोहितनिरसन तथा शकृत्सम्प्रवेध नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि लोहितनिरसन तथा शकृत्सम्प्रवेध यह दोनों कर्म आनुषङ्गिक हैं उद्देशप्राप्त नहीं और उद्देश प्राप्त न होने से वह यज्ञभूमि में पशु के नयन का निमित्त भी नहीं होसक्ते

और उद्देश से प्राप्त दानरूप कर्म निर्विवाद है इसमें विशेष-वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, और जो उद्देश से प्राप्त है वही मुख्य होने के कारण यज्ञभूमि में पशु के नयन का निमित्त होसक्ता है, इससे सिद्ध है कि यज्ञभूमि में पशु के नयन का प्रयोजक दान रूप कर्म है लोहितनिरसन तथा शकृत्सम्प्रवेध रूप कर्म नहीं।

सं०—अब "स्विष्टकृत्" याग को "पुरोडाश" का अप्रयोजक कथन करते हैं :—

एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसंयो-गात् । २८ ।

पद०—एकदेशद्रव्यः । च । उत्पत्तौ । विद्यमानसंयोगात् ।

पदा०—(च) और (एकदेशद्रव्यः) "स्विष्टकृत्" याग पुरोडाश का प्रयोजक नहीं, क्योंकि (उत्पत्तौ) पुरोडाश के विधायक वाक्य में (विद्यमानसंयोगात्) उसका आग्नेय याग के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

भाष्य—प्रधान कर्म के अनन्तर पुरोडाश के एक भाग से किये जाने के कारण "स्विष्टकृत्" कर्म का नाम "एकदेश-द्रव्य" है। "दर्शपूर्णमास" यागान्तर्गत "आग्नेय" याग के प्रकरण में "उत्तरार्द्धात्स्विष्टकृते समवद्यति" = "स्विष्टकृत्" कर्म के लिये पुरोडाश के उत्तर भाग से काटे, यह वाक्य पढ़ा है इसमें जो पुरोडाश के उत्तर भाग से कर्तव्य "स्विष्टकृत्" कर्म विधान किया है वह पुरोडाश का प्रयोजक है किंवा नहीं अर्थात् पुरोडाशसम्पादन का प्रयोजक "आग्नेय याग" है अथवा "स्विष्टकृत्" कर्म, या यों कहोकि "आग्नेय" याग के उद्देश से

पुरोडाशबनाया जाता है यद्वा "स्विष्टकृत" कर्म के उद्देश से ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यदि "स्विष्टकृत" कर्म के उद्देश से पुरोडाश बनाया जाता तो "शेषात्स्विष्टकृते समवद्यति" में स्विष्टकृत कर्म के लिये शेषहविः से अवदान विधान न किया जाता और नाही "उत्तरार्द्धात्स्विष्टकृते समवद्यति" में उक्त कर्म के लिये उत्तरार्द्ध से अवदान की विधि पाई जाती परन्तु शेष तथा उत्तरार्द्ध से उक्त कर्म के लिये पुरोडाशावदान की विधि पाई जाती है इससे स्पष्ट है कि प्रथम कोई प्रधान कर्म किया जाता है जिस में हवन करने के अनन्तर पुरोडाश का शेषांश तथा उत्तरार्द्ध बच जाता है अर्थात् शेष तथा उत्तरार्द्ध दोनों पद तभी सार्थक हो-सक्ते हैं यदि प्रथम पुरोडाश से कर्तव्य कोई प्रधान कर्म माना जाय, और "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" वाक्य से अमावास्या तथा पूर्णमास संज्ञक "आग्नेय" प्रधान कर्म विधान किया गया है उसको छोड़कर "स्विष्टकृत" कर्म को पुरोडाश का प्रयोजक कल्पना करना ठीक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि विद्यमान सम्बन्ध की अपेक्षा अविद्य-मान सम्बन्ध निर्बल होता है या यों कहोकि क्लृप्त सम्बन्ध की अपेक्षा कल्पित सम्बन्ध दुर्बल होता है, प्रथम सिद्ध का नाम क्लृप्त तथा सम्प्रति कल्पना किये गये का नाम कल्पित है, और क्लृप्त को छोड़कर कल्पित आदरणीय नहीं होता यह भी नियम है प्रकृत में "यदाग्नेयो ऽष्टाकपालः" वाक्य से "आग्नेय" याग तथा "पुरोडाश" का सम्बन्ध क्लृप्त है और जिनका परस्पर सम्बन्ध प्रथम ही क्लृप्त है उन्हीं का परस्पर प्रयोज्यप्रयोजकभाव

होना भी उचित है।

सार यह निकला कि जिस याग में हवन किये गये पुरोडाश के शेष तथा उत्तरार्द्ध से "स्विष्टकृत्" कर्मार्थ अवदान विधान किया है वही कर्मविशेष पुरोडाश का प्रयोजक होसक्ता है क्योंकि वह उद्देश का विषय होने से प्रधान तथा पुरोडाश शेष से कर्तव्य होने के कारण "स्विष्टकृत्" कर्म गौण है और गौण मुख्य न्याय से प्रधान तथा गौण दोनों के मध्य प्रधान में ही पुरोडाश की प्रयोजकता का सम्बन्ध होना युक्त है, इसलिये "आग्नेय" कर्म ही पुरोडाश सम्पादन का प्रयोजक है "स्विष्टकृत्" नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

निर्देशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत्। २९।

पद०—निर्देशात्। तस्य। अन्यत्। अर्थात्। इति। चेत्।

पदा०-(तस्य) प्रकृत पुरोडाश का (निर्देशात्) आग्नेय याग के लिये विधान होने के कारण (अर्थात्) अर्थापत्ति प्रमाण से (अन्यत्) स्विष्टकृत् कर्म के लिये किसी अन्य पुरोडाश की कल्पना होती है।

भाष्य—जिस पुरोडाश का आग्नेय याग के साथ सम्बन्ध है यदि उसके शेष भाग किंवा उत्तरार्द्ध से स्विष्टकृत् कर्म के लिये अवदान विधान होता तो अवश्य उक्त कर्म उसके सम्पादन का प्रयोजक न होसक्ता परन्तु उस पुरोडाश ने अवदान विधान नहीं किया किन्तु किसी अन्य नूतन पुरोडाश से किया है, और जिस नूतन पुरोडाश से उसके लिये अवदान विधान किया है उसके सम्पादन का वह प्रयोजक होसक्ता है इसमें कोई दोष नहीं अर्थात् जो होतव्य द्रव्य प्रथम किसी एक कर्म में विनियुक्त है उसका

कर्मान्तर में विनियोग नहीं होता, और "**उत्तरार्द्धात्स्विष्टकृते समवद्यति**" वाक्य मे "स्विष्टकृत्" नामक कर्मान्तर का विधान स्पष्ट है जो पुरोडाश के विना उपपन्न नहीं होसक्ता. उसकी अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति मे जिस पुरोडाश की कल्पना की जाती है उसी के उत्तरार्द्ध से उसके लिये अवदान का विधान मानना उचित है "अग्नेय" सम्बन्धी पुरोडाश से नहीं और अर्थापत्ति से कल्पित उक्त पुरोडाश प्रथम किसी अन्य कर्म में विनियुक्त न होने से विनियुक्तविनियोग रूप दोष भी नहीं, परन्तु उसका प्रयोजक कोइ कर्म अवश्य होना चाहिये आग्नेय याग के साथ कोई सम्बन्ध न होने से वह उसका प्रयोजक नहीं होसक्ता और "स्विष्टकृत्" कर्म के विना अन्य कोई कर्म उपस्थित नहीं जिस को उसका प्रयोजक माना जाय इसलिये सिद्ध है कि "स्विष्टकृत्" कर्म ही उसका प्रयोजक है "अग्नेय" नहीं ।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान कथन करते हैं :—

न शेषसन्निधानात् । ३० ।

पद०—न । शेषसन्निधानात् ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (शेषसन्निधानात्) "स्विष्टकृत्" कर्म का शेषहविः के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है ।

भाष्य—यदि "स्विष्टकृत्" नामक कोई स्वतन्त्र कर्म होता तो विधानान्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति से कल्पना किये पुरोडाश का प्रयोजक उसको अवश्य मानाजाता. परन्तु उक्त कर्म स्वतन्त्र नहीं किन्तु प्रधानकर्म का अङ्ग कर्म है और उसका सम्बन्ध प्रधान कर्म में विनियुक्त हविःशेष के साथ "**शेषात्स्विष्टकृते समवद्यति**" आदि वाक्यों मे स्फुट है, और जो प्रधान कर्म का अङ्ग तथा जिसका

शेषहविः के साथ सम्बन्ध स्फुट है वह पुरोडाश का प्रयोजक नहीं होसक्ता प्रत्युत वही कर्म उसका प्रयोजक होसक्ता है जिसका वह अङ्ग तथा जिस की शेषहविः के साथ उसका सम्बन्ध है अर्थात् शेष कर्म को अपने शेषी कर्म की आकांक्षा होने पर भी पुरोडाश की आकांक्षा नहीं क्योंकि शेषी कर्म के होने पर वह पुरोडाशशेष में अवश्य होनेवाला है परन्तु शेषी कर्म को अपनी तथा अपने शेष कर्म की सिद्धि के लिये पुरोडाश रूपहविः द्रव्य की आकांक्षा उत्कट है और जिसको जिसकी आकांक्षा उत्कट है वही उसका प्रयोजक भी होसक्ता है, इसलिये सिद्ध है कि पुरोडाश के सम्पादन का प्रयोजक "स्विष्टकृत" कर्म नहीं किन्तु "आग्नेय" कर्म है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :—

कर्मकार्य्यात् । ३१ ।

पद०—कर्मकार्य्यात् ।

पदा०—(कर्मकार्य्यात्) प्रधान कर्म की समृद्धि के लिये होने से भी उक्त कर्म पुरोडाश सम्पादन का प्रयोजक नहीं ।

भाष्य—"स्विष्टकृत्" कर्म प्रत्येक प्रधान कर्म के अन्त में उसकी समृद्धि के लिये किया जाता है किसी अन्य प्रयोजन के लिये नहीं और जो जिसकी समृद्धि के लिये किया जाता है उसीके शेष द्रव्य से उसका होना भी उचित है किसी नूतन द्रव्य से नहीं, क्योंकि उसके मानने से वह अङ्ग कर्म नहीं रहसक्ता और उसका अङ्ग कर्म होना सर्व सम्मत है, इसलिये सिद्ध है कि वह पुरोडाशसम्पादन का प्रयोजक नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं :—

लिङ्गदर्शनाच्च । २९ ।

पद०-लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"तद्यत्सर्वेभ्यो हविर्भ्यः स्विष्टकृते समवद्यति" = सब हवियों से "स्विष्टकृत" कर्म के लिये अवदान करे, इस वाक्य में जो सब हवियों से "स्विष्टकृत" कर्म के लिये अवदान कथन किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि उक्त कर्म स्वतन्त्र अर्थात् मुख्य कर्म होता तो सम्पूर्ण कर्मसम्बन्धी हवियों से उसके लिये अवदान विधान न किया जाता किन्तु कोई स्वतन्त्र द्रव्य विधान किया जाता परन्तु ऐसा नहीं किया इस से सिद्ध है कि "स्विष्टकृत्" अङ्ग कर्म है मुख्य कर्म नहीं इसलिये वह पुरोडाशसम्पादन का प्रयोजक भी नहीं यही मानना ठीक है ।

सं०-अब "अभिघारण" को शेषकारण तथा तदर्थ पात्रान्तर सम्पादन की अप्रयोजकता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

अभिघारणे विप्रकर्षादनुयाजवत्पात्रभेदः स्यात् । ३० ।

पद०-अभिघारणे । विप्रकर्षात् । अनुयाजवत् । पात्रभेदः । स्यात् ।

पदा०-(अनुयाजवत्) जैसे अनुयाज के साधन पृषदाज्य-

घारणार्थ पात्रान्तर सम्पादन किया जाता है वैसे ही (अभिघारणे) प्राजापत्य हवियों के अभिघारणार्थ (पात्रभेदः) जुहू से भिन्न कोई दूसरा पात्र (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (विप्रकर्षात्) वह ऋतुहवियों से बहुत दूर हैं।

भाष्य–"वाजपेय" याग में "ऋतुपशु" तथा "प्राजापत्य-पशु" इन दो प्रकार के पशुओं का दान किया जाता है "आग्नेयं पशुमालभते"=प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से पशु का दान करे, इत्यादि वाक्यों मे विहित देय पशुओं का नाम "ऋतुपशु" तथा "सप्तदश प्राजापत्यान् पशु-नालभते"=प्रजापति परमात्मा के उद्देश से १७ पशुओं का दान करे, इत्यादि वाक्यों मे विहित देय पशुओं का नाम "प्राजा-पत्यपशु" और प्रयाज संज्ञक आहुतियों के अनन्तर शेष बचे घृत के प्राजापत्यहवियों में अभिघारण=प्रक्षेप=डालने=छिड़कने का नाम यहां "अभिघारण" है, ऋतुपशुओं का दान "प्रातःसवन" तथा प्राजापत्य पशुओं का दान "मध्य-न्दिन सवन" में "ब्रह्मसाम" के समय होना है जैसाकि कहा है कि "ब्रह्मसामन्यालभते"=ब्रह्मसाम के समय प्राजा-पत्य पशुओं का दान करे, और इन दोनों प्रकार के पशुओं के लिये दान से प्रथम प्रातः समय एक ही काल में "प्रयाज" संज्ञक हवन किया जाता है और हवन से पीछे जो घृत बच जाता है उसके विषय में यह वाक्य पढ़ा है कि "प्रयाजशेषेण-

हवींष्यभिघारयति "="प्रयाज" नामक पांच आहुतियों के अनन्तर शेष बचे घृत से हवियों का अभिघारण करे, या यों कहो कि शेष घृत को हवनीय द्रव्य में डाल दे, परन्तु उक्त वाक्य के अनुसार "ऋतु पशु" सम्बन्धी हवियों का अभिघारण होने पर भी "प्राजापत्यपशु" सम्बन्धी हवियों का अभिघारण नहीं होसक्ता क्योंकि उनका समय मध्यन्दिन है और प्रातःकाल में "प्रयाज" नामक हवन होता है, इससे यह सन्देह हुआ कि "प्राजापत्यपशु" सम्बन्धी हवियों के अभिघारणार्थ "प्रयाज" नामक हवन से शेष बचे घृत को रखना तथा उसके रखने के लिये कोई भिन्न पात्र सम्पादन करना चाहिये, किंवा नहीं अर्थात् उक्त हवियों का अभिघारण अपनी सिद्धि के लिये शेष घृत के धारण तथा तदर्थ पात्रान्तर के सम्पादन का प्रयोजक है अथवा नहीं ! यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "प्रयाज शेषेण हवींष्यभिघारयति" वाक्य से दोनों प्रकार की हवियों का अभिघारण प्राप्त है और वह शेषबचे घृत को रखे विना नहीं होसक्ता और "जुहु" नामक पात्र "ऋतु-पशु" सम्बन्धी हवियों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने से सावकाश नहीं और पात्र के विना घृत का रखना असंभव है और जिसके विना उसका रखना असंभव है उसका सम्पादन करना आवश्यक है अर्थात् "प्रयाज" नामक हवन प्रातः सवन में किया गया है और "प्राजापत्यपशु" सम्बन्धी हवियों का अभिघारण मध्यन्दिन में कर्तव्य है क्योंकि उक्त पशुओं के दान से पीछे उनका हवन होना विहित है और प्रातःकाल से लेकर मध्यन्दिन पर्यन्त विना पात्र के घृत का रखना असंभव है और "जुहु"

नामक पात्र "ऋतुपशु" सम्बन्धी हवियों के अनुष्ठान में अवरुद्ध है उसमें उसको रख नहीं सक्ते और रखना आवश्यक है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे सब से पश्चात्भावी अनुयाज संज्ञक होम के लिये पात्रान्तर में "पृषदाज्य" रखा जाता है वैसेही "प्राजापत्यपशु" सम्बन्धी हवियों के अभिघारणार्थ प्रयाज-शेष घृत के रखने के लिये भी पात्रान्तर की कल्पना करना उचित है क्योंकि अभिघारण विधान किया गया है और वह घृत रखने के बिना नहीं होसक्ता और घृत का रखना पात्र के अधीन है जो बिना कल्पना किये नहीं बन सक्ता, इससे सिद्ध है कि उक्त अभिघारण घृत के धारण तथा तदर्थ पात्रान्तर के सम्पादन दोनों का प्रयोजक है अप्रयोजक नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:–

नवाऽपात्रत्वादपात्रत्वं त्वेकदेशत्वात् ।३४।

पद०–न। वा। अपात्रत्वात्। अपात्रत्वं। तु। एकदेशत्वात्।

पदा०–"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (अपात्रत्वात्) शेष धारण के लिये किसी पात्र का विधान नहीं (तु) और (एकदेशत्वात्) प्रयाज का शेषांश होने से (अपात्रत्वं) घृत के लिये पात्रान्तर का विधान न होना युक्त है।

भाष्य–जिसके लिये जिसका विधान किया जाता है विधा-नान्यथानुपपत्ति से उसी के लिये उसका सम्पादन किया जाता है प्रयाजशेष घृत धारण=रखने के लिये किसी पात्र का विधान नहीं किया और जिसका विधान नहीं किया उसकी कल्पना

करना अनुचित है और "प्रयाजशेषेण हवीᳲषि अभिघारयति" में भी प्रयाज सम्बन्धी शेषघृत को हवियों के अभिघारण का साधन विधान नहीं किया कि जिसकी अन्यथानुपपत्ति से भी पात्रान्तर के सम्पादन की कल्पना कीजाये किन्तु उक्त वाक्य में प्रयाजशेषघृत को प्रतिपत्तिकर्म विधान किया है कि प्रयाज संज्ञक होम के अनन्तर जितना घृत बच जाय उसको इधर उधर न पटके किन्तु हवियों में डालदे, और उक्त प्रतिपत्तिकर्म का विधान "ऋतुपशु" सम्बन्धी हवियों में शेष घृत के डाल देने से भी उपपन्न होसक्ता है उसकी अन्यथानुपपत्ति में भी पात्रान्तर की कल्पना का असम्भव है अर्थात् "प्रयाजशेषेण हवीᳲषि" वाक्य में प्रयाजशेष घृत से हवियों का संस्कार कर्म विधान नहीं किया यदि उक्त कर्म विधान किया जाता तो उसकी सिद्धि के लिये शेष घृत का धारण तथा उसके धारणार्थ पात्रान्तर का सम्पादन अवश्य होता परन्तु उक्त वाक्य में शेष घृत की प्रतिपत्ति विधान की है और वह प्रातः सवन में होने वाले ऋतुपशु-सम्बन्धी हवियों के अभिघारण से भी होसक्ती है उसके लिये हविःमात्र के अभिघारण की आवश्यकता नहीं और आवश्यकता न होने से मध्यन्दिन पर्य्यन्त शेष घृत का धारण तथा उसके धारणार्थ पात्रान्तर का सम्पादन भी नहीं बन सक्ता।

तात्पर्य्य यह है कि "प्रयाजशेषेण" वाक्य में जो तृतीया विभक्ति है वह साधनार्थक नहीं, यदि साधन अर्थ में होती तो उक्त वाक्य का "प्रयाजशेष से हवियों का अभिघारण रूप संस्कार करे" यह अर्थ होने से अवश्य शेषघृत के धारण तथा

पात्रान्तरसम्पादन की कल्पना कीजाती परन्तु उक्त वाक्य में तृतीया विभक्ति साधनार्थक नहीं किन्तु "सक्तुभिर्जुहोति" की भांति कर्मार्थक है जिस से उक्त वाक्य का यह अर्थ होता है कि "प्रयाजशेषं हविःष्वभिघारयेत्=अभिक्षारयेत्"=प्रयाज नामक हवन के अनन्तर शेष बचा घृत हवियों में डाले, और ऐसा अर्थ होने से शेष घृत के धारण तथा धारणार्थ पात्रान्तर के सम्पादन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि उक्त वाक्य से केवल हवियों में शेष घृत का डालना कथन किया है और वह अनन्तर उपस्थित हवियों में डालने से भी उपपन्न होसक्ता है उपस्थित अनुपस्थित यावद् हवियों में डालने की कल्पना करना व्यर्थ है, और उपस्थित "ऋतुपशु" सम्बन्धी हवियों में सम्पूर्ण शेष घृत के डाल देने के कारण किञ्चिद् भी शेष न रहने से पुनः उसका धारण तथा धारणार्थ पात्रान्तर का सम्पादन भी असम्भव है और जिसका सर्वथा असम्भव है उसकी कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि अभिघारण शेषघृत के धारण तथा धारणार्थ पात्रान्तर के सम्पादन का प्रयोजक नहीं ।

सार यह निकला कि "अनुयाज" संस्कार कर्म है उसके लिये "पृषदाज्य" रखना आवश्यक है, परन्तु "अभिघारण" संस्कार कर्म नहीं किन्तु "प्रतिपत्तिकर्म" है और वह उपस्थित हवियों में भी होसक्ता है उसके लिये प्रयाजशेष के रखने तथा पात्रान्तर के सम्पादन की आवश्यकता नहीं और जिस के लिये उक्त दोनों की आवश्यकता नहीं वह उनका प्रयोजक भी नहीं होसक्ता और बिना किसी दृढ़ प्रमाण के उसकी कल्पना

करना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि अभिघारण धारण तथा पात्रान्तर-सम्पादन का प्रयोजक नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

हेतुत्वाच्च सह प्रयोगस्य । ३९ ।

पद०-हेतुत्वात् । च । सह । प्रयोगस्य ।

पदा०-(च) और (सह) एक साथ (प्रयोगस्य) ऋतु-पशु तथा प्राजापत्य पशुओं के अनुष्ठान को (हेतुत्वात्) पुण्य का जनक कथन करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"तीर्थं वै प्रातःसवनं यत्प्रातःसवने सह-पशव आलभ्यन्ते तीर्थे एवैतानालभते"=सब समयों से "प्रातः सवन" परम पवित्र समय है जो प्रातः सवन में एकसाथ पशु दान किये जाते हैं उनसे परम पवित्र समय में दान किये जाने के कारण प्रभूत फल की प्राप्ति होती है, इस अर्थवाद वाक्य में जो एक साथ सम्पूर्ण पशुओं के प्रातःसवन में दान की प्रशंसा की है इससे उक्त अर्थ की सिद्धि होती है, यदि अभिघारण संस्कार कर्म होता तो कदापि प्रातःसवन में उनके एक साथ दान की प्रशंसा न की जाती क्योंकि संस्कार पक्ष में उनका एक साथ दान असंभव तथा अनुपपन्न है और प्रतिपत्तिकर्म पक्ष में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं अर्थात् संस्कारकर्म प्रधान कर्म का अङ्ग होता है और जो अङ्ग है उसका यदि नियत समय से अनु-ष्ठान न किया जाय किन्तु आगे वा पीछे किया जावे तो प्रधान कर्म

विगुण हो जाने के कारण प्रभूत फल का जनक नहीं होसक्ता और यह लोकानुभव सिद्ध बात है कि जिस प्रधान पुरुष के अङ्ग स्वरूप भृत्यवर्गों का यथाकाल जो २ कर्म नियत है यदि वह उस २ समय में न किया जाये तो उसका परिणाम अच्छा नहीं होता इसी प्रकार प्रकृत प्राजापत्यपशुओं के अनुष्ठान काल में अभिघारण रूप संस्कार कर्म के न होने से भी प्रभूत फल प्राप्त नहीं होसक्ता और अभिघारण को यदि प्रतिपत्ति कर्म मानें तो उक्त दोष नहीं आता, क्योंकि इस पक्ष में "प्राजापत्यपशु" सम्बन्धी हवियों के साथ अभिघारण के सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं केवल उक्त शेष घृत का हविः विशेष में प्रक्षेप मात्र विवक्षित है और वह "ऋतुपशु" सम्बन्धी हवियों में प्रक्षेप कर देने से भी चरितार्थ होसक्ता है मध्यन्दिन पर्य्यन्त उसके धारण तथा धारणार्थ पात्रान्तर सम्पादन की आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त अभिघारण धारण तथा पात्रान्तर सम्पादनदोनों का प्रयोजक नहीं॥

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:—

अभावदर्शनाच्च । ३६ ।

पद०—अभावदर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (अभावदर्शनात्) प्राजापत्य पशु सम्बन्धी हवियों के अभिघारण का अभाव पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"**ब्रह्म वै ब्रह्मसाम यद् ब्रह्मसाम्न्यात्क्षते ना-मध्यन्दिनाभिघृताः**"=मध्यन्दिन में जो ब्रह्मसाम गाया

जाता है वह साम नहीं किन्तु साक्षात् ब्रह्म है, इसलिये ब्रह्मसाम में जिन पशुओं का दान किया जाता है तत्सम्बन्धी हवियें रूक्ष नहीं हैं अर्थात् वह प्रथम से ही अभिघारित हैं उनके अभिघारण की आवश्यकता नहीं, इस अर्थवाद वाक्य द्वारा जो ब्रह्मसाम में दान किये गये पशुओं की सम्बन्धी हवियों के अभिघारण का अभाव अर्थात् उसकी अनावश्यकता कथन की है इससे स्पष्ट है कि प्राजापत्यपशुसम्बन्धी हवियों का अभिघारण नहीं होता और अभिघारण के न होने से वह शेष घृत के धारण तथा पात्रान्तर के सम्पादन का प्रयोजक भी नहीं होसक्ता अर्थात् जिनकी कर्तव्यता ही विवक्षित नहीं उसके लिये धारण तथा पात्रान्तर-सम्पादन की कल्पना नहीं होसक्ती और कल्पना न होने से वह उनका प्रयोजक भी नहीं होसक्ता इससे सिद्ध है कि अभिघारण-शेष घृत के धारण तथा तदर्थ पात्रान्तर के सम्पादन का प्रयोजक नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:-

सति सव्यवचनम् । ३७ ।

पद०-सति । सव्यवचनम् ।

पदा०-(सति) अभिघारणाभाव के होने पर ही (सव्यवचन) "प्राजापत्यपशु" सम्बन्धी हवियों में रूक्षता प्रतिपादक वचन उत्पन्न होसक्ता है।

भाष्य-"सव्या वा एतर्हि" इत्यादि वाक्यों में "प्राजापत्यपशु" सम्बन्धी हवियों को जो सव्य=रूक्ष=घृत सम्बन्ध से

हीन कथन किया है वह तभी होसक्ता है जब उक्त हवियों का प्रयाजशेष से अभिघारण न माना जाये, क्योंकि अभिघारण मानने में वह असव्य होजाती हैं सव्य नहीं परन्तु सव्य कथन किया है इससे सिद्ध है कि प्रयाजशेष से "प्राजापत्यपशु" सम्बन्धी हवियों का अभिघारण नहीं होता और उसके न होने से वह धारण तथा तदर्थ पात्रसम्पादन का प्रयोजक भी नहीं होसक्ता अतएव उसका मानना व्यर्थ है।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

न तस्येति चेत् । ३८ ।

पद०-न । तस्य । इति । चेत् ।

पदा०-(तस्य) सव्य वचन अभिघारणाभाव का (न) सूचक नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है।

भाष्य-उक्त वाक्य में "प्राजापत्यपशु" सम्बन्धी हवियों को जो "सव्य" कथन किया है वह अभिघारणाभाव के अभिप्राय से किया है नहीं किन्तु अभिघारण की कर्तव्यता के अभिप्राय से किया है अर्थात् अभिघारण के न होने से उक्त हवियें सव्य=रूक्ष होती हैं सो ठीक नहीं, इसलिये उनका प्रयाज शेष से अभिघारण करना चाहिये यह उक्त वाक्य का आशय है परन्तु उक्त अभिघारण धारण तथा पात्रान्तर सम्पादन के बिना नहीं होसक्ता, इससे सिद्ध है कि वह प्रयाज शेष के धारण तथा धारणार्थ पात्रान्तर के सम्पादन का प्रयोजक है अप्रयोजक नहीं।

सं०–अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :–

स्यात्तस्य मुख्यत्वात् । ३९ ।

पद०–स्यात् । तस्य । मुख्यत्वात् ।

पदा०–(स्यात्) उक्त वाक्य अभिघारणाभाव का बोधक मानना ही ठीक है, क्योंकि (तस्य) ऐसा मानने से वह (मुख्यत्वात्) मुख्यार्थ का वाचक होसक्ता है ।

भाष्य–यदि उक्त वाक्य को अभिघारणाभाव का बोधक न मानें किन्तु अभिघारण का बोधक मानें तो वह गौणार्थक होजाता है अर्थात् उक्त वाक्य में जो "सव्य" पद का प्रयोग किया है वह जैसे अभिघारणाभाव पक्ष में उपपन्न होता है वैसे अभिघारण के सद्भाव पक्ष में उपपन्न नहीं होता, क्योंकि इस में "जिसलिये हावियों को "सव्य" कथन किया है इसलिये अभिघारण करना चाहिये" इस प्रकार अर्थापत्ति से उक्त अर्थ का लाभ करना पड़ता है परन्तु अभिघारणाभाव पक्ष में यह दोष नहीं क्योंकि "सव्य" पद का अर्थ ही अभिघारणाभाव है, इसलिये यही मानना उचित है कि "प्राजापत्यपशु" सम्बन्धी हवियों में प्रयाज शेष से अभिघारण नहीं होता और उसके न होने से वह उक्त शेष के धारण तथा धारणार्थ पात्रान्तर के सम्पादन का प्रयोजक नहीं किन्तु अप्रयोजक है ।

सं०–अब "समानयन" को "औपभृत" आज्य के ग्रहण का प्रयोजक कथन करते हैं :–

समानयनं तु मुख्यं स्यात् लिङ्गदर्शनात् ।४०।

पद०—समानयनं । तु । मुख्यं । स्यात् । लिङ्गदर्शनात् ।

पदा०—" तु " शब्द गौण कर्मता के प्रतिषेधार्थ आया है (समानयनं) " उपभृत् " संज्ञक स्रुवा से " जुहू " संज्ञक स्रुवा में घृत का समानयन=लाना (मुख्यं) औपभृत आज्य के ग्रहण का प्रयोजक (स्यात्) है, क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—" दर्शपूर्णमास " याग के प्रकरण में " **अतिहाये-ड़ोबर्हिः प्रति समानयति जुह्वामौपभृतम्** "=पाञ्च प्रयाजों के मध्य " इड़ः " नामक तीसरे प्रयाज को छोड़कर " बर्हिः " नामक चौथे प्रयाज के लिये " उपभृत् " नामक स्रुवा में रखे हुए घृत का " जुहू " नामक स्रुवा में समानयन करे, यह वाक्य पढ़ा है इसमें जो " औपभृत " आज्य का " जुहू " में समानयन=लाना विधान किया है वह " औपभृत " आज्य के ग्रहण का प्रयोजक है किंवा नहीं ? यह सन्देह है, " उपभृत " संज्ञक स्रुवा में स्थित आज्य का नाम "**औपभृत**" तथा घृत का नाम "**आज्य**" है इस सन्देह की निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि "**यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्**"=जो घृत " जुहू " नामक स्रुवा में ग्रहण किया गया है वह प्रयाजों के लिये है, इस वाक्य में प्रयाजों के लिये " जौहव " घृत कथन किया है और उसके विद्यमान न होते " औपभृत " घृत के समानयन की आवश्यकता नहीं क्योंकि प्रयाजों के लिये जो घृत अपेक्षित है वह उक्त वाक्य के अनुसार " जुहू " में विद्यमान है तथापि "**यदुप-**

श्रूति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्"=जो घृत "उपभृत्" नामक स्रुवा में ग्रहण किया गया है वह प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये है, इस वाक्य में "औपभृत" घृत को भी प्रयाजों के लिये कथन करने से ज्ञात होता है कि केवल "जौहव" घृत ही प्रयाजों के लिये नहीं किन्तु "औपभृत" घृत भी उनके लिये है, यदि उक्त दोनों वाक्यों के अनुसार "जौहव" तथा "औपभृत" दोनों का विकल्प मानें कि प्रयाजसंज्ञक होम कदाचित् "जौहव" घृत से तथा कदाचित् "औपभृत" घृत से किये जाते हैं तो वह आठ दोषों से ग्रसित होने के कारण ठीक नहीं, आठ दोषों के वर्णन का प्रकार कठिन होने से यहां निरूपण नहीं किया गया उनका विस्तारपूर्वक निरूपण "मीमांसासूत्र वैदिकवृत्तिः" में स्पष्ट है विशेषाभिलाषियों को उसका निरीक्षण करना चाहिये, और यदि "अतिहायेड़ो बर्हिःप्रति" वाक्य के साथ उक्त दोनों वाक्यों की व्यवस्था कीजाय तो विकल्प मानना नहीं पड़ता और उसके न मानने से उक्त दोष भी नहीं आते, इससे व्यवस्था करनी ही उचित है अर्थात् "अतिहायेड़ो बर्हिःप्रति" वाक्य में "इड़ः" नामक प्रयाज को छोड़कर "बर्हिः" नामक प्रयाज के लिये "औपभृत" घृत का समानयन कथन किया है और पाञ्च प्रयाजों के मध्य "इड़ः" नामक प्रयाज तीसरा और "बर्हिः" नामक प्रयाज चौथा है, इससे यह व्यवस्था स्फुट होजाती है कि उक्त वाक्य में जो "औपभृत" घृत का समानयन कथन किया है वह सब प्रयाजों के लिये नहीं किन्तु "बर्हिः" आदि चौथे तथा पाञ्चवें

प्रयाज के लिये ही किया है और "यज्जुह्वां" वाक्य में जो प्रयाजों के लिये घृत का ग्रहण कथन किया है वह भी सब प्रयाजों के लिये नहीं किन्तु "इड़ः" नामक प्रयाज पर्य्यन्त जो तीन प्रयाज हैं उनके लिये किया है, क्योंकि यदि सब प्रयाजों के लिये कथन होता तो "अतिहायेड़ो बर्हिः प्रति" वाक्य में "इड़ः" नामक प्रयाज के लिये जुहू में औपभृत का समानयन कथन न किया जाता उसके कथन करने से यह निर्विवाद सिद्ध है कि "यज्जुह्वां गृह्णाति" में समानतया सब प्रयाजों के लिये घृत का ग्रहण कथन करने पर भी आदि के तीन प्रयाजों के लिये ही कथन किया है सबके लिये नहीं यह जानना उचित है, और शेष चौथे तथा पाञ्चवें दो प्रयाजों के लिये "अतिहाय" वाक्य के अनुसार "उपभृत्" नामक स्रुवा से "जुहू" नामक स्रुवा में घृत का समानयन आवश्यक है, क्योंकि समानयन किये विना उक्त दोनों प्रयाजों का अनुष्ठान नहीं होसक्ता और अनुष्ठान के न होने से याग के विगुण होजाने का भय है परन्तु औपभृत का समानयन तभी होसक्ता है जब उसका प्रथम सम्पादन न किया जाय।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे "अनुयाज" नामक होम "औपभृत" घृत के बिना नहीं होसक्ते वैसेही चौथे तथा पाञ्चवें प्रयाज के लिये औपभृत घृत का समानयन भी नहीं होसक्ता और "यदुपभृतिप्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्" वाक्य से "औपभृत" आज्य का अनुयाज तथा समानयन के लिये होना स्पष्ट है और जो जिसके लिये है उसका वह प्रयोजक है यह सर्वसम्मत है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, प्रकृत में "औपभृत" घृत जैसे

अनुयाजों के लिये है वैसेही चौथे तथा पाञ्चवें प्रयाज के निष्पादक समानयन के लिये भी है परन्तु सम्पादन किये बिना समानयन नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध है कि अनुयाज की भांति समानयन भी "औपभृत" आज्य के सम्पादन का प्रयोजक है अप्रयोजक नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:—

बचनेहि हेत्वसामर्थ्यम् । ४१ ।

पद०—बचने । हि । हेत्वसामर्थ्यम् ।

पदा०—(हि) यदि (वचने) "अतिहाय" वाक्य में श्रूयमाण समानयन को औपभृत के सम्पादन का प्रयोजक न मानें तो (हेत्वसामर्थ्य) जौहवघृत से अनुयाजाभाव रूप हेतु का कथन निरर्थक होजाता है।

भाष्य—"अतिहायेड़ो बर्हिःप्रति" इत्यादि उदाहृत वाक्यों में जो चौथे तथा पाञ्चवें प्रयाज का निष्पादक समानयन कथन किया है यदि उसको "औपभृत" आज्य का प्रयोजक न मानें तो "नह्यत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति"=जुहू में समानीत घृत से अनुयाज संज्ञक होम नहीं किये जाते, इस वाक्य में जो जौहव घृत से अनुयाजों का न होना रूप हेतु कथन किया है इससे स्पष्ट है कि "उपभृत्" पात्र में जो आज्य होता है वह प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये होता है और जब उक्त पात्र से आधा आज्य जुहू में लिया गया और आधा अनुयाजों के लिये छोड़ दिया गया तब "जुहू में सम्पूर्ण आज्य क्यों न लिया

गया आधा क्यों छोड़ दिया गया" इस आशङ्का के होने पर उक्त हेतु की प्रवृत्ति हुई कि जुहू में समानीत घृत से अनुयाज नहीं किये जाते, यह हेतु तभी सार्थक होसक्ता है जब "जुहू" में "औपभृत" आज्य का समानयन माना जाय अन्यथा नहीं, क्योंकि समानयन माने बिना उक्त आशङ्का तथा उसका समाधान रूप उक्त हेतु दोनों नहीं बनसक्ते और न बनने से हेतु का कथन सर्वथा निरर्थक होजाता है, सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि चौथे तथा पाञ्चवें प्रयाज का निष्पादक जो "जुहू" में "औपभृत" आज्य का समानयन होता है वह उसके सम्पादन का प्रयोजक है अप्रयोजक नहीं।

सं०—अब "जौहव" तथा "औपभृत" आज्य का विभाग-पूर्वक विनियोग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

तत्रोत्पत्तिरविभक्ता स्यात्।४२।

पद०—तत्र। उत्पत्तिः। अविभक्ता। स्यात्।

पदा०—(तत्र) "जुहू" तथा "उपभृत्" स्रुवों में (उत्पत्तिः) जो आज्य का ग्रहण कथन किया है उसका (अविभक्ता) बिना विभाग (स्यात्) विनियोग होता है।

भाष्य—"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "**चतुर्जुह्वां-गृह्णाति, अष्टावुपभृति**"=जुहू में चार बार तथा "उपभृत्" में आठ बार आज्य का ग्रहण करे, इत्यादि वाक्यों से जो "जुहू" तथा "उपभृत्" में चार और आठ बार आज्य का ग्रहण कथन किया है इसका प्रयाज तथा अनुयाज दोनों में विनियोग बिना विभाग होता है किंवा विभागपूर्वक अर्थात्

जौहव तथा औपभृत आज्य प्रयाज अनुयाज दोनों के लिये है अथवा जौहव प्रयाज के लिये और "औपभृत" प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्यों में आज्य का विभागपूर्वक विनियोग कथन नहीं किया और नाही उसका सूचक कोई लिङ्ग पाया जाता है और जिसका कथन तथा सूचक लिङ्ग नहीं है उसकी कल्पना करना ठीक नहीं अर्थात् यदि उक्त वाक्यों में आज्य के विभाग का श्रवण होता तो यथाश्रवण उसके विभाग की कल्पना की जाती परन्तु उनमें उसके विभाग का श्रवण नहीं होता और उसके श्रवण न होने से यही कल्पना करनी ठीक है कि जो कार्य्य आज्य से होसक्ते हैं उन सब के लिये "जौहव" तथा "औपभृत" आज्य हैं जुहू में गृहीत आज्य का नाम "जौहव" तथा "उपभृत्" में गृहीत का नाम "औपभृत" है, और आज्य से प्रयाज तथा अनुयाज दोनों प्रकार के होम होसक्ते हैं यह सर्व सम्मत है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये "जौहव" तथा "औपभृत" आज्य का विनियोग बिना विभाग ही होता है विभागपूर्वक नहीं ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् । ४३ ।

पद०–तत्र । जौहवम् । अनुयाजप्रतिषेधार्थम् ।

पदा०–(तत्र) "जौहव" तथा "औपभृत" दोनों आज्यों के मध्य (जौहवं) जौहव आज्य (अनुयाजप्रतिषेधार्थं) प्रयाजों के लिये ही है अनुयाजों के लिये नहीं ।

भाष्य–यद्यपि उक्त दोनों वाक्यों से "जौहव" तथा "औपभृत" आज्य का विभागपूर्वक विनियोग प्रतीत नहीं होता तथापि **"यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्"**= जो "जुहू" में लिया गया है वह प्रयाजों के लिये है **"यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्"** = जो "उपभृत्" में लिया गया है वह प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये है, इत्यादि वाक्यशेषों से उसका विभाग स्पष्ट पाया जाता है, यदि उक्त दोनों आज्य बिना विभाग समानरूप से प्रयाज तथा अनुयाज सब होमों के लिये होते तो "यज्जुह्वां" वाक्य में जौहव आज्य को केवल प्रयाजों के लिये होना ही कथन न किया जाता उसके कथन करने से सिद्ध है कि उक्त आज्य अनुयाजों के लिये नहीं, जब "वह अनुयाजों के लिये नहीं" यह उक्त वाक्य से स्फुट है तो उसका विभागपूर्वक विनियोग स्वयं स्फुट होजाता है अर्थात् उक्त वाक्यशेष से जो "जुहू" में गृहीत आज्य को प्रयाजों के लिये कथन किया है उसका आशय यह है कि उक्त "जौहव" आज्य अनुयाजों के लिये नहीं क्योंकि अनुयाजों के लिये होने से "यह प्रयाजों के लिये ही है" इस प्रकार का कथन नहीं बन सक्ता परन्तु कथन किया है, इसलिये सिद्ध है कि "जौहव आज्य केवल प्रयाजों के लिये और औपभृत आज्य प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये है," इस प्रकार विभागपूर्वक ही उक्त दोनों आज्यों का विनियोग होता है विना विभाग नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :–

औपभृतं तथेतिचेत् । ४४ ।

पद०-औपभृतं । तथा । इति । चेत् ।

पदा०-(तथा) जैसे "जौहव" आज्य केवल प्रयाजों के लिये है वैसे ही (औपभृतं) औपभृत आज्य भी आनुयाजों के लिये ही होना चाहिये प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-जैसे "जौहव" आज्य केवल प्रयाजों के लिये है वैसेही "औपभृत" आज्य भी केवल अनुयाजों के लिये ही होना चाहिये, प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये नहीं अर्थात् "यज्जुह्वां प्रयाजेभ्यस्तत्" वाक्य से जौहव आज्य का अनुयाजों के लिये निषेध होने के कारण "यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्" वाक्य से "औपभृत" आज्य का अनुयाजों के लिये होना ही आवश्यक है प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि "यज्जुह्वां" वाक्य से जौहव आज्य का अनुयाजों के लिये निषेध होने के कारण "औपभृत" आज्य के साथ उनका स्वयमेव सम्बन्ध सिद्ध होता है और उसके स्वयमेव सिद्ध होने से "यदुपभृति" वाक्य द्वारा "औपभृत" आज्य का प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये होना कल्पना नहीं कर सक्ते, क्योंकि ऐसी कल्पना करने से विभागपूर्वक आज्य का विनियोग सिद्ध नहीं होता, उसकी सिद्धि के लिये जैसे जौहव आज्य प्रयाजों के लिये है वैसेही नित्य सम्बन्धी होने से "औपभृत" आज्य का अनुयाजों के लिये

होना उचित है, इसलिये जौहव आज्य की भांति औपभृत आज्य को प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये होना ठीक नहीं किन्तु अनुयाजों के लिये होना ही ठीक है ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः । ४५ ।

पद०-स्यात् । जुहूप्रतिषेधात् । नित्यानुवादः ।

पदा०-(स्यात्) "औपभृत" आज्य प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये होना चाहिये, क्योंकि (जुहूप्रतिषेधात्) "यज्जुह्वां" वाक्य में अनुयाजों का निषेध होने से (नित्यानुवादः) "यदुपभृति" वाक्य में प्रयाजों के साथ अर्थसिद्ध अनुयाजार्थता का अनुवाद होसक्ता है ।

भाष्य-यद्यपि "यज्जुह्वां" वाक्य में "जौहव" आज्य को प्रयाजों के लिये कथन करने से अनुयाजों का "जौहव" आज्य से भिन्न "औपभृत" आज्य के साथ आर्थिक नित्य सम्बन्ध सिद्ध होता है तथापि उक्त आज्य की केवल अनुयाजों के लिये ही कल्पना नहीं करसक्ते, क्योंकि "यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्" वाक्य से औपभृत आज्य का प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये होना स्पष्टतया प्रतीत होता है और स्पष्टतया प्रतीतार्थ का किसी प्रबल प्रमाण के विना प्रतिषेध अथवा सङ्कोच नहीं होसक्ता और उक्त आज्य दोनों के लिये होने पर भी "यदुपभृति" वाक्य द्वारा अनुयाज अंश में प्रयाज के साथ नित्य सिद्ध अनुयाज का अनुवाद होसक्ता है इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि विधेय अंश के साथ प्रथम सिद्ध का अनुवाद सर्वसम्मत है, यह लोक

सिद्ध बात है कि जब कोई अतिथि किसी आर्य्य महाशय के घर आजाता है तो वह भोजन के समय आज्ञा देता है कि यज्ञदत्त शर्म्मा अतिथि तथा देवदत्त दोनों को भोजन करादो, इस आज्ञा के पाते ही उक्त अतिथि तथा नित्य उपस्थित देवदत्त दोनों को भोजन करा दिया जाता है, इसमें यज्ञदत्तशर्म्मा के भोजन का विधान तथा देवदत्त के भोजन का अनुवाद है परन्तु उक्त आज्ञा वाक्य में दोनों का समान रूप से उपादान स्पष्ट है, इस प्रकार लोक में जैसे अतिथि भोजन के साथ नित्य सिद्ध देवदत्त के भोजन का अनुवाद किया गया है, वैसेही " यदुपभृति " वाक्य में भी विधेय प्रयाजों के साथ नित्य सिद्ध अनुयाजों का अनुवाद होसक्ता है और उसके होसकने से औपभृत आज्य के प्रयाज तथा अनुयाज उभयार्थ होने में कोई दोष नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे "यज्जुह्वां" वाक्य से जौह्व आज्य प्रयाजों के लिये है वैसेही " यदुपभृति " वाक्य से " औपभृत " आज्य प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये है केवल अनुयाज के लिये ही नहीं, इसलिये उक्त दोनों आज्यों का यथावचन विभागपूर्वक ही विनियोग होना ठीक है विना विभाग नहीं ।

सं०-अब "उपभृत्" नामक स्रुवा में विभागोपयोगी दो चतुर्ग्रहण का कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

तदष्टसंख्यं श्रवणात् । ४६ ।

पद०-तत् । अष्टसंख्यं । श्रवणात् ।

पदा०-(तत्) " उपभृत् " नामक स्रुवा में जो आज्य का

ग्रहण विधान किया है वह (अष्टसंख्यं) आठ संख्या वाला जानना चाहिये, क्योंकि (श्रवणात्) ग्रहण विधायक वाक्य से ऐसा ही सुना जाता है।

भाष्य-"चतुर्जुह्वां गृह्णाति"=चार वार जुहू में आज्य का ग्रहण करे, इस प्रकार "जुहू" में चार वार आज्य के ग्रहण का विधान करके पश्चात् "अष्टावुपभृति"="उपभृत्" में आठ वार ग्रहण करे, यह वाक्य पढ़ा है इस वाक्य में आज्य का आठ वार ग्रहण विधान किया है किंवा दो चार वार ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में "अष्टौ" पद का प्रयोग किया है जिसका अर्थ "आठवार" है, यदि आठ वार के स्थान में दो चार २ वार की कल्पना करें तो यद्यपि दो चार २ के मिलाने से आठ संख्या पूर्ण होजाती है तथापि श्रुत संख्या का परित्याग होजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये उक्त वाक्य से जो "उपभृत" नामक स्रुवा में आज्य का ग्रहण विधान किया है वह दो चार २ वार नहीं किन्तु आठ वार किया है।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:-

अनुग्रहाच्च जौहवस्य । ४७ ।

पद०-अनुग्रहात् । च । जौहवस्य ।

पदा०-(च) और (जौहवस्य) जुहू में चार वार आज्य का ग्रहण विधान करके (अनुग्रहात्) पश्चात् "उपभृत्" में आठ वार विधान करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-जैसे "चतुर्जुह्वां गृह्णाति" वाक्य से विधान किये चार वार आज्य ग्रहण में दो २ चार के विधान की कल्पना

नहीं होती किन्तु समस्त रूप से चार वार के ग्रहण की ही होती है वैसेही "अष्टावुपभृति" वाक्य से विधान किये आठ वार आज्य ग्रहण में भी समस्त रूप से आठ वार ग्रहण की ही कल्पना होनी चाहिये दो चार २ वार ग्रहण की नहीं, क्योंकि ऐसा होने से पूर्वोत्तर दोनों वाक्यों में अर्थ भेद होजाता है और समान वाक्यों में विना किसी दृढ़ प्रमाण के अर्थभेद मानना ठीक नहीं अर्थात् जब पूर्ववाक्य में दो २ वार का ग्रहण नहीं होता किन्तु एक चार वार का ही होता है तब उत्तर वाक्य में उससे विपरीत दो चार २ वार का ग्रहण कैसे न्याय्य होसक्ता है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे पूर्ववाक्य में एक ही चार वार का ग्रहण है दो दोवार का नहीं वैसेही "अष्टावुपभृति" इस उत्तर वाक्य में भी एक ही आठ वार का ग्रहण होना उचित है दो चार २ वार का नहीं, क्योंकि ऐसा होने से पूर्वोत्तर दोनों वाक्यों का परस्पर अनुग्राह्यानुग्राहक भाव बना रहता है अन्यथा नहीं, इसलिये सिद्ध हुआ कि "उपभृत्" नामक स्रुवा में जो आठ वार आज्य का ग्रहण विधान किया है वह दो चार २ वार का नहीं किन्तु एक आठ वार काही है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं श्रवणं समानयने।४८।

पद०-द्वयोः। तु। हेतुसामर्थ्यं। श्रवणं। च। समानयने।

पदा०-"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (द्वयोः) दो चार २ वार के ग्रहण का विधान है एक आठ वार के ग्रहण का नहीं, क्योंकि (हेतुसामर्थ्य) ग्रहण हेतु से ऐसा ही पाया

जाता है (च) और (श्रवणं) आठ वार का विधान (समानयने) समानयन के अभिप्राय से किया है।

भाष्य-यद्यपि "अष्टावुपभृति" वाक्य से "उपभृत्" स्रुवा में आठ वार आज्य के ग्रहण का विधान पाया जाता है तथापि वह एक आठ वार के अभिप्राय से नहीं किन्तु दो चार २ वार के अभिप्राय से समझना चाहिये, क्योंकि एक आठ वार आज्य ग्रहण का विधान मानने से जो प्रयाजों के लिये उक्त स्रुवा से आज्य का समानयन विधान किया है वह सर्वथा अनुपपन्न हो-जाता है अर्थात् "अष्टावुपभृति" वाक्य में यदि एक आठ वार आज्य ग्रहण का विधान अभिप्रेत होता तो "यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्" वाक्य से उक्त ग्रहण किये आज्य का प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये होना कथन न किया जाता और नाही "अतिहायेड़ो बर्हिःप्रति समानयति" वाक्य द्वारा प्रयाजों के लिये "उपभृत्" स्रुवा से "जुहू" नामक स्रुवा में उक्त आज्य का समानयन विधान किया जाता, उक्त आज्य का प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिये कथन करने तथा "उपभृत्" से जुहू में समानयन विधान करने से सिद्ध है कि "अष्टावुपभृति" वाक्य में जो एक आठ वार आज्य ग्रहण का विधान किया है वह दो चार २ वार के अभिप्राय से किया है एक आठ वार के अभिप्राय से नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि "चतुर्गृहीतं जुहोति"=चार वार ग्रहण किये आज्य का हवन करे, इस वाक्य में चार वार ग्रहण

किये आज्य का हवन विधान किया है आठ वार ग्रहण किये का नहीं, यदि आठ वार ग्रहण किये का हवन विधान किया जाता तो "उपभृत्" में भी एक आठ वार ग्रहण की ही कल्पना कीजाती परन्तु चार वार ग्रहण किये आज्य का हवन विधान करने से उक्त कल्पना नहीं कीजासक्ती और दो चार २ वार ग्रहण का विधान मानने में उक्त हवन विधायक वाक्य के अनुसार प्रयाज तथा अनुयाज दोनों में विभागपूर्वक विनियोग भी होसक्ता है और विभागपूर्वक विनियोग "यद्रुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्" वाक्य से सिद्ध है, उसका परित्याग नहीं होसक्ता प्रत्युत उसका यथाशक्ति लापन करना उचित है और आठ वार ग्रहण किये आज्य के हवन का विधान भी नहीं पाया जाता और दो चार २ वार ग्रहण के मानने में उक्त आठ संख्या का श्रवण भी उपपन्न होसक्ता है और पात्र भेद न होने के कारण दो चार २ को मिलाकर आठ के ग्रहण का विधान करने में कोई दोष नहीं, इसलिये यही मानना उचित है कि "अष्टावुपभृति" वाक्य से जो "उपभृत्" में आठ वार आज्य के ग्रहण का विधान किया है वह दो चार २ वार का किया है एक आठ वार का नहीं।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये चतुर्थाध्याये प्रथमःपादः

ओ३म्

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः प्रारभ्यते

सङ्गति-अब "स्वरु" को "खदिर" आदि काष्ठविशेषों के छेदन=काटने का अप्रयोजक कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्॥१॥

पद०-स्वरुः। तु। अनेकनिष्पत्तिः। स्वकर्मशब्दत्वात्।

पदा०-(स्वरुः) स्वरु (अनेकनिष्पत्तिः) यूप निष्पादक क्रिया से भिन्न क्रिया द्वारा निष्पन्न होता है, क्योंकि (स्वकर्मशब्दत्वात्) उसकी स्वतन्त्र निष्पत्ति विधान कीगई है।

भाष्य-"ज्योतिष्टोम" यागान्तर्गत "अग्नीषोमीय" पशु के प्रकरण में "खादिरेबघ्नाति, पालाशेबध्नाति"=दानार्थ यज्ञभूमि में लाये गये पशु को "खदिर" आदि नामक काष्ठविशेषों से बनाये गये यूप के साथ बांधे "यूपंकरोति"=यूप बनाये, इत्यादि वाक्यों से "यूप" विधान करके पश्चात् उसके समीप "यूपस्यस्वरुं करोति"=यूप का "स्वरु" बनाये, यह वाक्य पढ़ा है, "यूप बनाने के समय जो बसूला आदि से प्रथम छिल्लड़ उतारा जाता है उसको "स्वरू" कहते हैं," इस वाक्य में जो यूपकाष्ठ का "स्वरू" बनाना विधान किया है वह "खदिर" आदि काष्ठों के छेदन का प्रयोजक है किंवा नहीं अर्थात् जङ्गल से जो खदिरादि नामक लकड़ियें काटकर लाई

जाती हैं उनके काटने का प्रयोजक "स्वरु" है अथवा "यूप" है, या यों कहो कि उक्त लकड़ियें "स्वरु" के लिये जङ्गल से छेदन कीजाती हैं यद्वा यूप के लिये ? यह सन्देह है. इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे "यूपंकरोति" वाक्य से यूप की निष्पत्ति स्वतन्त्र विधान कीगई है वैसेही "यूपस्य स्वरुं करोति" वाक्य से "स्वरु" की निष्पत्ति भी स्वतन्त्र विधान कीगई है, यदि यूप निष्पादक क्रिया से ही "स्वरु" की निष्पत्ति होती तो "यूप" तथा "स्वरु" दोनों की निष्पत्ति स्वतन्त्रतापूर्वक विधान न कीजाती उसके विधान करने से स्पष्ट है कि वह दोनों एक क्रिया साध्य नहीं किन्तु भिन्न क्रिया साध्य हैं और जो भिन्न क्रिया साध्य है वह अपनी सिद्धि के लिये एक ही खदिरादि काष्ठविशेषों के छेदन का प्रयोजक नहीं होसक्ते अर्थात् जब यूप तथा स्वरु दोनों की सिद्धि भिन्न २ विधान कीगई है तब यह नियम नहीं होसक्ता कि जिस काष्ठ से "यूप" बनाया जाता है उसीसे "स्वरु" भी बनाया जाय, और "यूपस्य स्वरुं करोति" वाक्य में जो षष्ठ्यन्त "यूपस्य" पद का प्रयोग किया है वह लाक्षणिक है और लाक्षणिक होने से उसका "यूप सम्बन्धी" अर्थ नहीं किन्तु जिस काष्ठ से यूप बनाया जाता है तत्सम्बन्धी अर्थ है, और ऐसा अर्थ होने से यूप तथा स्वरु दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, और जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं वह स्व सिद्धि के लिये एक ही काष्ठछेदनरूप क्रिया का प्रयोजक भी नहीं होसक्ते किन्तु जिस काष्ठ से यूप की निष्पत्ति होती है उसके छेदन का प्रयोजक "यूप" तथा

जिस काष्ठ से "स्वरु" की निष्पत्ति होती है उसके छेदन का प्रयोजक "स्वरु" है ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे यूप का विधान किया गया है वैसेही "स्वरु" का विधान भी किया गया है और दोनों का विधान समान होने से तत्सम्बन्धी प्रयोजकता अंश में विषमता कदापि नहीं होसक्ती और जैसे "यूपे बध्नाति"=यूप में देय पशु को बांधे, इस वाक्य में यूप का पशु बन्धन में विनियोग कथन किया है वैसेही "स्वरुणा पशुमनक्ति"=स्वरु से देय पशु का अञ्जन नामक संस्कार करे, इस वाक्य से स्वरु का पशु के अञ्जन में विनियोग कथन किया है और जिनका विधान तथा विनियोग परस्पर भिन्न २ है उनका प्रयोज्यप्रयोजकभाव भी भिन्न होना चाहिये ।

सार यह निकला कि यदि यूप तथा स्वरु एक ही काष्ठ के होते और दोनों के मध्य यूप मुख्य तथा स्वरु गौण होता तो अवश्य यूप ही काष्ठ छेदन का प्रयोजक होता परन्तु यूप की भांति स्वरु भी स्वतन्त्र विधेय होने के कारण मुख्य है और मुख्य होने से उसका यूप की भांति छेदन क्रिया के प्रति प्रयोजक होना आवश्यक है, इसलिये सिद्ध हुआ कि स्वरु छेदन रूप क्रिया का अप्रयोजक नहीं किन्तु प्रयोजक है ।

सं०–अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :–

जात्यन्तराच्च शङ्कते । २ ।

पद०–जात्यन्तरात् । च । शङ्कते ।

पदा०–(च) और (जात्यन्तरात्) अन्य वृक्ष से (शङ्कते)

" स्वरु " के बनाने की जो शङ्का कीगई है उससे भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-" यद्यन्यस्य वृक्षस्य स्वरुं कुर्यात् अन्येऽस्य लोकमारोहेयुः"=जिस वृक्ष की लकड़ी का यूप बनाया जाता है यदि उस वृक्ष से भिन्न किसी अन्य वृक्ष की लकड़ी का " स्वरु " बनाया जाय तो यजमान को याग फल प्राप्त न होगा किन्तु दूसरों को होगा, इस अर्थवाद वाक्य में जो "यदि" शब्द के उच्चारण पूर्वक यूप वृक्ष से भिन्न वृक्ष के स्वरु की आशङ्का करके अन्य को याग फल की प्राप्ति कथन की हैं इससे स्पष्ट है कि यदि " यूप " तथा " स्वरु " एक ही लकड़ी के बनाये जाते तो उक्त अर्थवाद में अन्य वृक्ष से " स्वरु " के बनाने की आशङ्का करके यजमान भिन्न को याग फल की प्राप्ति कथन न कीजाती परन्तु की है, इससे स्फुट है कि जिस काष्ठ का यूप बनाया जाता है उससे स्वरु नहीं बनाया जाता किन्तु उसके अतिरिक्त काष्ठान्तर से भी बनाया जाता है और वह यूप की भांति स्वतन्त्र पदार्थ है, यूप का अनुनिष्पादी नहीं, और स्वतन्त्र होने से वह अपनी सिद्धि के लिये जङ्गल से वृक्ष के छेदन का प्रयोजक होसक्ता है, इसलिये सिद्ध है कि " स्वरु " यूप की भांति छेदन क्रिया का प्रयोजक है अप्रयोजक नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् । ३ ।

पद०-तदेकदेशः । वा । स्वरुत्वस्य । तन्निमित्तत्वात् ।

पदा०-" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (तदेकदेशः) यूप का एक देश " स्वरु " है, क्योंकि (स्वरुत्वस्य)

इसमें स्वरुपन का (तन्निमित्तत्वात्) यूप निमित्तक होना पाया जाता है।

भाष्य-यदि " स्वरु " यूप की भांति स्वतन्त्र होता तो वह अवश्य छेदन क्रिया का प्रयोजक होता परन्तु वह स्वतन्त्र नहीं किन्तु यूप का अनुनिष्पादी होने से उसके अधीन है अर्थात् यावत्पर्य्यन्त यूप न बनाया जाय किंवा उसके बनाने का उपक्रम न किया जाय तावत्पर्य्यन्त " स्वरु " कदापि निष्पन्न नहीं होसक्ता, और जो जिसकी निष्पत्ति के विना निष्पन्न नहीं होसक्ता या यों कहोकि जिसकी निष्पत्ति दूसरे की निष्पत्ति के अधीन है वह उसका अनुनिष्पादी अवश्य है, निष्पत्ति तथा सिद्धि यह दोनों और पीछे सिद्ध होने वाला तथा अनुनिष्पादी यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और जो अनुनिष्पादी है वह स्वयं प्रयोजक नहीं होसक्ता, और न उसको किसी क्रिया का प्रयोजक मानना उचित है, क्योंकि वह दूसरे के निष्पन्न होने से पीछे स्वयमेव निष्पन्न होजाता है उसको अपनी निष्पत्ति के लिये किसी की अपेक्षा नहीं और " स्वरु " का यूपानुनिष्पादी होना " यूपस्य स्वरुं करोति " वाक्य से स्फुट है, यह प्रत्येक बुद्धिमान् जान सक्ता है कि उक्त वाक्य में " यूप " प्रातिपदिक के आगे जो षष्ठी विभक्ति " स्य " है उसका अर्थ सम्बन्ध है क्योंकि वह "षष्ठीशेषे" अष्टा० २।३।५० सूत्र मे सम्बन्ध अर्थ में विधान कीगई है और उक्त सम्बन्धार्थक षष्ठी विभक्ति वाले "यूपस्य" पद का द्विती-यान्त " स्वरुं " पद के साथ अन्वय होना आवश्यक है जैसाकि " राज्ञःपुरुषमानय " वाक्य में " राज्ञः " पद का द्वितीयान्त " पुरुषं " पद के साथ अन्वय होता है, और उसके साथ

अन्वय होने से "यूपस्य स्वरुं" वाक्य का "यूप सम्बन्धी स्वरु बनाये" यह अर्थ स्फुट होजाता है और इसके स्फुट होजाने से यह कल्पना कदापि नहीं होसक्ती कि उक्त वाक्य में यूप पद लाक्षणिक है क्योंकि लक्षणा के बीज अन्वयानुपपत्ति तथा तात्पर्य्यानुपपत्ति दोनों के मध्य एक भी यहां उपलब्ध नहीं होता, और उसके उपलब्ध न होने से शक्तिवृत्ति का परित्याग करके लक्षणावृत्ति का उपादान असमञ्जस है अर्थात् "यूपस्य स्वरुं करोति" वाक्य का जो "यूप" पद की यूप सम्बन्धी खदिर आदि काष्ठों में लक्षणा करके "जिन खदिर आदि काष्ठों से यूप बनाया जाता है उनका स्वरु बनाये" यह अर्थ किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि मुख्य "शक्तिवृत्ति" को छोड़कर गुणभूत "लक्षणावृत्ति" का वहां ही स्वीकार होता है जहां उसका बीज=निमित्त पाया जाय, लक्षणावृत्ति का बीज "अन्वयानुपपत्तिः" तथा "तात्पर्य्यानुपपत्तिः" सर्वसम्मत है और इन दोनों के मध्य उक्त वाक्य में एक भी नहीं पायाजाता जिसके सहारे लक्षणा मानकर "यूपस्य" वाक्य का उक्त लाक्षणिक अर्थ किया जाय और उक्त अर्थ के न होसकने से यूप की भांति "स्वरु" स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होता किन्तु उसका अनुनिष्णदी सिद्ध होता है और ऐसा सिद्ध होने के कारण उसको यूप की भांति जङ्गल से खदिरादि वृक्षों के छेदन का प्रयोजक भी नहीं मान सक्ते।

तात्पर्य्य यह है कि "यूपस्य स्वरुं करोति" वाक्य में "यूपस्य" पद की खदिरादि काष्ठविशेषों में लक्षणा करके स्वरु को यूप की भांति स्वतन्त्र सिद्ध करना गौरवदोष के कारण

अत्यन्त गर्हित और शक्तिवृत्ति मे उसको यूप सम्बन्धी मानकर यूप का अनुनिष्पादी मानना अत्यन्त प्रशंसनीय है, और गर्हित तथा प्रशंसनीय दोनों के मध्य प्रशंसनीय का ही उपादान करना श्रेष्ठ है, और जो यूप की भांति स्वतन्त्र विधान मानकर "स्वरु" को मुख्य कथन किया है वह भी लक्षणा दोष से दूषित होने के कारण आदरणीय नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "स्वरु" अपनी सिद्धि के लिये खदिर आदि के छेदन का प्रयोजक नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :-

शकलश्रुतेश्च । ४ ।

पद०—शकलश्रुतेः । च ।

पदा०—(च) और (शकलश्रुतेः) यूप का शकल श्रवण होने से भी "स्वरु" छेदन क्रिया का प्रयोजक नहीं होसक्ता।

भाष्य—"यः प्रथमः शकलः परापतेत् स स्वरुः कार्य्यः" = वम्बूला आदि से यूप बनाने के समय जो प्रथम छिल्लड़ उतारा जाता है उसको "स्वरु" कहते हैं, इस वाक्य में जो "स्वरु" को यूप का एक छिल्लड़ कथन किया है इससे स्पष्ट है कि यूप बनाने के लिये प्रथम जङ्गल से खदिरादि की लकड़ियें काटकर लाई जाती हैं और यूप बनाते समय जो प्रथम छिल्लड़ उतरता है उसका "स्वरु" बनाया जाता है, उसके लिये किसी अन्य लकड़ी को काटकर लाने की अपेक्षा नहीं होती, और जिसके लिये किसी काष्ठान्तर के काटकर लाने की अपेक्षा नहीं किन्तु जो यूपार्थ लाये गये काष्ठ से ही निष्पन्न होता है उसको स्वतन्त्र नहीं मान सक्ते अर्थात् जो दूसरे के बनाने से स्वयं बन जाता है

वह स्वतन्त्र नहीं होता किन्तु उसका अनुनिष्पादी पीछे बनने वाला होता है, और जो स्वतन्त्र नहीं वह छेदन क्रिया का प्रयोजक भी नहीं होसक्ता, क्योंकि उसको अपनी निष्पत्ति के लिये काष्ठान्तर की अपेक्षा नहीं, इसलिये सिद्ध है कि जङ्गल से खदिर आदि के छेदन का प्रयोजक यूप है "स्वरु" नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :-

प्रतियूपं च दर्शनात् । ९ ।

पद०-प्रतियूपं । च । दर्शनात् ।

पदा०-(च) और (प्रतियूपं) प्रतियूप (दर्शनात्) स्वरु का विधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-यदि "स्वरु" यूप की भांति स्वतन्त्र होता तो उसका प्रतियूप होना विधान न किया जाता, परन्तु "एकादशिनी" नामक याग में "अनुपूर्वं स्वरुभिः पशून् अनक्ति"=यथाक्रम स्वरुओं से पशुओं का अञ्जन नामक संस्कार करे, इत्यादि वाक्यों द्वारा स्वरुओं का प्रतियूप होना कथन किया है, इससे स्पष्ट है कि वह यूप का शेष है, यूप की भांति शेषी नहीं अर्थात् यदि "स्वरु" यूप की भांति स्वतन्त्र माना जाय तो जितने यूप हैं उतने ही स्वरुओं का विधान नहीं बन सक्ता, क्योंकि याग में देय पशुओं का अञ्जन एक "स्वरु" से भी होसक्ता है प्रत्येक पशु के लिये प्रतियूप एक २ स्वरु की आवश्यकता नहीं परन्तु उक्त वाक्य से प्रतियूप एक २ स्वरु का विधान पाया जाता है, इससे अनुमान होता है कि याग में जितने पशु दान दिये जाते हैं उनके अञ्जन नामक संस्कार के लिये यूपों के समान संख्याक ही "स्वरु" बनाये जाते हैं, और प्रतियूप उनका बनाया "यूपस्य स्वरुं

करोति" वाक्य से सिद्ध है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, जब उक्त वाक्य से स्वरुओं का प्रत्येक युप के साथ सम्बन्ध तथा प्रत्येक पशु के संस्कारार्थ बनाना सिद्ध है तब यूप की भांति स्वतन्त्रता की कल्पना करना निष्प्रमाणक तथा व्यर्थ है, प्रत्युत उक्त वाक्य द्वारा यूप तथा स्वरु दोनों के श्रूयमाण सम्बन्ध का शेषशेषिभाव रूप सम्बन्ध विशेष में पर्य्यवसान मानकर स्वरु को यूप का शेष मानना ही श्रेष्ठ तथा प्रामाणिक है, और श्रेष्ठ तथा प्रामाणिक अर्थ को छोड़कर व्यर्थ तथा निष्प्रमाणिक अर्थ का उपादान ठीक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि स्वरु का यूप की भांति स्वतन्त्र होना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं और यूप के साथ शेषशेषिभाव सम्बन्ध युक्ति यथा प्रमाण से सिद्ध है और जो युक्ति यथा प्रमाण दोनों से सिद्ध है उसीका ग्रहण करना उचित है अन्य का नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "स्वरु" शेष होने के कारण खदिर आदि के छेदन का प्रयोजक नहीं किन्तु शेषी यूप ही उसका प्रयोजक है ।

सं०-अब "यूपस्य स्वरुं करोति" वाक्य में "करोति" शब्द का अर्थ कथन करते हैं :-

आदाने करोतिशब्दः । ६ ।

पद०-आदाने । करोतिशब्दः ।

पदा०-(करोतिशब्दः) "यूपस्य स्वरुं करोति" वाक्य में जो "करोति" शब्द है उसका अर्थ (आदाने) निष्पत्ति नहीं किन्तु आदान है ।

भाष्य-यदि "यूपस्य स्वरुं करोति" में करोति" पद

का अर्थ निष्पत्ति होता तो अवश्य यूप की भांति "स्वरु" भी स्वतन्त्र सिद्ध होता परन्तु उक्त वाक्य में करोति शब्द का निष्पत्ति अर्थ नहीं किन्तु आदान है, ग्रहण तथा आदान यह दोनों पर्य्याय शब्द है, और करोति पद का आदान अर्थ होने से सम्पूर्ण वाक्य का यह अर्थ होता है कि यूप बनाने के समय जो प्रथम छिल्लड़ उतारा जाता है उसका "स्वरु" रूप से ग्रहण करे अर्थात् जैसे "यूपं करोति" में "करोति" पद का निष्पत्ति=बनाना अर्थ है वैसे "यूपस्य स्वरुं करोति" वाक्य में करोति पद का अर्थ बनाना नहीं किन्तु बने बनाये का ग्रहण करना है और ऐसा अर्थ होने से यूप की भांति "स्वरु" के स्वतन्त्र होने की आशंका सर्वथा निर्मूल होजाती है और उसके प्रति यूप शेष होने से किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता और जो स्वतन्त्र नहीं किन्तु शेष होने से परतन्त्र है वह अपनी सिद्धि के लिये किसी का आकांक्षी नहीं हो सक्ता अर्थात् जैसे यूप अपनी सिद्धि के लिये खदिरादि काष्ठों का आकांक्षी है क्योंकि वह उनके बिना निष्पन्न नहीं होसक्ता वैसे "स्वरु" अपनी सिद्धि के लिये उनका आकांक्षी नहीं, क्योंकि वह यूप के बनने से स्वयं बन जाता है और जो दूसरे के बनने से स्वयं बन जाता है वह किसी का प्रयोजक भी नहीं होसक्ता, और विना प्रमाण प्रयोजक मानना अनुचित है, इसलिये जङ्गल से जो खदिर आदि काष्ठ छेदन किये जाते हैं उनके छेदन का प्रयोजक "यूप" है "स्वरु" नहीं।

सम्पूर्ण अधिकरण का सार यह निकला कि यूप की भांति खदिर आदि छेदन का "स्वरु" प्रयोजक नहीं किन्तु अप्रयोजक है।

सं०-अब "आहरण" को शाखा का धर्म्म कथन करते हैं:-

शाखायां तत्प्रधानत्वात्। ७।

पद०-शाखायां। तत्प्रधानत्वात्।

पदा०-(शाखायां) शाखा में आहरण क्रिया का सम्बन्ध जानना चाहिये, क्योंकि (तत्प्रधानत्वात्) वह उक्त क्रिया के प्रति प्रधान है।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "पलाशशाखाया वत्सानपाकरोति"=पलाश की शाखा से बच्छों को गौओं से जुदा करे, इत्यादि वाक्यों से पलाश शाखा का प्रकरण चलाकर "यत्प्राचीमाहरेत् देवलोकमभिजयेत्"= जो प्राची को काटकर लाता है वह देवलोक को विजय करता है, यह वाक्य पढ़ा है. इसमें जो "प्राची"का आहरण=काटकर लाना कथन किया है वह प्राची दिशा का कथन किया है किंवा प्राची दिशा में होने वाली शाखा का अर्थात् उक्त वाक्य में जो "प्राची" शब्द आया है वह पूर्वदिशा का वाचक है अथवा पूर्वदिशा की ओर होने वाली वृक्ष शाखा का ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि शाखा में बच्छों के अपाकरण=गौओं से हटाने का प्रकरण चलाकर"प्राची" वाक्य पढ़ा है, यदि वह स्वतन्त्र पढ़ा होता तो अवश्य प्राची शब्द दिशा वाची कल्पना किया जाता क्योंकि वह दिशा अर्थ में मुख्य तथा तत्सम्बन्धी अर्थ में गौण है परन्तु शाखा के प्रकरण में पठित होने से उक्त शब्द का दिशा अर्थ नहीं करसकते, क्योंकि उक्त अर्थ करने में एक तो प्रकरण के साथ विरोध

होजाता है और दूसरे "आहरण" क्रिया में अन्वय भी नहीं होसक्ता, यह प्रत्येक पुरुष जानता है कि मूर्त्तपदार्थ ही काटकर लाया जासक्ता है अमूर्त्त नहीं, और दिशा का अमूर्त्त होना सर्व-सम्मत है और जब अमूर्त्त होने के कारण दिशा का काटना तथा काटकर लाना दोनों नहीं होसक्ते तब उक्त वाक्य में प्रयुक्त "प्राची" शब्द का "पूर्वदिशा" अर्थ करना किसी प्रकार भी युक्त नहीं, और उक्त शब्द का यदि पूर्वदिशा में होने वाली शाखा अर्थ कियाजाय तो उक्त दोष नहीं आता अर्थात् प्रत्येक शब्द का अर्थ प्रकरण तथा योग्यता के बल से किया जाता है, यदि इन पर ध्यान न दिया जाय तो किसी वाक्य का भी अर्थ नहीं होसक्ता, उक्त वाक्य में जो "प्राची" शब्द आया है वह मुख्यवृत्ति से दिशा का वाची होने पर भी गौणीवृत्ति से पूर्वदिशा में होने वाले पदार्थ का वाची भी सर्वसम्मत है, उक्त दोनों अर्थों के मध्य यहां कौन अर्थ लेना चाहिये यह "सैन्धवमानय" "मञ्चाःक्रोशन्ति" आदि वाक्यों की भांति प्रकरण तथा योग्यता के बल से ही निश्चय होसक्ता है अन्यथा नहीं, प्रकृत में शाखा का प्रकरण स्पष्ट है, क्योंकि उसका उपक्रम करके ही पश्चात् "प्राची" वाक्य पढ़ा है और जैसे शाखा प्रकृत है वैसेही आहरण क्रिया में अन्वय के योग्य भी है, परन्तु उक्त दिशा जैसे प्रकृत नहीं वैसेही उक्त क्रिया में अन्वय के योग्य भी नहीं, और जो प्रकृत तथा अन्वय योग्य अर्थ नहीं उसको छोड़कर प्रकृत तथा अन्वय योग्य अर्थ का ग्रहण करना ही समीचीन है।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि प्राची शब्द का शक्तिवृत्ति से उपस्थित दिशा रूप अर्थ को छोड़कर पूर्वदिशा में होने वाली

शाखा अर्थ करने में लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है और वह शक्तिवृत्ति की अपेक्षा जघन्य है तथापि प्रकरण आदि के साथ विरोध होने से शक्तिवृत्ति को छोड़कर लक्षणा के स्वीकार करने में कोई दोष नहीं, क्योंकि ऐसे स्थलों में शक्तिवृत्ति के त्याग-पूर्वक लक्षणा वृत्ति का स्वीकार लोक तथा शास्त्र उभय सिद्ध है और जो उभय सिद्ध है उसका परित्याग किसी प्रकार भी युक्त नहीं, इस प्रकार उक्त वाक्य में "प्राची" शब्द का पूर्वदिशा में होने वाली शाखा अर्थ होने से आहरण क्रिया को उसका धर्म मानना भी अयुक्त नहीं, क्योंकि शाखा का आहरण भले प्रकार होसक्ता है, इसलिये सिद्ध है कि "**यत्प्राचीमाहरेत्**" वाक्य में जो आहरण कथन किया है वह दिशा का धर्म नहीं किन्तु शाखा का धर्म है।

सं०—अब वत्सापाकरण को शाखा छेदन का प्रयोजक कथन करते हैं:—

शाखायां तत्प्रधानत्वादुपवेषेण विभागः स्याद्वैषम्यंतत् । ८ ।

पद०—शाखायां । तत्प्रधानत्वात् । उपवेषेण । विभागः । स्यात् । वैषम्यं । तत् ।

पदा०—(शाखायां) शाखा में (उपवेषेण) उपवेष के साथ (विभागः) प्रयोजकता तथा अप्रयोजकता अंश में भेद (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (तत्प्रधानत्वात्) छेदन क्रिया के प्रति शाखा प्रधान तथा (तत्) उपवेष (वैषम्यं) विषम=गौण है।

भाष्य-" दर्शपूर्णमास " याग के प्रकरण में " मूलतः शाखांपरिवास्योपवेषं करोति "=जो पलाश शाखा वृक्ष से काटकर यज्ञभूमि में लाई गई है उसको प्रादेश परिमाण मूल से पुनः काटकर " उपवेष " बनाये. यह वाक्य पढ़ा है. इसमें वृक्ष से छेदन करके लाई गई शाखा का प्रादेश परिमाण मूल से पुनः छेदन करके जो " उपवेष " बनाना विधान किया है वह वृक्ष से उक्त शाखा के छेदन का प्रयोजक है किंवा वत्सापाकरण ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि "शाखया वत्सानपाकरोति "=प्रादेश परिमाण मूलभाग काटकर शेष बची शाखा से बच्चों का अपाकरण करे, "उपवेषेण कपालान्युपदधाति "=उपवेष को कपालों का टेकना बनाये. इत्यादि वाक्यों में वृक्ष से छेदन करके लाई गई समूल शाखा के "शाखा" संज्ञक अग्रभाग तथा "उपवेष" संज्ञक मूलभाग द्वारा वत्सापाकरण तथा कपालोपधान रूप दो प्रयोजन कथन किये हैं जिससे उसके छेदन के प्रयोजक वत्सापाकरण तथा उपवेष दोनों समानतया सिद्ध होते हैं तथापि वृक्ष से उसके छेदन का प्रयोजक वत्सापाकरण ही होसक्ता है. उपवेष नहीं. या यों कहो कि वत्सापाकरण का साधन अग्रभाग संज्ञक शाखा ही प्रयोजक होसक्ती है कपालोपधान का साधन प्रादेश परिमित मूल भाग संज्ञक उपवेष नहीं. क्योंकि वत्सापाकरण प्रधान तथा उपवेष अप्रधान है और प्रधान अप्रधान दोनों के मध्य प्रधान में ही प्रयोजकता रूप कार्य्य के सम्प्रत्यय का नियम है अप्रधान में नहीं अर्थात् "शाखया वत्सानपाकरोति" वाक्य में जो वत्सापाकरण का साधन शाखा कथन की है वह अपनी निष्पत्ति के

लिये जैसे वृक्ष से स्वकीय छेदन की आकांक्षी है वैसे उपवेष नहीं, क्योंकि "उपवेषं करोति" वाक्य से वह अपनी सिद्धि के लिये छेदन का आकांक्षी प्रतीत नहीं होता किन्तु किसी द्रव्य का आकांक्षी प्रतीत होता है और जिस द्रव्य का वह आकांक्षी है वह उक्त वाक्य के "मूलतः परिवास्य" भाग से छेदन करके लाई गई समूल शाखा का मूल भाग स्पष्ट है और वह तभी प्राप्त होसक्ता है जब वत्सापाकरण के लिये शाखा काटकर लाई जाय, इससे स्पष्ट है कि शाखा का वृक्ष के साथ तथा उपवेष का छिन्न शाखा के साथ सम्बन्ध है, यदि उपवेष का अछिन्न शाखा के साथ सम्बन्ध होता तो अवश्य वह उसके छेदन का प्रयोजक होसक्ता परन्तु छिन्न शाखा के साथ सम्बन्ध होने से वह छेदन का प्रयोजक होना असम्भव है।

तात्पर्य्य यह है कि वत्सापाकरण के लिये शाखा का छेदन आवश्यक है उपवेष के लिये नहीं, क्योंकि वह वत्सापाकरण के लिये छेदन करके लाई गई शाखा के प्रादेश परिमित मूल भाग से पश्चात् निष्पन्न होता है और पश्चात् होने के कारण वह शाखा का अनुनिष्पादी सिद्ध होता है शाखा की भांति स्वतन्त्र प्रथम सिद्ध नहीं और जो स्वतन्त्र प्रथम सिद्ध नहीं है वह छेदन का प्रयोजक भी नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध है कि वृक्ष से शाखा के छेदन का प्रयोजक वत्सापाकरण है उपवेष नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

श्रुत्यपायाच्च । ९ ।

पद०-श्रुत्यपायात् । च ।

पदा०-(च) और (श्रुत्यपायात्) श्रुत अर्थ के अभाव की प्राप्ति होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"शाखां छिनत्ति"=शाखा का छेदन करे, इस वाक्य से शाखा का प्रधानतया छेदन क्रिया में अन्वय स्पष्ट है और जिसका जिसमें प्रधान रूप से अन्वय स्पष्ट है वही उसका प्रयोजक होसक्ता है यदि उसको छोड़कर उपवेष को प्रयोजक मानें तो श्रुत अर्थ का सर्वथा परित्याग होजाता है सो ठीक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि "उपवेषं करोति" वाक्य से उपवेष भी करोति क्रिया में प्रधानतया अन्वित होने से प्रधान है तथापि छेदन क्रिया में अन्वित न होने से उसको उसके प्रति प्रधान नहीं मानसक्ते और जो जिसके प्रति प्रधान नहीं वह उसका प्रयोजक भी नहीं होसक्ता ।

सार यह निकला कि "करोति" क्रिया का बनाना तथा "छिनत्ति" क्रिया का अर्थ छेदन है और छेदन क्रिया का विचार उपस्थित होने से करोति क्रिया के प्रति उसका प्रधान होना प्रकृत में उपयुक्त नहीं, और प्रकृत तथा श्रुत अर्थ को छोड़कर अप्रकृत तथा अश्रुत का स्वीकार सर्वथा गर्हित होने से आदरणीय नहीं, इसलिये उक्त उपवेप करोति क्रिया के प्रति प्रधान होने पर भी छेदन क्रिया के प्रति अप्रधान तथा अश्रुत होने के कारण प्रयोजक नहीं होसक्ता ।

सं०-अब शाखा प्रहरण को प्रतिपत्तिकर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

हरणे तु जुहोतिर्योगसामान्याद् द्रव्याणां-

चार्थशेषत्वात् । १० ।

पद०—हरणे । तु । जुहोतिः । योगसामान्यात् । द्रव्याणां । च । अर्थशेषत्वात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (हरणे) "सहशाखयाप्रस्तरंप्रहरति" वाक्य में जो शाखा का प्रहरण कथन किया है वह (जुहोतिः) होम रूप अर्थकर्म है, क्योंकि (योगसामान्यात्) उसका अर्थकर्मरूप प्रस्तर प्रहरण के साथ सम्बन्ध है (च) और (द्रव्याणां) द्रव्य को (अर्थशेषत्वात्) अर्थकर्म का शेष होना नियत है ।

भाष्य—"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति"=शाखा सहित प्रस्तर को आहवनीय अग्नि में डाले, इस वाक्य से जो वत्सापाकरण में उपयुक्त शाखा का आहवनीय अग्नि में प्रहरण कथन किया है वह अर्थ कर्म है किंवा प्रतिपत्ति कर्म है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में जिस प्रस्तर प्रहरण के साथ शाखा का प्रहार विधान किया है वह अर्थ कर्म है जैसाकि मी० ३।३।११ आदि में निर्णय किया गया है, और उसके अर्थकर्म होने से तत्सहचारी शाखाप्रहार को भी अर्थ कर्म होना ही आवश्यक है, क्योंकि सहचार प्रायः समानों का ही होता है विषमों का नहीं, यदि प्रस्तर प्रहार की भांति शाखा प्रहार को अर्थ कर्म न मानें किन्तु प्रतिपत्ति कर्म मानें तो उसका प्रस्तर प्रहरण के साथ श्रूयमाण सहचार सर्वथा निरर्थक होजाता है अर्थात् प्रस्तर प्रहरण में जब "प्रहराति" धातु का अर्थ होम निर्णीत है तब उसके सहचारी शाखा प्रहरण

में उक्त धातु का प्रहारमात्र अर्थ मानना ठीक नहीं, यह प्रत्येक पुरुष समझ सक्ता है कि प्रस्तर प्रहरण के साथ जो शाखा प्रहरण का सहचार दिखलाया है उसका कोई असाधारण प्रयोजन है और वह यही होसक्ता है कि प्रस्तर प्रहरण तथा शाखा प्रहरण दोनों कर्म परस्पर समान हैं, या यों कहो कि जैसे प्रस्तर प्रहरण अर्थ कर्म है वैसेही शाखा प्रहरण भी अर्थ कर्म है, क्योंकि उक्त वाक्य से दोनों का सहयोग पाया जाता है जो विना प्रमाण निरर्थक माना नहीं जासक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे द्रव्य होने से प्रस्तर होम का शेष है वैसेही शाखा भी शेष है, और दोनों के समानतया शेष होने से शेषी कर्म की समानता भी उचित है, इसलिये सिद्ध है कि प्रस्तर प्रहरण की भांति शाखा प्रहरण अर्थ कर्म है प्रतिपत्ति कर्म नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् । ११ ।

पद०-प्रतिपत्तिः । वा । शब्दस्य । तत्प्रधानत्वात् ।

पदा०-" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (प्रतिपत्तिः) शाखाप्रहरण प्रतिपत्ति कर्म है प्रस्तर प्रहरण के समान अर्थ कर्म नहीं, क्योंकि (शब्दस्य) उक्त वाक्य में शाखा का (तत्प्रधानत्वात) प्रस्तर की अपेक्षा गुण रूप में उपादान किया है ।

भाष्य-यद्यपि उक्त वाक्य में शाखा प्रहरण का प्रस्तर प्रहरण के साथ सहचार पाया जाता है तथापि वह दोनों सम नहीं होसक्ते, क्योंकि उक्त वाक्य में प्रस्तर का प्रधानभूत द्वितीया विभक्ति तथा शाखा का गुणभूत तृतीया विभक्ति से निर्देश किया गया है और उनके निर्देश का वैषम्य होने से प्रहरण का भेद होना भी

आवश्यक है, यह लोक सिद्ध बात है कि प्रधान पुरुष का आगमन जैसे अर्थकारी होता है वैसे तत्सहचारी अप्रधान पुरुष का आगमन नहीं और उक्त वाक्य में "सहयुक्तेऽप्रधाने-तृतीया" अष्टा० २। ३। १९ = सहचारी अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है, इस सूत्र के अनुसार तृतीयाविभक्त्यन्त "शाखया" पद से निर्दिष्ट होने के कारण शाखा अप्रधान तथा "कर्मणिद्वितीया" अष्टा० २। ३। २ सूत्र के अनुसार द्वितीयाविभक्त्यन्त "प्रस्तर" पद से निर्दिष्ट होने के कारण प्रस्तर प्रधान है, और प्रधान तथा अप्रधान दोनों के मध्य प्रधान का प्रहार अर्थ कर्म होने पर भी अप्रधान का प्रहार अर्थ कर्म नहीं होसक्ता।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि "प्रहरित" क्रिया में प्रस्तर तथा शाखा दोनों का अन्वय समान है और उक्त क्रिया के एक होने से क्वचित् होम तथा क्वचित् प्रहरण इस प्रकार अर्थ भेद होना भी युक्त प्रतीत नहीं होता तथापि शब्द प्रयोग की विलक्षणता के कारण अर्थ भेद की कल्पना होसक्ती है और वह लोक तथा शास्त्र उभय सिद्ध होने से युक्त होना भी आवश्यक है, क्योंकि क्रिया के होने पर भी उसके साधन द्रव्यों का प्रधान अप्रधान रूप से भेद स्पष्ट है, और उसका भेद होने से क्रिया का भेद होना भी उचित है।

सार यह निकला कि जिस क्रिया का द्रव्य प्रधान है वह अर्थकर्म तथा जिसका अप्रधान है वह प्रतिपत्ति कर्म है, प्रकृत में "शाखा" अप्रधान तथा "प्रस्तर" प्रधान है, इसलिये प्रस्तर प्रहरण का अर्थ कर्म होने पर भी उसका सहचारी शाखा प्रहरण अर्थ कर्म नहीं किन्तु प्रतिपत्ति कर्म है।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

अर्थेऽपीतिचेत् । १२ ।

पद०—अर्थे । अपि । इति । चेत् ।

पदा०—(अर्थे) अप्रधान अर्थ में (अपि) भी द्वितीयाविभक्ति होती है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है।

भाष्य—प्रधान अर्थ में ही द्वितीया विभक्ति होती है अप्रधान अर्थ में नहीं, यह कोई नियम नहीं, क्योंकि "सक्तून् जुहोति" आदि में होम क्रिया के प्रति अप्रधानभूत "सक्तु" आदि से उत्तर भी द्वितीयाविभक्ति का प्रयोग देखा जाता है, यदि प्रधान अर्थ में ही उसके होने का नियम होता तो "सक्तु" में द्वितीया-विभक्ति कदापि न होती और सक्तु होम क्रिया के प्रति अप्रधान सर्वसम्मत हैं, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण मी० २ । १ । ११ आदि में किया गया है यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं, और जब अप्रधान अर्थ में भी द्वितीयाविभक्ति पाई जाती है तब यह सिद्धान्त कदापि नहीं होसक्ता कि द्वितीया विभक्ति से निर्दिष्ट होने के कारण प्रस्तर प्रधान तथा तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट होने के कारण शाखा अप्रधान है और उनके प्रधान तथा अप्रधान होने से प्रहरण भी अर्थकर्म तथा प्रतिपत्तिकर्म से भिन्न है, इसलिये सिद्ध है कि जैसे प्रस्तरप्रहरण अर्थकर्म है वैसेही उसका सहचारी शाखाप्रहरण भी अर्थकर्म है प्रतिपत्तिकर्म नहीं ।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

न तस्यानधिकारात् अर्थस्य च कृत-

त्वात् । १३ ।

पद०—न । तस्य । अनधिकारात् । अर्थस्य । च । कृतत्वात् ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (तस्य) सक्तु आदि का (अनधिकारात्) विनियोग न होने (च) तथा (अर्थस्य) शाखा द्वारा वत्सापाकरण रूप अर्थ के (कृतत्वात्) किये जाने से सक्तु और शाखा परस्पर विलक्षण हैं ।

भाष्य-यद्यपि "सक्तून् जुहोति" आदि में अप्रधानभूत सक्तु आदि से भी द्वितीया विभक्ति देखी जाती है और उसके देखे जाने से प्रस्तरप्रहरण तथा शाखाप्रहरण का भी परस्पर भेद नहीं होसक्ता तथापि सक्तु आदि की अपेक्षा शाखा में महान् वैलक्षण्य है, शाखा प्रथम वत्सापाकरण में विनियोग को प्राप्त है और विनियोग को प्राप्त होने से अब केवल उसका प्रतिपत्ति नामक संस्कार अपेक्षित है परन्तु शाखा की भांति सक्तु आदि प्रथम कहीं विनियुक्त नहीं यदि विनियुक्त होते तो उनके दृष्टान्त से शाखा प्रहरण को अर्थकर्म सिद्ध न किया जाता अर्थात् जैसे सक्तु आदि से सिद्ध होने वाला कर्म प्रतिपत्तिकर्म नहीं किन्तु अर्थकर्म है वैसेही शाखाप्रहरण भी अर्थकर्म कल्पना कियाजाता, परन्तु विनियुक्त अविनियुक्त रूप से भेद होने के कारण दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक परस्पर सङ्गत नहीं और उनके सङ्गत न होने से प्रस्तर प्रहरण की भांति शाखा प्रहरण को भी अर्थकर्म नहीं मानसक्ते ।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि शाखा की भांति प्रस्तर भी स्रुवादि के धारण में प्रथम विनियुक्त है तथापि उसका प्रहरण

यथाविधि त्याग रूप होने से अर्थकर्म होसक्ता है जैसाकि मी० ३।२।१.१. आदि में निर्णय किया गया है परन्तु शाखा का त्याग यथाविधि नहीं किया जाता किन्तु शाखा के इधर उधर पड़े रहने से यज्ञभूमि अशोभित होजाती है और विनियुक्त शाखा का इधर उधर पड़े रहना भी उचित नहीं, क्योंकि वैदिककर्म में विनियुक्त हुई प्रत्येक वस्तु आदरणीय है तिरस्करणीय नहीं, इस अभिप्राय से प्रस्तरप्रहरण के साथ शाखा का प्रहरण भी किया जाता है, यदि प्रस्तरप्रहरण की भांति यह भी यथाविधि होता तो अवश्य अर्थकर्म कल्पना किया जाता परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि शाखा प्रहरण प्रतिपत्तिकर्म है अर्थकर्म नहीं ।

सं०—अब "प्रणीता" पात्रस्थ शेष जल के वेदि में निनयन=सेचन को प्रतिपत्तिकर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्वि-भागः स्यात् । १४ ।

पद०—उत्पत्त्यसंयोगात् । प्रणीतानाम् । आज्यवत् । विभागः । स्यात् ।

पदा०—(आज्यवत्) जैसे "ध्रुवा" पात्रस्थ आज्य का सब कर्मों के लिये समानतया विभाग होता है वैसेही (प्रणीतानां) प्रणीता नामक पात्र में स्थित जल का (विभागः) "संयवन" तथा "निनयन" दोनों कर्मों के लिये विभाग भी (स्यात्) समानतया होना चाहिये, क्योंकि (उत्पत्त्यसंयोगात्) प्रणयन विधायक वाक्य में उसका किसी कार्य्यविशेष के साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता ।

भाष्य—वेद मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक जिस जल का छानकर संस्कार किया जाता है उसको "**प्रणीता**" तथा संस्कार को "**प्रणयन**" कहते हैं, उक्त संस्कृत जल जिस यज्ञपात्रविशेष में रखा जाता है उसका नाम भी "प्रणीता" है "दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "**अपः प्रणयति**" = जल का प्रणयन करे, इस वाक्य से प्रणयन विधान करके पश्चात् "प्रणीता" नामक पात्र में रखे हुए प्रणीत जल के यह दो प्रयोजन कथन किये हैं कि "**प्रणीताभिर्हवींषि संयौति**" = प्रणीत जल से पुरोडाश का आटा साने तथा "**अन्तर्वेदि प्रणीतानिनयति**" = शेष प्रणीत जल वेदि में छिड़के, इन दोनों वाक्यों द्वारा जो संयवन = आटे का सानना तथा निनयन = वेदि में छिड़कना यह दो प्रयोजन कथन किये हैं, उनके मध्य "संयवन" जल के प्रणयन का प्रयोजक तथा स्वयं "अर्थकर्म" सर्वसम्मत होने से इस अधिकरण में विचारणीय नहीं केवल "निनयन" विचारणीय है, उक्त निनयन अर्थकर्म है किंवा प्रतिपत्ति कर्म ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे "**ध्रुवायामाज्यं गृह्णाति**" = ध्रुवा नामक पात्र में घृत का ग्रहण करे, इस वाक्य से "ध्रुवा" पात्र में घृत का ग्रहण मात्र विधान किया है उसका कोई कार्य्यविशेष विधान नहीं किया और उक्त पात्र में ग्रहण किये गये घृत का पश्चात् "**सर्वस्मै वा एतद् यज्ञायगृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्**" = जो "ध्रुवा" पात्र में घृत ग्रहण किया गया है वह यज्ञान्तर्वर्ती

सब कर्मों के लिये है, इस वाक्य द्वारा सब कर्मों में समान विभाग कथन किया है वैसेही "अपः प्रणयति" वाक्य से जल के उक्त दोनों प्रयोजन विधान किये हैं उनके विधायक वाक्यों से यह विशेषता नहीं पाई जाती कि इनमें "संयवन" अर्थकर्म तथा "निनयन" प्रतिपत्तिकर्म है किन्तु जैसे ध्रौव आज्य से होने वाले यज्ञान्तर्वर्ती सब कर्म समान हैं वैसेही प्रणीत जल से होने वाले उक्त दोनों कर्म भी समान पाये जाते हैं और दोनों के समान पाये जाने से विना प्रमाण एक को "अर्थकर्म" तथा दूसरे को "प्रतिपत्तिकर्म" नहीं मान सक्ते, इसलिये "संयवन" की भांति "निनयन" भी अर्थकर्म है प्रतिपत्तिकर्म नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

संयवनार्थानां वा प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् । १९ ।

पद०—संयवनार्थानां । वा । प्रतिपत्तिः । इतरासां । तत्प्रधानत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (संयवनार्थानां) "संयवन" कर्म में उपयुक्त जल से (इतरासां) शेष बचे जल का वेदि में निनयन (प्रतिपत्तिः) प्रतिपत्ति कर्म है, क्योंकि (तत्प्रधानत्वात्) उसके प्रति शेष जल का प्रधान रूप से निर्देश किया है ।

भाष्य—यद्यपि "प्रणयन" विधायक वाक्य से कोई विशेषता नहीं पाई जाती तथापि "संयवन" विधायक तथा निनयन विधायक वाक्यों से विशेषता अवश्य पाई जाती है "संयवन"

विधायक वाक्य में "प्रणीताभिः" इस प्रकार तृतीया विभक्ति से प्रणीत जल को संयवन का साधन कथन किया है उससे जल के प्रणयन का प्रयोजक "संयवन" स्पष्ट अवगत होता है और निनयन वाक्य में इसके विपरीत "प्रणीताः" इस प्रकार द्वितीया विभक्ति से जो शेष प्रणीत जल को "निनयन" का कर्म कथन किया है उससे उसकी प्रतिपत्तिकर्मता स्फुट है और उक्त वाक्य से जिसकी प्रतिपत्तिकर्मता स्फुट है उसका परित्याग ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि जल प्रणयन का प्रयोजक केवल "संयवन" है और "निनयन" उसका प्रतिपत्ति रूप संस्कार-विशेष है।

सं०–अब "दण्डदान" को "अर्थकर्म" कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् । १६ ।

पद०–प्रासनवत् । मैत्रावरुणाय । दण्डप्रदानं । कृतार्थत्वात् ।

पदा०–(प्रासनवत्) जैसे कण्डूयन के साधनभूत विषाणाकार काष्ठविशेष का "चत्वाल नामक गर्त = गड्ढे में प्रक्षेप = प्रतिपत्ति कर्म है वैसेही (मैत्रावरुणाय) यजमान का "मैत्रावरुण" नामक ऋत्विक् के प्रति (दण्डप्रदानं) दण्ड का देना भी प्रतिपत्तिकर्म है क्योंकि (कृतार्थत्वात्) वह दीक्षाकर्म में प्रथम विनियुक्त होने से चरितार्थ है।

भाष्य–"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में "**क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति**"=अध्वर्यु ने दीक्षा काल

में जो दण्ड यजमान को दिया है सोम के मूल्य लिये जाने पर यजमान वह दण्ड मैत्रावरुण नामक ऋत्विक को दे दे, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो यजमान का "मैत्रावरुण" नामक ऋत्विक् को दण्ड देना कथन किया है, या यों कहो कि जो यजमानकर्तृक दण्ड का दान विधान किया है वह प्रतिपत्तिकर्म है किंवा अर्थकर्म है? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि दण्ड यजमान के दीक्षा रूप कर्म में प्रथम विनियुक्त है, क्योंकि वह दीक्षा की सिद्धि के लिये ही अध्वर्यु द्वारा यजमान को दिया गया है और प्रथम विनियुक्त होने के कारण अब उसका पुनः विनियोग अपेक्षित नहीं किन्तु प्रतिपत्ति ही अपेक्षित है और वह उक्त वाक्य से स्पष्ट है, इसलिये सोम मूल्य लिये जाने पर जो मैत्रावरुण ऋत्विक् के प्रति यजमानकर्तृक दण्ड का दान है वह अर्थकर्म नहीं किन्तु प्रतिपत्तिकर्म है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात् स्रग्वत् ।१७।

पद०—अर्थकर्म। वा। कर्तृसंयोगात्। स्रग्वत।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (स्रगवत्) जैसे उद्गाता को स्रग=माला का देना अर्थकर्म है वैसे ही (अर्थकर्म) मैत्रावरुण ऋत्विक् के प्रति यजमानकर्तृक दण्ड का दान भी अर्थकर्म है क्योंकि (कर्तृसंयोगात्) उसका मैत्रावरुण के साथ गौण सम्बन्ध पाया जाता है।

भाष्य—मैत्रावरुण को जो दण्ड दिया जाता है वह निष्प्रयोजन नहीं किन्तु उसके संस्कारार्थ होने से सप्रयोजन है, यदि दण्ड

का दान भी प्रस्तर प्रहरण की भांति होता तो अवश्य प्रतिपत्ति-कर्म माना जाता परन्तु संस्कारार्थ होने के कारण वह प्रतिपत्तिकर्म नहीं मानाजासक्ता अर्थात् "उदगात्रेस्रजंप्रयच्छति"= उद्गाता को एक माला दे, इस वाक्य से विहित स्रग्=माला का दान जैसे उद्गाता के संस्कारार्थ होने से अर्थकर्म है वैसे ही दण्ड दान भी मैत्रावरुण के संस्कारार्थ होने से अर्थकर्म है।

तात्पर्य्य यह हैं कि जैसे माला के पहरने से उद्गाता साम गान के योग्य होजाता है वैसे दण्ड संयुक्त होने से मैत्रावरुण भी प्रैषादि कर्म के योग्य होजाता है और जो जिसका संस्कारक है उसका उसके साथ गौण सम्बन्ध ही होसक्ता हैं मुख्य नहीं और सम्बन्ध के गौण होने से स्पष्ट होजाता है कि पुरुष प्रधान और दण्ड गौण है, क्योंकि वह पुरुष का संस्कारक हैं, और पुरुष का प्रधान होना "मैत्रावरुणाय" इस चतुर्थी विभक्ति से स्फुट है पाणिनिशास्त्र में उक्त विभक्ति का विधान क्रिया के प्रति सम्प्रदान रूप प्रधान कारक में सुप्रसिद्ध हैं और उसके प्रधान होने से गौण दण्ड का स्रग् की भांति संस्कारक मानना ही ठीक है और उसके संस्कारक होने से उसका दान भी प्रतिपत्ति कर्म सिद्ध नहीं होसक्ता क्योंकि उक्त कर्म किसी के संस्कारार्थ नहीं होता, इसलिये सिद्ध है कि मैत्रावरुण के प्रति यजमानकर्तृक दण्डदान अर्थकर्म है प्रतिपत्तिकर्म नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

कर्मयुक्ते च दर्शनात्। १८।

पद०-कर्मयुक्ते। च। दर्शनात्।

पदा०-(च) और (कर्मयुक्ते) प्रैषादि रूप कर्मयुक्त मैत्रावरुण

के हाथ में (दर्शनात्) उक्त दण्ड के पायें जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"दण्डी प्रैषानन्वाह"=दण्डधारी मैत्रावरुण प्रैषों का उच्चारण करता है, इत्यादि वाक्यों मे मैत्रावरुण का दण्ड हाथ में पकड़कर प्रैष का उच्चारण करना स्पष्ट रूप से पाया जाता है यदि प्रतिपत्ति के लिये मैत्रावरुण को दण्ड दिया जाता तो प्रैषोच्चारण समय उसके हाथ में उक्त दण्ड का होना उक्त वाक्य से न पाया जाता किन्तु यजमानकर्तृक दान किये दण्ड का मैत्रावरुण द्वारा कहीं फेंकना पायाजाता, प्रैषोच्चारण में दण्ड का साहित्य पाये जाने से स्पष्ट होजाता है कि दण्ड का दान भावी प्रैषोच्चारणरूप कर्म में विनियोगार्थ है प्रतिपत्त्यर्थ नहीं, और एक कर्म में विनियुक्त का कर्मान्तर में पुनः विनियोग विरुद्ध नहीं और जिसका संस्कार रूप से कर्मान्तर में विनियोग है उसका दान अर्थकर्म ही होसक्ता है प्रतिपत्तिकर्म नहीं, इसलिये सिद्ध है कि दण्डदान प्रतिपत्ति कर्म नहीं किन्तु अर्थकर्म है।

सं०-अब "प्रासन" को प्रतिपत्तिकर्म कथन करते हैं:-

उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तत् श्रुतिहेतुत्वात् तस्यार्थान्तरगमनेऽशेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात्। १५।

पद०-उत्पत्तौ। येन। संयुक्तं। तदर्थं। तत्। श्रुतिहेतुत्वात्। तस्य। अर्थान्तरासने। अशेषत्वात्। प्रतिपत्तिः। स्यात्।

पदा०-(उत्पत्तौ) उत्पत्ति वाक्य में (येन) जिसके साथ (संयुक्तं) जो संयुक्त है (तत्) वह (तदर्थं) उसी के लिये है,

क्योंकि (श्रुतिहेतुत्वात्) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है (तस्य) और पुनः उसका (अर्थान्तरगमने) अन्य अर्थ में विनियोग हो तो (प्रतिपत्तिः) वह प्रतिपत्ति रूप ही (स्यात्) होना उचित है, क्योंकि (अशेषत्वात्) वह अङ्ग नहीं किन्तु प्रधान है।

भाष्य–" ज्योतिष्टोम " याग के प्रकरण में " **प्रत्तासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति** " = सब ऋत्विजों को दक्षिणा दिये जाने पर यजमान कण्डूयन के साधनभूत विषाणाकार काष्ठविशेष का " चात्वाल " नामक गर्त्त = गढ़ेविशेष में प्रासन करे = फेंक दे. यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो " कृष्णविषाणा " का प्रासन = गर्तविशेष में फेंकना कथन किया है वह प्रतिपत्ति कर्म है अथवा अर्थकर्म है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि " **कृष्णविषाणयाकण्डूयते** " कृष्णविषाण के आकार काष्ठविशेष से यजमान अपने सिर आदि का कण्डूयन = खुरकना करे, इस उत्पत्ति वाक्य में कृष्णविषाणा का कण्डूयन कर्म के साथ संयोग पाया जाता है जिससे उसका कण्डूयनार्थ होना स्पष्ट है " कृष्णविषाणया " इस तृतीया श्रुति से उक्त विषाणा की कण्डूयन क्रिया के प्रति अङ्गता सिद्ध है जिसका परित्याग कदापि नहीं होसक्ता और उदाहृत वाक्य मे कृष्णविषाणा की " प्रासन " के प्रति प्रधानता स्पष्ट है, क्योंकि उक्त वाक्य में उसका प्रधान वाची द्वितीया विभक्ति से निर्देश किया गया है और " प्रास्यति " क्रिया के प्रतिकर्म कारक होने से उसको किसी प्रकार से भी अप्रधान नहीं मानसक्ते. इस प्रकार उत्पत्ति वाक्य से कण्डूयन क्रिया में विनियुक्त कृष्णविषाणा का उदाहृत वाक्य मे प्रासन

क्रिया के प्रति प्रधानतया निर्देश होने के कारण यह कदापि नहीं कहसके कि उक्त विषाणा का प्रासन अर्थकर्म है, क्योंकि अर्थकर्म में क्रिया अथवा कर्त्ता की प्रधानता आवश्यक है और यहां उसके विपरीत उक्त विषाणा रूप द्रव्य ही प्रधान है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त विषाणा का प्रासन प्रतिपत्तिकर्म है अर्थकर्म नहीं।

सं०-अब "अवभृथनयन" को प्रतिपत्तिकर्म कथन करते हैं:-

सौमिके च कृतार्थत्वात्। २०।

पद०-सौमिके। च। कृतार्थत्वात्।

पदा०-(च) और (सौमिके) ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत "अवभृथ" देश में जो सोमलिप्त पात्रों का नयन कथन किया है वह "प्रतिपत्ति" कर्म है, क्योंकि (कृतार्थत्वात्) उक्त पात्र अन्यत्र स्व २ कर्म में चरितार्थ हैं।

भाष्य-"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में "**यत्किञ्चित्सोमलिप्तं द्रव्यं तेनावभृतंयन्ति**"=जितने सोमलिप्त पात्र हैं उनका सोमसहित "अवभृथ" नामक याग देश में नयन करे=लेजाये, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो सोमलिप्त पात्रों का "**अवभृथनयन**"=अवभृथ नामक याग के देश में लेजाना कथन किया है वह प्रतिपत्ति कर्म है किंवा अर्थकर्म है? इसमें प्रथमपक्ष सिद्धान्ती तथा द्वितीयपक्ष पूर्वपक्षी का है, सिद्धान्ती का कथन यह है कि स्व २ कर्म में चरितार्थ पात्रों का उक्त वाक्य द्वारा "अवभृथनयन" विधान किया है अचरितार्थों का नहीं, यदि अचरितार्थों का होता तो उनके नयन को अर्थकर्म

अवश्य कल्पना किया जाता परन्तु चरितार्थों का विधान किया है इसलिये नयन कदापि अर्थकर्म नहीं होसक्ता, क्योंकि अर्थकर्म के लिये पहले अचरितार्थ तथा आगे उपयुक्त होना आवश्यक है परन्तु उक्त वाक्य से "अवभृथ" में उक्त पात्रों का कोई उपयोग प्रतीत नहीं होता और देशविशेष में नयन का विधान स्पष्ट है इसलिये सिद्ध है कि अवभृथनयन "अर्थकर्म" नहीं किन्तु "प्रतिपत्तिकर्म" है।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

अर्थकर्म वाऽभिधानसंयोगात् । २१ ।

पद०—अर्थकर्म । वा । अभिधानसंयोगात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष के सूचनार्थ आया है (अर्थकर्म) "अवभृथनयन" अर्थकर्म है, क्योंकि (अभिधानसंयोगात्) उक्त पात्रों का "अवभृत" याग के साथ अङ्गरूप से सम्बन्ध पाया जाता है।

भाष्य—यदि उक्त पात्रों का अवभृथ देश के साथ सम्बन्ध होता तो अवश्य "अवभृथनयन" प्रतिपत्ति कर्म होसक्ता परन्तु उदाहृत वाक्य द्वारा उनका "अवभृथ" याग के साथ साधन रूप से सम्बन्ध पाया जाता है, क्योंकि उक्त वाक्य में "तेन" साधन विभक्ति से उक्त पात्रों का निर्देश किया गया है, इससे स्पष्ट है कि उक्त पात्र साधन तथा "अवभृथ" यागसाध्य है, और उक्त याग के प्रति साधन होने से उक्त पात्रों का नयन अर्थकर्म ही होसक्ता है प्रतिपत्तिकर्म नहीं अर्थात् "तेनावभृथंयन्ति" वाक्यों द्वारा उक्त पात्रों से "अवभृथ" याग का

सम्पादन करे, यह अर्थ है, सोम सहित उक्त पात्रों को अवभृथ देश में लेजाय, यह अर्थ नहीं, और उक्त अर्थ होने में उक्त पात्र " अवभृथ " नामक याग रूप अर्थ के साधन स्पष्ट हैं और जो अर्थ के साधन हैं उनका नयन अर्थकर्म होना ही उचित है प्रतिपत्तिकर्म नहीं, इसलिये सिद्ध है कि " अवभृथनयन " अर्थकर्म है प्रतिपत्ति कर्म नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

प्रतिपत्तिर्वातन्न्यायत्वाद्देशार्थाऽवभृथ-श्रुतिः । २२ ।

पद०—प्रतिपत्तिः । वा । तत । न्यायत्वात । देशार्था । अवभृथश्रुतिः ।

पदा०—" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (तत्) अवभृथनयन (प्रतिपत्तिः) प्रतिपत्ति कर्म है, क्योंकि (न्यायत्वात्) युक्ति से ऐसा ही पाया जाता है और (अवभृथश्रुतिः) उदाहृत वाक्य में " अवभृथ " शब्द (देशार्था) देश का वाचक है याग का नहीं ।

भाष्य—उदाहृत वाक्य में जो " अवभृथ " शब्द है वह देश का वाचक है याग का नहीं, अतएव " तेन " भी साधन विभक्ति नहीं किन्तु सहयोग में तृतीया विभक्ति है, और ऐसा मानना युक्तियुक्त भी है, क्योंकि उक्त याग सोमलिप्त पात्रों से नहीं किया जाता और उक्त पात्र प्रथम अपने २ स्थान में चरितार्थ हैं, अब केवल उनकी प्रतिपत्ति अपेक्षित है और वह तभी होसक्ती है जब उनको किसी देशविशेष में फेंका जाय, इस प्रकार अपेक्षित

अर्थ के लाभार्थ उक्त वाक्य का "सोमलिप्त पात्रों में अवभृथ नामक याग का सम्पादन करे, यह अर्थ करना अयुक्त है किन्तु सोमसहित पात्रों को अवभृथ देश में लेजाय, यह अर्थ ही युक्त है और ऐसा अर्थ करने में अपेक्षित अर्थ का लाभ भले प्रकार होजाता है और उक्त अर्थ के करने में कोई दोष भी नहीं है, इसलिये यही मानना उचित है कि "अवभृथनयन" प्रतिपत्ति-कर्म है अर्थकर्म नहीं।

सं०—अब कर्ता, देश तथा काल का नियम कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगेनित्यसम-वायात् । २३ ।

पद०—कर्तृदेशकालानाम । अचोदनं । प्रयोगे । नित्यसमवायात् ।

पदा०—(कर्तृदेशकालानां) कर्ता, देश तथा काल की (अचोदनं) विधि अपेक्षित नहीं, क्योंकि (प्रयोगे) वह कर्मानुष्ठान में (नित्यसमवायात्) नित्य समवेत होने से स्वयं प्राप्त है ।

भाष्य—"पशुबन्धस्य यज्ञक्रतोः षड्ऋत्विजः १ दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः २ चातुर्मास्यानां क्रतूनां पञ्चऋत्विजः ३ अग्निहोत्रस्य यज्ञक्रतोरेक ऋत्विक् ४ सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः" ५="पशुबन्ध" नामक याग में ६ ऋत्विक् (१) दर्शपूर्णमास में ४ ऋत्विक् (२) चातुर्मास्य यागों में ५ ऋत्विक् (३) अग्निहोत्र में एक ऋत्विक् (४) सोम याग में १७ ऋत्विक्

(९) होने चाहिये "सम मे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत १ प्राचीन प्रवणे वैश्वदेवेन यजेत" २=सम देश में दर्शपूर्णमास याग करे (१) पूर्वदिशा की ओर निम्नदेश में वैश्वदेव याग करे (२) "पौर्णमास्यां पौर्णमास्यायजेत १ अमावास्यायाममावास्यया यजेत" २=पूर्णमासी में पौर्णमास याग तथा अमावास्या में दर्श याग करे. इत्यादि वाक्यों में जो याग के कर्ता ऋत्विजों, सम आदि देशों तथा पूर्णमासी आदि कालों का विधान किया है वह अनुवादार्थ किया है किंवा नियमार्थ ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है. पूर्वपक्षी का कथन यह है कि विधान उसी का होसक्ता है जो प्रथम प्राप्त नहीं और जो प्रथम ही स्वयं प्राप्त है उसके विधान मानने की कोई आवश्यकता नहीं. कर्ता. देश तथा काल यह तीनों कर्मानुष्ठानान्यथानुपपत्ति से प्रथम ही स्वयं प्राप्त हैं क्योंकि कोई कर्म कर्ता. देश तथा काल के बिना नहीं होसक्ता वह अवश्य किसी काल किसी देश तथा किसी कर्ता से अनुष्ठेय होना चाहिये. इस प्रकार कर्ता, देश तथा काल तीनों की स्वयं प्राप्ति होने से जो उक्त वाक्यों में उनका विधान किया है वह नियमार्थ नहीं कि यागानुष्ठान में उक्त ऋत्विक. देश तथा काल अवश्य हों किन्तु अनुवादार्थ किया है ।

तात्पर्य्य यह है कि कर्मानुष्ठान के साथ नियत होने से कर्ता. देश तथा काल तीनों स्वयं प्राप्त हैं और विधान सर्वदा अप्राप्त का ही होता है प्राप्त का नहीं यह नियम है. इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में जो कर्ता आदि का विधान है वह अनुवादार्थ है नियमार्थ नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

नियमार्था वा श्रुतिः । २४ ।

पद०—नियमार्था । वा । श्रुतिः ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (श्रुतिः) कर्ता आदि की स्वयं प्राप्ति होने पर भी जो पुनः विधान किया है वह (नियमार्था) नियम के लिये है ।

भाष्य—यद्यपि कर्मानुष्ठानान्यथानुपपत्ति से कर्त्ता आदि प्रथम प्राप्त हैं तथापि प्रति याग उनका नियम प्राप्त नहीं और जो प्रथम प्राप्त नहीं है उनका विधान होसक्ता है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध है कि कर्त्ता आदि का विधान अनुवादार्थ नहीं किन्तु नियमार्थ है कि प्रतियाग उतने ही ऋत्विक् वैसाही देश वही काल होना चाहिये अन्यथा नहीं ।

सं०—अब गुण का नियम कथन करते हैं :—

तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् । २५ ।

पद०—तथा । द्रव्येषु । गुणश्रुतिः । उत्पत्तिसंयोगात् ।

पदा०—(तथा) जैसे कर्ता आदि का विधान नियमार्थ है वैसेही (द्रव्येषु) प्रति द्रव्य (गुणश्रुतिः) गुण का विधान भी नियमार्थ है, क्योंकि (उत्पत्तिसंयोगात्) उसका उत्पत्ति वाक्य से द्रव्य के साथ सम्बन्ध है ।

भाष्य—"वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः"= सम्पूर्ण जगत् के प्राणदाता परमात्मा के उद्देश से श्वेत पशु का दान

करे इत्यादि वाक्यं इस अधिकरण के विषय हैं, इनमें जो दान-क्रिया के साधनभूत पशुरूप द्रव्य का श्वेतगुण विधान किया है वह नियमार्थ है किंवा नहीं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र से इस प्रकार कीगई है कि क्रिया के साधनद्रव्य के साथ गुण का सम्बन्ध उक्त उत्पत्ति वाक्य से सिद्ध है वह अन्यथा नहीं होसक्ता और क्रिया का साधनद्रव्य कैसा होना चाहिये इस आकांक्षा के शमनार्थ गुण का नियम भी आवश्यक है और जो आवश्यक है उसका मानना उचित है अनुचित नहीं, इसलिये कर्ता, देश, कालादि की भांति याग के साधन द्रव्यों में जो गुणों का विधान किया गया है वह नियमार्थ है कि उक्त द्रव्य वैसे गुण वाले ही होने चाहिये जैसेकि विधान किये गये हैं अन्यथा नहीं।

सं०–अब अवघातादि संस्कारों का नियम कथन करते हैं :–

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् । २६ ।

पद०–संस्कारे । च । तत्प्रधानत्वात् ।

पदा०–(च) और (संस्कारे) अवघात आदि संस्कारों में भी नियम ही जानना चाहिये, क्योंकि (तत्प्रधानत्वात्) उनके विधायक वाक्य में नियम की प्रधानता पाई जाती है ।

भाष्य–"व्रीहीन वहन्ति" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इन वाक्यों में जो व्रीहि आदि द्रव्यों के अवहननादि संस्कार विधान किये गये हैं वह नियत हैं किंवा अनियत ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि तण्डुल आदि की निष्पत्ति के लिये अवहनन आदि संस्कार लोक से प्राप्त हैं तथा पक्ष में प्राप्त नख विदलनादि की

व्यावृत्ति के लिये उक्त संस्कारों का नियम मानना ठीक है, इसलिये सिद्ध है कि प्रति द्रव्य उक्त संस्कार नियत है अनियत नहीं ॥

सं०-अब याग शब्द का अर्थ कथन करते हैं :-

यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदायेकृतार्थत्वात् । २७ ।

पद०-यजतिचोदना । द्रव्यदेवताक्रियं । समुदाये । कृतार्थत्वात् ।

पदा०-(द्रव्यदेवताक्रियं) द्रव्य, देवता तथा क्रिया इन तीनों का समुदाय (यजतिचोदना) याग शब्द का अर्थ है, क्योंकि (समुदाये) उसका उक्त समुदाय में ही (कृतार्थत्वात्) सङ्केत किया गया है ।

भाष्य-परमात्मा के उद्देश से द्रव्य के त्याग का नाम "याग" है, या यों कहो कि द्रव्य, देवता तथा क्रिया इन तीनों का समुदाय याग शब्द का अर्थ है, क्योंकि सृष्टि के आदि में उक्त समुदाय रूप अर्थ के साथ ही परमात्मा की ओर से सङ्केत किया गया है जैसाकि विधिवाक्यों में स्फुट है अर्थात् जितनी विधियें पाई जाती हैं उनमें सर्वत्र उक्त तीनों का ही उल्लेख पाया जाता है यदि उक्त शब्द का अर्थ उक्त समुदाय न होता तो उक्त उल्लेख कदापि न पाया जाता उसके पाये जाने से सिद्ध है कि द्रव्य, देवता तथा त्याग रूप क्रिया यह तीनों वा तीनों का समुदाय याग शब्द का अर्थ है ।

सं०-अब होम शब्द का अर्थ कथन करते हैं :-

तदुक्तेश्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात् । २८ ।

पद०—तदुक्ते । श्रवणात् । जुहोतिः । आसेचनाधिकः । स्यात् ।

पदा०—(आसेचनाधिकः) याग शब्द के अर्थ मे केवल आसेचन अधिक (जुहोतिः) होम शब्द का अर्थ है, क्योंकि (तदुक्ते) याग शब्द के अर्थ में ही (श्रवणात्) होमवाची जुहोति शब्द का प्रयोग पाया जाता हैं ।

भाष्य—द्रवीभूत द्रव्य का अग्नि के साथ संयोग "आसेचन" शब्द का अर्थ है, याग शब्द का जो ऊपर अर्थ किया है उसमें आसेचन के मिलाने से होम शब्द का अर्थ होजाता है अर्थात् होम शब्द तथा याग शब्द का एक ही अर्थ है भेद केवल इतना है कि याग में परमात्मा के उद्देश से द्रव्य का त्याग मात्र किया जाता है और होम में त्यक्त द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप किया जाता है वस्तुतः परमात्मा के उद्देश से द्रव्य का त्याग दोनों में समान है और उक्त दोनों शब्दों का अर्थ समान होना उचित भी है क्योंकि बहुधा यागवाची यजति शब्द के स्थान में होमवाची "जुहोति" शब्द का प्रयोग पाया जाता है, इसलिये जो यजति शब्द का अर्थ है आसेचन अधिक वही जुहोति शब्द का अर्थ है ।

सं०—अब "बर्हि" की आतिथ्यादि साधारणता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

विधेःकर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात् । २९ ।

पद०—विधेः। कर्मापवर्गीत्वात्। अर्थान्तरे। विधिप्रदेशः। स्यात्।

पदा०—(अर्थान्तरे) जिस याग में जिस द्रव्य की विधि है उससे भिन्न याग में (विधिप्रदेशः) विहित द्रव्य के धर्मों का अतिदेश होता है, क्योंकि (विधेः) विधि को (कर्मापवर्गीत्वात्) कर्म की समाप्ति पर्य्यन्त का ही नियम है।

भाष्य—"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में "यदातिथ्यायां बर्हिः, तदुपसदां, तदग्नीषोमीयस्य च" = जो बर्हि "आतिथ्या" नामक इष्टि में है वही उपसद होमों में और वही अग्नीषोमीय याग में, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें जो "आतिथ्या" के लिये "बर्हिः" विधान कीगई है वही उपसदादि के लिये है किंवा उपसदादि में उक्त बर्हि के धर्मों का अतिदेश होता है अर्थात् जिस "बर्हि" से आतिथ्या नामक इष्टि होती है उसी से "उपसद" होम तथा "अग्नीषोमीय" याग होता है अथवा उक्त बर्हि के धर्मों वाले किसी अन्य घास से? यह सन्देह है, इसमें अन्तिम पक्ष पूर्वपक्षी तथा प्रथम पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जिसका विधान जहां किया गया है वह वहां ही समाप्त होजाता है उससे आगे नहीं जासक्ता और यदि जाता है तो केवल धर्मों के द्वारा ही जाता है अर्थात् उसके धर्मों का अतिदेश होकर तत्सदृश में लक्षणा होती है, प्रकृत "आतिथ्या" याग में बर्हि की विधि है उपसदादि में उसका जाना असम्भव है, इसलिये सिद्ध है कि आतिथ्या में "बर्हिः" स्वयं और उपसदादि में उसके धर्मों का अतिदेश है।

सोम मूल्य लेकर यज्ञशाला में लाने पर जो इष्टि कीजाती है उसका नाम "आतिथ्या" इसके अनन्तर तीन दिन पर्यन्त होने वाले

होमों का नाम "उपसद्" तथा औपवस्थ्य दिन में होनेवाले याग का नाम "अग्नीषोमीय" है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

अपिवोत्पत्तिसंयोगादर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतुः स्यात्। ३०।

पद०—अपि। वा। उत्पत्तिसंयोगात्। अर्थसम्बन्धः। अविशिष्टानां। प्रयोगैकत्वहेतुः। स्यात्।

पदा०—"अपि, वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आये हैं (उत्पत्तिसंयोगात्) उत्पत्ति वाक्य में विहित होने के कारण (अर्थसम्बन्धः) बर्हि का आतिथ्यादि तीनों के साथ सम्बन्ध (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (अविशिष्टानां) समान रूप से विधान किये द्रव्य (प्रयोगैकत्वहेतुः) प्रतियाग एक रूप से ही अनुष्ठान के हेतु होते हैं।

भाष्य—"बर्हिर्लुनाति"=बर्हि को काटे, इत्यादि उत्पत्ति वाक्यों द्वारा बर्हि का समान रूप से विधान किया है और "यदातिथ्यायां" वाक्य में उसका आतिथ्यादि तीनों के साथ समान रूप से विनियोग कथन किया है और जिसका समान रूप से विधान तथा विनियोग कथन किया है उसका विशेष अर्थ में सङ्कोच नहीं होसक्ता और यदि इसका परित्याग करके उक्त बर्हि का आतिथ्या मात्र में स्वरूप से विनियोग तथा उपसदादि में उसके धर्मों का अतिदेश माना जाय तो लक्षणा का आश्रयण करना पड़ता है जो नितान्त जघन्य है और जघन्य का स्वीकार उसी अवस्था में होसक्ता है जब और कोई व्यवस्था न होसके परन्तु

प्रकृत में सम्पूर्ण व्यवस्था स्वतः सिद्ध है जिसके स्वीकार में कोई दोष नहीं, इसलिये सिद्ध है कि जो आतिथ्या के लिये बर्हि लाई जाती है वह केवल आतिथ्या के लिये ही नहीं किन्तु आतिथ्या, उपसद् तथा अग्नीषोमीय तीनों के लिये है, अतएव उक्त बर्हि के सम्पादन का प्रयोजक भी तीनों हैं केवल आतिथ्या ही नहीं ।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
चतुर्थाध्याये
द्वितीयपादः

ओ३म्

। अथ चतुर्थाध्याये तृतीयपादः प्रारभ्यते ।

सङ्गति–अब द्रव्य, संस्कार तथा अङ्ग कर्मों को क्रत्वर्थ कथन करते हैं :–

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुति-र्र्थवादः स्यात् । १ ।

पद०–द्रव्यसंस्कारकर्मसु । परार्थत्वात् । फलश्रुतिः । अर्थवादः । स्यात् ।

पदा०–(द्रव्यसंस्कारकर्मसु) द्रव्य, संस्कार तथा कर्मों में (फलश्रुतिः) जो फल सुनाजाता है (अर्थवादः) वह अर्थवाद (स्यात्) है, क्योंकि (परार्थत्वात्) उक्त तीनों क्रतु के लिये हैं ।

भाष्य–"यस्यपर्णमयीजुहूर्भवति न स पापं श्लोकंशृणोति"=जिसकी जुहू पलाश की होती है वह अपने अपयश को नहीं सुनता "यदङ्क्तेचक्षुरेवभ्रातृव्यस्यवृङ्क्ते"=जो नेत्रों में अञ्जन करता है वह शत्रु के नेत्र को फोड़ता है "प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्यक्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै"=जो प्रयाज तथा अनुयाज कर्म किये जाते हैं वह यजमान के वर्म=संजोय स्थानी हैं, और उससे शत्रु का अभिभव होता है, इत्यादि वाक्यों में जो जुहू का प्रकृतिभूत पलाश

रूप द्रव्य अञ्जन रूप चक्षु का संस्कार तथा प्रयाज अनुयाज रूप कर्म विधान किये हैं वह पुरुषार्थ हैं किंवा क्रत्वर्थ हैं? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि उक्त वाक्यों से उक्त द्रव्यादि तीनों के फल सुने जाते हैं जिससे उनके "पुरुषार्थ" होने की सम्भावना होसक्ती है परन्तु वह फल केवल अर्थवाद मात्र हैं वस्तुतः फल में उक्त वाक्यों का तात्पर्य्य नहीं, क्योंकि फल सर्वदा साध्य हुआ करता है यह नियम है, और उक्त वाक्यों से उसके साध्य होने की प्रतीति नहीं होती, द्रव्य के फल में जो "न शृणोति" संस्कार के फल में "वृङ्क्ते" तथा कर्म के फल में "वर्मक्रियते" क्रियापद दिये गये हैं वह सब वर्त्तमानार्थक हैं विध्यर्थक नहीं, यदि विध्यर्थक होते तो फल को साध्य माना जाता, वर्त्तमानार्थक प्रयोग करने से स्पष्ट है कि द्रव्यादि तीनों "पुरुषार्थ" नहीं किन्तु "क्रत्वर्थ" हैं और फल श्रुति केवल पुरुष प्रवृत्ति के लिये होने से अर्थवाद है, इस प्रकार फल के अर्थवाद होने से उक्त तीनों को पुरुषार्थ भी नहीं मानसक्ते, इसलिये सिद्ध है कि वह क्रत्वर्थ हैं पुरुषार्थ नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:—

उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् । २ ।

पद०—उत्पत्तेः । च । अतत्प्रधानत्वात् ।

पदा०—(च) और (उत्पत्तेः) उत्पत्ति वाक्य से (अतत्प्रधानत्वात्) फल के प्रति पुरुष की प्रधानता न पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-यदि उक्त वाक्यों में पुरुष के उद्देश से फल का श्रवण होता तो अवश्य उनको पुरुषार्थ कल्पना किया जाता परन्तु द्रव्यादि के उद्देश से फल का श्रवण पायाजाता है अर्थात् जुहू आदि के उद्देश से उक्त फल कथन किया है कि ऐसे जुहू आदि होने से उक्त फल होता है. यदि उक्त वाक्यों में पुरुष के उद्देश से फल कथन कियाजाता तो पुरुष के प्रधान होने से द्रव्यादि तीनों भी पुरुषार्थ होते परन्तु उनमें द्रव्यादि के उद्देश से उक्त फल का श्रवण स्पष्ट है. इसलिये सिद्ध है कि उक्त द्रव्यादि तीनों पुरुषार्थ नहीं किन्तु क्रत्वर्थ हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ को ही पुनः स्पष्ट करते हैं:-

फलन्तु तत्प्रधानायाम् । ३ ।

पद०-फलं । तु । तत्प्रधानायाम् ।

पदा०-" तु " शब्द उक्त अर्थ की दृढ़ता के अभिप्राय से आया है (फलं) पाप श्लोक का अश्रवण आदि रूप जो फल है वह (तत्प्रधानायां) जुहू आदि की प्रधानता मानने में ही सङ्गत होसक्ता है अन्यथा नहीं।

भाष्य-जितनी याग क्रिया हैं वह सब द्रव्यसाध्य हैं और फल क्रियासाध्य प्रसिद्ध है परन्तु उक्त वाक्यों में जो फल कथन किया है वह क्रिया साध्य कथन नहीं किया किन्तु द्रव्य सम्बन्धी कथन किया है इसलिये सिद्ध है कि द्रव्यादि तीनों " क्रत्वर्थ " हैं पुरुषार्थ नहीं।

सं०-अब " मृन्मय " आदि पात्रों का अनित्यकर्म के लिये होना कथन करते हैं:-

नैमित्तिके विकारत्वात् क्रतुप्रधानमन्य-

त्स्यात् । ४ ।

पद०—नैमित्तिके । विकारत्वात् । क्रतुप्रधानम् । अन्यत् । स्यात् ।

पदा०—(अन्यत्) " मृन्मय " आदि भिन्न " चमस " आदि पात्र (क्रतुप्रधानं) नित्यकर्म के लिये (स्यात्) हैं, क्योंकि (नैमित्तिके) काम्यकर्म में (विकारत्वात्) चमस आदि के विकार = " मृन्मय " आदि अनित्य पात्र विधान किये हैं ।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "अपःप्रणयति"= जलों का प्रणयन करे, इस प्रकार जल प्रणयन का विधान करके " मृन्मयेन प्रतिष्ठाकामस्यप्रणयेत् " = मृत्तिका पात्र से प्रतिष्ठाकामपुरुष के लिये जलों का प्रणयन करे, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो मृन्मय = मृत्तिका पात्र से जलप्रणयन कथन किया है वह नित्यानित्य कर्म मात्र के लिये है किंवा अनित्य मात्र के लिये ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि नित्यकर्म में जलप्रणयन के साधन पात्र की अपेक्षा है तथापि " प्रतिष्ठाकामस्य " इस प्रकार काम्य कर्म के योग में मृन्मय पात्र का विधान होने से नित्यकर्म में उक्त पात्र का ग्रहण नहीं होसक्ता, यदि वह समान रूप से विधान किया जाता तो अवश्य नित्यानित्य कर्म मात्र में उसकी कल्पना कीजाती परन्तु वह काम्य = अनित्य कर्म में ही जल प्रणयन का साधन विधान किया है, इसलिये सिद्ध है कि "मृन्मय" पात्र केवल "अनित्यकर्म के लिये ही है नित्यकर्म के लिये नहीं किन्तु नित्यकर्म के लिये उससे भिन्न " चमस " आदि पात्र जलप्रणयन के साधन हैं ।

सं०-अब दधि आदि द्रव्यों का नित्य तथा नैमित्तिक उभय

प्रकार के कर्मार्थ होना कथन करते हैं :—

एकस्यतूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् । ५ ।

पद०—एकस्य । तु । उभयत्वे । संयोगपृथक्त्वम् ।

पदा०—(एकस्य) एक द्रव्य के (उभयत्वे) नित्य नैमित्तिक उभयार्थ होने में (संयोगपृथक्त्वं) विनियोजक वाक्य नियामक है॥

भाष्य—"अग्निहोत्र" के प्रकरण में "दध्ना जुहोति"=दधि से हवन करे, इस प्रकार होम सामान्य में दधि रूप साधन का विधान करके पश्चात् " दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात = इन्द्रियों के कामना वाले पुरुष के लिये दधि से हवन करे, इस वाक्य में पूर्व वाक्य से विलक्षण नैमित्तिक अग्निहोत्र का साधन दधि कथन किया है, इसलिये यह सन्देह हुआ कि दधि नित्यनैमित्तिक उभयार्थ है किंवा पूर्वाधिकरण के अनुसार केवल नैमित्तिकार्थ है और नित्यार्थ उससे कोई भिन्न द्रव्य है ? इस सन्देह की निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि पूर्वाधिकरण के अनुसार दधि रूप द्रव्य नैमित्तिकार्थ होना ही उचित है तथापि यहां उक्ताधिकरण से विलक्षण विनियोजक वाक्य का भेद पाया जाता है जिससे उसके विनियोग का भेद होना भी आवश्यक है और वह भेद तभी होसक्ता है यदि उक्त द्रव्य को नित्यनैमित्तिक उभयार्थ मानाजाय अन्यथा नहीं, इसलिये सिद्ध है कि दधि आदि द्रव्य केवल नैमित्तिकार्थ ही नहीं किन्तु नित्यनैमित्तिक उभयार्थ हैं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

शेष इति चेत् । ६ ।

पद०—शेषः । इति । चेत् ।

पदा०–(शेषः) दधि रूप द्रव्य एक कर्म का ही शेष है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है–

भाष्य–जो दधि रूप द्रव्य नित्य अग्निहोत्र कर्म में साधन विधान किया है वही नैमित्तिक उक्त कर्म में भी किया है इससे स्फुट होता है कि "दध्नाजुहोति" तथा "दध्नेन्द्रियकामस्य" यह दोनों भिन्न वाक्य नहीं किन्तु इन्द्रिय रूप फल की अपेक्षा से उनके दो आकार मात्र हैं और उनका वस्तुतः भेद न होने से उक्त द्रव्य उभयार्थ भी सिद्ध नहीं होते, इसलिये यही मानना उचित है कि उक्त द्रव्य उभयार्थ नहीं किन्तु नित्यार्थ ही हैं ॥

सं०–अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :–

नार्थपृथक्त्वात् । ७ ।

पद०–न । अर्थपृथक्त्वात् ।

पदा०–(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (अर्थपृथक्त्वात्) प्रयोजन के भेद से वाक्य का भेद होना उचित है ।

भाष्य–जिस उद्देश को लेकर उक्त दोनों वाक्य प्रवृत्त हुए हैं वह भिन्न २ हैं "दध्नाजुहोति" वाक्य केवल नित्यकर्म की सिद्धि रूप उद्देश को तथा "दध्नेन्द्रियकामस्य" वाक्य इन्द्रिय रूप उद्देश को लेकर प्रवृत्त हुआ है, उद्देश के भेद से वाक्यों का भेद होना भी उचित है और उक्त प्रयोजक वाक्यों का भेद होने से तत्प्रयोज्य उक्त द्रव्य के विनियोग का भेद होना भी युक्त है और विनियोग का भेद होने से यह स्पष्ट है कि दधिरूप द्रव्य केवल नित्यकर्म का ही शेष नहीं किन्तु नित्य तथा नैमित्तिक दोनों का शेष है अर्थात् विनियोजक वाक्यों का भेद होने के कारण सिद्ध है कि दध्यादि

नित्य नैमित्तिक उभयार्थ हैं।

सं०-अब "पयोव्रत" आदि को क्रतु का धर्म कथन करते हैं :-

द्रव्याणान्तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतु-धर्मःस्यात् । ८ ।

पद०-द्रव्याणां । तु । क्रियार्थानां । संस्कारः । क्रतुधर्मः । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द पुरुषधर्म की व्यावृत्ति के लिये आया है (क्रियार्थानां) ज्योतिष्टोमादि रूप क्रिया में अधिकृत (द्रव्याणां) पुरुषों के (संस्कारः) जो पयोव्रतादि रूप संस्कार विधान किये हैं वह (क्रतुधर्मः) क्रतु का धर्म (स्यात्) हैं (तु) पुरुष का नहीं।

भाष्य-"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में "पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागूराजन्यस्य, आमिक्षावैश्यस्य" = ज्योतिष्टोम याग की दीक्षा वाले ब्राह्मण का पयोव्रत = दूध भोजन, क्षत्रिय का यवागूव्रत = लापसी भोजन, वैश्य का आमिक्षाव्रत = दुग्ध की फुटकी भोजन है, इत्यादि वाक्यों द्वारा जो पयोव्रतादि विधान किये हैं वह पुरुषधर्म हैं किंवा क्रतुधर्म ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि उक्त व्रत शरीर धारण के लिये कथन किये गये हैं, जिसकी क्रियासिद्धि है अर्थात् दीक्षित हुआ पुरुष यदि अन्न न खायगा तो निर्बल होजाने से आरम्भ किये क्रतु को साङ्गोपाङ्ग समाप्त न करसकेगा, इस दोष के निवृत्त्यर्थ ही पय = दूध आदि के व्रत विधान किये हैं, उनके विधान करने से निरालस्य तथा दृढ़ हुआ पुरुष सहज में ही क्रतु को समाप्त करसक्ता है और क्रतु का समाप्त करना ही इष्ट है, इसलिये

सिद्ध है कि उक्त व्रत क्रतु सिद्धि के हेतु होने के कारण क्रतु के धर्म हैं पुरुष के धर्म नहीं ।

सं०—अब उक्त वाक्य में जो "ब्राह्मणस्य" इस प्रकार सम्बन्धार्थक षष्ठीविभक्ति के प्रयोग से उक्त व्रतों के साथ पुरुष का सम्बन्ध कथन किया है उसका समाधान करते हैं :-

पृथक्त्वाद्व्यवतिष्ठेत । ९ ।

पद०—पृथक्त्वात । व्यवतिष्ठेत ।

पदा०—(पृथक्त्वात्) ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि षष्ठ्यन्त प्रयोगों का भेद पाये जाने से सिद्ध है कि उक्त व्रतों के साथ ब्राह्मणादि पुरुषों का सम्बन्ध (व्यवतिष्ठेत) व्यवस्थापक है ।

भाष्य—उक्त वाक्य में जो "पयोव्रतं ब्राह्मणस्य" = ब्राह्मण का पयोव्रत है, इस प्रकार पय आदि व्रतों के साथ ब्राह्मणादि पुरुषों का सम्बन्ध कथन किया है उसका यह आशय नहीं कि उक्त व्रत पुरुष का धर्म है किन्तु यदि ज्योतिष्टोम याग ब्राह्मण कर्तृक हो तो "पयोव्रत" क्षत्रिय कर्तृक हो तो "यवागूव्रत" और वैश्यकर्तृक हो तो "आमिक्षाव्रत" होना चाहिये, इस प्रकार प्रतियाग व्रत व्यवस्था ही उक्त सम्बन्ध के कथन करने का आशय है और उक्त आशय के होने से पयोव्रतादि के पुरुष धर्म होने की आशङ्का भी नहीं होसक्ती प्रत्युत उनका क्रतुधर्म होना स्पष्ट होता है, इसलिये यही मानना उचित है कि उक्त व्रत क्रतुधर्म हैं पुरुष धर्म नहीं, या यों कहो कि पयोव्रतादि क्रत्वर्थ हैं पुरुषार्थ नहीं ।

सं०—अब "विश्वजित" आदि यागों का फल कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत

नह्यशब्दं प्रतीयते । १० ।

पद०—चोदनायां । फलाश्रुतेः । कर्ममात्रं । विधीयेत । नहि । अशब्दं । प्रतीयते ।

पदा०—(कर्ममात्रं) विश्वजितायजेत आदि वाक्यों में कर्म मात्र का (विधीयेत) विधान है, क्योंकि (चोदनायां) उक्त विधिवाक्यों में (फलाश्रुतेः) किसी पद से फल का श्रवण नहीं होता और (अशब्दं) अपदार्थ का (नहि, प्रतीयते) स्वीकार ठीक नहीं।

भाष्य—"विश्वजिता यजेत" = विश्वजित् नामक याग करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इनमें उक्त नामक कर्म मात्र का विधान किया गया है किंवा फल सहित का? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्यों में ऐसा कोई पद नही है जिसका अर्थ "फल" किया जाय और जो किसी पद का अर्थ नहीं ऐसे पदार्थ का स्वीकार भी नहीं होसक्ता और उक्त वाक्य से अफल कर्म का विधान स्पष्ट है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्यों में जो "विश्वजित्" आदि कर्म विधान किये गये हैं उनका कोई फल कथन नहीं किया, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य कर्म मात्र के विधायक हैं सफल कर्म के नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्याच्चोदनार्थेनगम्येतार्थानां ह्यर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतोह्यसमर्थानामानन्तर्य्येऽप्य-

संबन्धस्तस्माच्छ्रुत्येकदेशः सः । ११ ।

पद०—अपि । वा । आम्नानसामर्थ्यात् । चोदनार्थेन । गम्येत । अर्थानां । हि । अर्थवत्त्वेन । वचनानि । प्रतीयन्ते । अर्थतः । हि । असमर्थानाम् । आनन्तर्य्ये । अपि । असम्बन्धः । तस्मात् । श्रुत्येकदेशः । सः ।

पदा०—"अपि, वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आये हैं (आम्नानसामर्थ्यात्) वाक्यसामर्थ्य से ही (चोदनार्थेन) उक्त विधिवाक्य द्वारा (गम्येत) फल की कल्पना होती है (हि) क्योंकि (वचनानि) सम्पूर्ण वैदिक वचन (अर्थानां, अर्थवत्त्वेन) सफल अर्थ वाले (प्रतीयन्ते) पाये जाते हैं (हि) परन्तु (अर्थतः, असमर्थानां) फल वाचक पद रहित वाक्यों में (आनन्तर्य्ये, अपि) समीपस्थ होने पर भी (असम्बन्धः) फल वाची पद का सम्बन्ध नहीं होसक्ता (तस्मात्). इसलिये (सः) वाक्यसामर्थ्य से कल्पना किया फल ही (श्रुत्येकदेशः) श्रुत वाक्य का अवयव समझना चाहिये ।

भाष्य—ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों में जितने वेदानुकूल वाक्य हैं वह सम्पूर्ण सफल अर्थ का उपदेश करते हैं निष्फल का नहीं, उनमें एक भी ऐसा वाक्य न मिलेगा जिसका उपदेश किया अर्थ फलवाला नहो, जब वैदिक वाक्यों के विषय में इस प्रकार का दृढ़ नियम है तब जिस वाक्य में फलवाची पद नही हैं उस वाक्य से उक्त कर्म के फलकी कल्पना भले प्रकार होसक्ती है और कल्पना के होने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह बात आवश्यक है कि वैदिक वाक्यों के मध्य एक वाक्य में सम्बद्ध फलवाची पद का दूसरे वाक्य में सम्बन्ध नहीं होसक्ता और न

फलवाची पद का अध्याहार होसक्ता है, क्योंकि दोनों अवस्था में वह फलश्रुत अर्थ का अन्वयत्र नहीं होसकता और श्रुतअर्थ का अन्वय हुए विना वह प्रामाणिक होना भी असम्भव है और वाक्य सामर्थ्य से कल्पना किया फलरूप अर्थ श्रुतअर्थ का एकदेश होसक्ता है क्योंकि वह श्रुतार्थ का ही एक प्रकार से निष्कर्ष है, इसलिये सिद्ध है कि "विश्वजिता यजेत" वाक्य से जो "विश्वजित्"नामक याग विधान किया है वह निष्फल नहीं किन्तु सफल है, या यों कहो कि उक्त वाक्य उक्त नाम वाले कर्ममात्र का विधान नहीं करता किन्तु फल सहित कर्म का विधान करता है।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् । १२ ।

पद०-वाक्यार्थः । च । गुणार्थवत् ।

पदा०-(च) और (वाक्यार्थः) यदि फल सहित वाक्यार्थ की कल्पना न कीजाय तो (गुणार्थवत्) उक्त वाक्य गुण का विधायक होजाता है।

भाष्य-यदि "विश्वजिता यजेत" वाक्य की सामर्थ्य से फल कल्पना करके उक्त वाक्य का फलवत् अर्थ न कियाजाय तो फिर यह अवश्य मानना पड़ता है कि उक्त वाक्य अपूर्व कर्म का विधायक नहीं किन्तु किसी कर्मान्तर में "विश्वजित्" नामक गुणविशेष का विधायक है, क्योंकि ऐसा मानने से उक्त विधिवाक्य सर्वथा निरर्थक होजाता है सो इष्ट नहीं परन्तु वह अपूर्व कर्म का विधायक सर्वसम्मत है, इसलिये विशेष वक्तव्य की आवश्यकता

नहीं और जब वह अपूर्व कर्म का विधायक है तो निष्फलकर्म का विधायक मानने की अपेक्षा सफलकर्म का विधायक मानना श्रेष्ठ है, और फल अश्रुत होनेपर भी वाक्यसामर्थ्य से कल्पना किया जासक्ता, है इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य सफलकर्म का विधायक है निष्फल का नहीं ।

सं०-अब उक्त "विश्वजित्" नामक याग का एक फल नियत करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

तत्सर्वार्थमनादेशात् । १३ ।

पद०-तत् । सर्वार्थम् । अनादेशात् ।

पदा०-(तत्) उक्त याग (सर्वार्थ) सब फलों वाला है, क्योंकि (अनादेशात्) उसका कोई एक फल कथन नहीं किया ॥

भाष्य-यद्यपि वैदिक होने से उक्त याग फल वाला है तथापि उसका कोई एक फल नियत नहीं करसक्ते, क्योंकि उसका नियामक कोई वाक्य नहीं पायाजाता और कल्पना की कोई सीमा नहीं होसक्ती, इसलिये सिद्ध है कि उक्त याग के सब फल होसक्ते हैं उसके लिये किसी एकफल का नियम नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

एकं वा चोदनैकत्वात् । १४।

पद०-एकं । वा । चोदनैकत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (एकं) उक्त याग का एक ही फल होना चाहिये, क्योंकि (चोदनैकत्वात्) वह एकवचनान्त विधिपद से विधान किया गया है ॥

भाष्य- "यजेत" यह एकवचनान्त विधिपद है इससे विधान किया उक्त याग एक ही फल को उत्पन्न करसक्ता है अनेकों को नहीं, यदि उसमें अनेक फल उत्पन्न करने की शक्ति होती तो बहुवचनान्त विधिपद से विधान किया जाता परन्तु नहीं किया, इसलिये सिद्ध है कि उक्त याग सब फलों वाला नहीं होसक्ता किन्तु उसका एकही फल है।

सं०-अब उक्त एक फल का कथन करते हैं:-

स स्वर्गःस्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्ट-त्वात् । १५ ।

पद०-सः । स्वर्गः । स्यात् । सर्वान् । प्रति । अविशिष्टत्वात् ।

पदा०-(सः) वह एक फल (स्वर्गः) स्वर्ग (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (सर्वान्, प्रति) सब यागों के प्रति (अविशिष्टत्वात्) समान है।

भाष्य-सुखविशेष का नाम "स्वर्ग" है और वह सब यागों के प्रति फल रूप से समान है, और जो सबके प्रति समान है वह "विश्वजित्" याग का फल भी होसक्ता है, इसमें कोई दोष नहीं, इसलिये यही मानना उचित है कि उक्तयाग का फल "स्वर्ग" है॥

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:-

प्रत्ययाच्च । १६ ।

पद०-प्रत्ययात् । च ।

पदा०-(च) और (प्रत्ययात्) लोकानुभव से भी उक्त याग का फल स्वर्ग पाया जाता है॥

भाष्य—जितने प्राणी हैं वह सब स्वर्ग की इच्छा करते हैं और उसी इच्छा से प्रत्येक वैदिककर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं, "विश्वाजित्" याग भी वैदिककर्म है, इसलिये उसके अनुष्ठान से भी स्वर्ग ही फल होना चाहिये।

सं०—अब "त्रयोदशरात्र" आदि संज्ञक सत्रों का अर्थवादोक्त फल कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनिः।१७।

पद०—क्रतौ। फलार्थवादम्। अङ्गवत्। कार्ष्णाजिनिः।

पदा०—(अङ्गवत्) जैसे जुहु आदि अङ्गों में फलबोधक वाक्य अर्थवाद हैं वैसेही (क्रतौ) उक्त सत्रों में भी (फलार्थवादं) फलबोधक वाक्य अर्थवाद हैं (कार्ष्णाजिनिः) यह कार्ष्णाजिनि मुनि का मत है।

भाष्य—"प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते य एतारात्रीरुपयन्ति" = वह पुरुष प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं जो "त्रयोदशरात्र" आदि सत्र नामक याग करते हैं, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य में जो प्रतिष्ठारूप फल कथन करके "रात्रिसत्र" नामक याग विधान किया है उसका फल "विश्वजित्" न्याय से स्वर्ग है किंवा उक्त वाक्य बोधित "प्रतिष्ठा" ही फल है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य अर्थवाद रूप है विधि की केवल कल्पना होती है और अर्थवाद वाक्य में जो फल का कथन होता है वह "यस्यपर्णमयीजुहूर्भवति" इस पूर्वोक्त जुहू वाक्य बोधित फल की भांति स्तावक मात्र होता है, फल

बोधन में वस्तुतः उसका तात्पर्य्य नहीं होता, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में जो प्रतिष्ठा रूप फल कथन किया है वह स्तुति मात्र है वस्तुतः उसका फल "विश्वजित्" न्याय से स्वर्ग है यह कार्ष्णाजिनि मुनि का मत है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं-स्यात्। १८।

पद०—फलम्। आत्रेयः। निर्देशात्। अश्रुतौ। हि। अनुमानं। स्यात्।

पदा०—(फलं) उक्त वाक्य बोधित "प्रतिष्ठा" ही रात्रीसत्र का फल होना चाहिये, क्योंकि (निर्देशात्) उसका साक्षात् कथन पाया जाता है (हि) और यदि (अश्रुतौ) विश्वजित् न्याय से अश्रुत स्वर्ग रूप फल की कल्पना कीजाय तो (अनुमानं) वह केवल कल्पना मात्र होने से श्रुत की अपेक्षा निर्बल है॥

भाष्य—प्रतिष्ठा रूप फल श्रुत तथा "विश्वजित" की भांति स्वर्ग रूप फल कल्पित है और श्रुत तथा कल्पित दोनों के मध्य श्रुत फल का सम्बन्ध करना ही ठीक है कल्पित का नहीं, क्योंकि "**श्रुतानुमानयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्**"=श्रुत तथा कल्पित दोनों के मध्य श्रुत का सम्बन्ध प्रबल तथा कल्पितका सम्बन्ध उसकी अपेक्षा निर्बल होता है और प्रबल का परित्याग करके निर्बल का आश्रयण भी अनुचित है, इसलिये "विश्वजित्" न्याय से रात्रिसत्र का फल "स्वर्ग" कल्पना करना ठीक नहीं किन्तु उक्त वाक्य बोधित

"प्रतिष्ठा" रूप फल का मानना ही ठीक है अर्थात् रात्रिसत्र का फल "प्रतिष्ठा" है विश्वजित् न्याय से स्वर्ग नहीं।

सं०–अब "अङ्गवत्" उदाहरण का समाधान करते हैं :–

अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् । १६ ।

पद०–अङ्गेषु । स्तुतिः । परार्थत्वात् ।

पदा०–(अङ्गेषु) जुहू आदि अङ्गों में फल का श्रवण (स्तुतिः) स्तुति रूप होसक्ता है, क्योंकि (परार्थत्वात्) अङ्ग अङ्गी के लिये होने से स्वतः फल वाले नहीं होसक्ते ।

भाष्य–जुहू आदि अङ्ग तथा रात्रिसत्र अङ्गी है परन्तु अङ्ग गौण होने से स्वतः फलवाला नहीं होसक्ता और अङ्गी प्रधान होने से स्वतः फलवाला होसक्ता है, इसलिये "यस्यपर्णमयी-जुहूर्भवति" इत्यादि वाक्यों में जो पर्णमयी जुहू का फल कथन किया है वह अर्थवाद होने पर भी उक्त रात्रिसत्र वाक्य में कथन किया फल अर्थवाद नहीं होसक्ता, अतएव "अङ्गवत्" उदाहरण ठीक नहीं ।

सं०–अब काम्यकर्मों का यथोक्त फल कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः । २० ।

पद०–काम्ये । कर्मणि । नित्यः । स्वर्गः । यथा । यज्ञाङ्गे । क्रत्वर्थः ।

पदा०–(यथा) जैसे (यज्ञाङ्गे) यागोपकारी गोदोहनादि

का फल पशु आदि तथा (क्रत्वर्थः) याग का फल स्वर्ग है वैसे ही (काम्ये) काम्य (कर्मणि) कर्म में भी (स्वर्गः) स्वर्ग (नित्यः) मुख्य फल तथा श्रुत गौण फल है ॥

भाष्य-"सौर्य्यंचरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः"=ब्रह्मतेज की कामना वाला पुरुष प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से चरु का निर्वाप करे, इत्यादि काम्यकर्म के विधायक वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्यों में जो काम्यकर्म विधान किये हैं उनका "विश्वजित्" न्याय से कल्पना किया "स्वर्ग" मुख्य फल तथा श्रुत "ब्रह्मवर्चस" आदि आनुशङ्गिक फल हैं किंवा उक्त श्रुतफल ही मुख्य है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे "गोदोहन" आदि पात्रों द्वारा जल का प्रणयन करने से पशु आदि फल आनुशङ्गिक अर्थात् गौण और उक्त प्रणयन रूप अङ्ग द्वारा सिद्ध हुए अङ्गी यज्ञ का मुख्यफल "स्वर्ग" है वैसे ही काम्यकर्मों में भी सर्वत्र मुख्य फल स्वर्ग ही होना चाहिये और श्रुत ब्रह्मवर्चस आदि उनके आनुशङ्गिक फल हैं अर्थात् जैसे कोई जङ्गल से लकड़ी लेने जाते समय अपने भृत्य को कहे कि आते समय शाक भी लेते आना, इत्यादि स्थलों में भृत्य जङ्गल जाने का मुख्य फल "लकड़ी" तथा आनुशङ्गिक फल "शाक" है वैसे ही सब को अभिलषित होने के कारण सम्पूर्ण काम्यकर्मों का मुख्यफल "स्वर्ग" तथा "ब्रह्मवर्चस" आदि आनुशङ्गिक फल हैं केवल श्रुत ही मुख्यफल नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:-

वीते च कारणे नियमात् । २१ ।

पद०–वीते । च । कारणे । नियमात् ।

पदा०–(च) और (कारणे) फल की इच्छा के (वीते) निवृत्त होजाने पर भी (नियमात्) याग की समाप्ति का नियम होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य–जिस फल की कामना से काम्यकर्म का आरंभ किया गया है मध्य में उसके पूर्ण होजाने पर भी कर्म की समाप्ति का नियम है, इसका निरूपण आगे कियागया है, यह कभी नहीं होसक्ता कि कामना के पूर्ण होजाने पर कर्म समाप्त न किया जाय यदि उक्त कर्म का फल श्रुत ही होता तो जिसकी कामना कीं-गई है उसके मध्य में पूर्ण होजाने पर पुनः कर्म समाप्त न किया जाता और न उसकी यथाविधि समाप्ति नियत कीजाती परन्तु कीगई है, इसलिये सिद्ध है कि काम्यकर्म का फल केवल श्रुत ही नहीं किन्तु श्रुत आनुशङ्गिक तथा "स्वर्ग" मुख्य फल है ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते । २२ ।

पद०–कामः । वा । तत्संयोगेन । चोद्यते ।

पदा०–"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (कामः) काम्यकर्म के विधायक वाक्य में जो फल श्रुत है वही उक्त कर्म का फल है, क्योंकि (तत्संयोगेन) उसके सम्बन्ध से (चोद्यते) उक्त कर्म विधान कियागया है ।

भाष्य–"सौम्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः"

इत्यादि वाक्यों में विधान किये काम्यकर्म का विश्वजित् न्याय से स्वर्ग फल कदापि नहीं होसक्ता, क्योंकि वह कल्पित होने से कर्म सम्बन्धी नहीं है और ब्रह्मवर्चस आदि फल श्रुत होने से कर्म सम्बन्धी हैं और साक्षात् सम्बन्धी को छोड़कर असम्बन्धी की कल्पना करना भी ठीक नहीं अर्थात् जिस फल के सम्बन्ध से कर्म विधान कियागया है वही उसका मुख्य फल होना उचित है, "विश्वजित्" न्याय से कल्पना किया स्वर्ग नहीं, क्योंकि श्रुत तथा कल्पित दोनों के मध्य श्रुत प्रबल तथा कल्पित निर्बल होता है और प्रबल को छोड़कर निर्बल का ग्रहण अनुचित है, इसलिये काम्य-कर्म के विधायक वाक्यों में जो "ब्रह्मवर्चस" आदि फल श्रुत हैं वह आनुषङ्गिक नहीं किन्तु मुख्य हैं और स्वर्ग का उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं वह विधायक वाक्य में अश्रुत होने के कारण केवल विश्वजित् में ही कल्पनीय हैं सर्वत्र नहीं ।

सं०—अब "यथायज्ञाङ्गेक्रत्वर्थः" का समाधान करते हैं :-

अङ्गे गुणत्वात् । २३ ।

पद०—अङ्गे । गुणत्वात् ।

पदा०—(अङ्गे) गोदोहनादि यज्ञाङ्गों में जो पशु आदि फल कथन किया है वह (गुणत्वात्) गौण होने से ठीक है ॥

भाष्य—गोदोहन आदि यज्ञाङ्गों के जो पशु आदि फल विधान किये हैं वह गुण रूप से विहित होने के कारण सङ्गत हो सक्ते हैं परन्तु काम्यकर्मों में स्वर्ग को मुख्य रूप से विधान करके ब्रह्मवर्चस आदि गुणरूप से विधान नहीं किये, इस प्रकार दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक की विषमता होने से यह मनोरथ कदापि सिद्ध

नहीं होसक्ता कि काम्यकर्मों का मुख्यफल " विश्वजित् " न्याय से कल्पित "स्वर्ग" तथा श्रुतब्रह्मवर्चस आदि आनुषङ्गिक फल हैं, इसलिये यही मानना उचित है कि उक्त कर्मों का फल स्वर्ग नहीं किन्तु श्रुत"ब्रह्मवर्चस" आदि ही उनके मुख्यफल हैं।

सं०—अब "वीते च कारणे नियमात्" का समाधान करते हैं :—

वीते च नियमस्तदर्थम्। २४।

पद०—वीते। च। नियमः। तदर्थम्।

पदा०—(च) और (वीते) इच्छा के पूर्ण होजाने पर भी (नियमः) जो आरब्ध कर्म की समाप्ति का नियम है वह (तदर्थं) प्रतिज्ञा पालनार्थ है।

भाष्य—प्रत्येक वैदिक कर्म के आरम्भ में "यक्ष्ये"=मैं अमुक कर्म करूंगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा कीजाती है और उसके पूर्ण न करने से यजमान को प्रत्यवाय होता है यह आगे स्पष्ट है, काम्यकर्मों को आरम्भ करके मध्य में इच्छा के पूर्ण होजाने पर भी जो उनकी समाप्ति का नियम है वह अपनी प्रतिज्ञा पूर्त्ति के लिये है, या यों कहो कि प्रतिज्ञा के भङ्ग होजाने पर जो प्रत्यवाय कथन किया है उसकी निवृत्ति के लिये है किसी अन्य फलविशेष की प्राप्त्यर्थ नहीं, इसलिये सिद्ध है कि सम्पूर्ण काम्यकर्मों का वही फल है जो उनके विधायक वाक्यों में श्रुत है "स्वर्ग" नहीं।

सं०—अब " दर्शपूर्णमास" आदि यागों को सर्वफलार्थता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात्। २५।

पद०—सार्वकाम्यम्। अङ्गकामैः। प्रकरणात्।

पदा०-(अङ्गकामैः) अङ्ग फलों के सहित (सार्वकाम्यं) दर्शपूर्णमासादि यागों के सब फल कथन किये हैं स्वतः नहीं, क्योंकि (प्रकरणात्) प्रकरण मे ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य- **"एकस्मै वा अन्या इष्टयः कामायाह्नियन्ते सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ"** = और सब याग एक २ फल के लिये किये जाते हैं परन्तु "दर्शपूर्णमास" सब फलों के लिये है, **"एकस्मै वा अन्ये यज्ञक्रतवः कामायाह्नियन्ते सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः"** = और सब याग एक २ फल के लिये किये जाते हैं परन्तु "ज्योतिष्टोम" याग सब फलों के लिये है, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण के विषय हैं, इनमें "दर्शपूर्णमास" तथा 'ज्योतिष्टोम" याग का जो सब फलों के लिये होना कथन किया है, या यों कहो कि "दर्शपूर्णमास" याग को जो "सर्वफलार्थता" कथन की है वह अङ्ग फलों को मिलाकर अनुवाद है किंवा स्वतन्त्र सर्व फलार्थता का विधान है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि प्रकरण से जैसे "दर्शपूर्णमास" आदि प्रधान कर्मों के फल उपस्थित हैं वैसे ही उनके सामिधेनी आदि अङ्गों के फल भी उपस्थित हैं जैसाकि " **एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठाकामस्य, चतुर्विंशतिमनुब्रूयाद् ब्रह्मवर्चसकामस्य"** = "प्रतिष्ठा" फल के लिये २१ तथा "ब्रह्मवर्चस" फल के लिये २४ सामिधेनियों का उच्चारण करे, इस प्रकार अङ्ग फलों तथा दर्शपूर्णमासादि अङ्गी के फलों को मिलाकर सबका

"सर्वेभ्यः" शब्द से अनुवाद होसक्ता है, क्योंकि वह सब मिलकर "सर्व" शब्द से कथन योग्य हैं अयोग्य नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्यों में जो दर्शपूर्णमासादि यागों का सब फलों के लिये होना कथन किया है वह अनुवाद मात्र है सर्वफलार्थता का विधान नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंयोगात्। २६।

पद०-फलोपदेशः। वा। प्रधानशब्दसंयोगात्।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (फलोपदेशः) उक्त वाक्यों में सर्वफलार्थता का विधान है अनुवाद नहीं, क्योंकि (प्रधानशब्दसंयोगात्) उनका प्रधान याग के साथ सम्बन्ध कथन किया है।

भाष्य-यदि उक्त वाक्यों में "सर्वेभ्यः" शब्द से "दर्शपूर्णमास" आदि यागों की सर्वफलार्थता का विधान अभिप्रेत न होता किन्तु अङ्ग फलों को मिलाकर केवल अनुवाद ही अभिप्रेत होता तो उक्त शब्द के साथ दर्शपूर्णमास आदि प्रधान यागों का सम्बन्ध कथन न किया जाता परन्तु किया है इससे स्पष्ट है कि उक्त वाक्यों में दर्शपूर्णमास आदि प्रधान यागों का ही सब फलों के लिये होना इष्ट है और जो इष्ट है उसका परित्याग ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्यों में अङ्गफलों को मिलाकर दर्शपूर्णमास आदि यागों की सर्वफलार्थता का अनुवाद नहीं किया किन्तु उनकी सर्वफलार्थता का विधान किया है, या यों कहो कि "सर्वेभ्यः" शब्द से अङ्गफलों सहित प्रधान फलों का अनुवाद नहीं किया किन्तु दर्शपूर्णमासादि यागों का सब फलों के लिये होना विधान किया है॥

सं०-अब प्रत्येक फल के लिये "दर्शपूर्णमास" आदि यागों का पृथक् २ अनुष्ठान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

तत्र सर्वेऽविशेषात् । २७ ।

पद०-तत्र । सर्वे । अविशेषात् ।

पदा०-(तत्र) सकृत् अनुष्ठान होने से (सर्वे) सम्पूर्ण फलों की सिद्धि होसक्ती है, क्योंकि (अविशेषात्) उनका उक्त यागों के साथ निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बन्ध समान है ।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" तथा "ज्योतिष्टोम" दोनों याग सब फलों के लिये हैं, यह पिछले अधिकरण में निर्णय किया गया है, अब यह निर्णेतव्य है कि दर्शपूर्णमास आदि के जो सम्पूर्ण फल विधान किये हैं उनकी सिद्धि के लिये उक्त यागों का सकृत् = एक ही बार अनुष्ठान करना चाहिये किंवा प्रत्येक फल के लिये पृथक् २ अनुष्ठान करना चाहिये ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जितने फल हैं उन सब का निमित्त दर्शपूर्णमास आदि याग हैं और उनका प्रत्येक फल के साथ निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बन्ध साधारण है और सम्बन्ध के साधारण होने से निमित्त का साधारण होना भी आवश्यक है, और निमित्त के साधारण होने से नैमित्तिकों का क्रम से होना कदापि नहीं होसक्ता, क्योंकि लोक में देखा जाता है कि वह्नि रूप निमित्त के समीप होने से दाह तथा प्रकाश दोनों नैमित्तिक भी युगपत् ही होजाते हैं क्रम से नहीं अर्थात् जैसे दाह तथा प्रकाश का वह्नि साधारण निमित्त है और वह्नि के उपस्थित होने से उक्त दोनों भी युगपत् उपस्थित होजाते हैं क्रम से नहीं वैसे ही सम्पूर्ण फलों के प्रति "दर्शपूर्णमास"

आदि याग भी साधारण निमित्त हैं, उक्त यागों के होने से दाह प्रकाश की भांति सम्पूर्ण फलों का प्राप्त होना भी उचित है और जो सकृत् अनुष्ठान से प्राप्त होसक्ते हैं उनके लिये पृथक् २ अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि सम्पूर्ण फलों के प्रति दर्शपूर्णमास आदि याग साधारण निमित्त न होते तो अवश्य प्रत्येक फल की सिद्धि के लिये पृथक् २ अनुष्ठान किया जाता परन्तु वह दाह प्रकाश के प्रति वह्नि की भांति सम्पूर्ण फलों के प्रति साधारण निमित्त है इसलिये सिद्ध है कि सब फलों की प्राप्ति के लिये उक्त यागों का सकृत अनुष्ठान करना ही उचित है प्रतिफल पृथक् २ नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

योगसिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्त्यसंयोगात्। २८।

पद०—योगसिद्धिः। वा। अर्थस्य। उत्पत्त्यसंयोगात्।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (योगसिद्धिः) अनुष्ठान भेद से फल की सिद्धि होती है सकृत् अनुष्ठान से नहीं, क्योंकि (अर्थस्य) फल का (उत्पत्त्यसंयोगात्) उक्त वाक्य से सहभाव नहीं सुनाजाता।

भाष्य—जो वाक्य पीछे उद्धृत किये गये हैं उनमें यह बात नहीं पाई जाती कि दर्शपूर्णमास आदि के अनुष्ठान से युगपत् सम्पूर्ण फल प्राप्त होते हैं उनमें तो केवल दर्शपूर्णमासादि के अनुष्ठान से सम्पूर्ण फलों का प्राप्त होना कथन किया है, यदि सर्व का सहभाव कथन किया होता तो अवश्य सकृत् अनुष्ठान ही आवश्यक होता परन्तु ऐसा नहीं कथन किया इससे स्पष्ट है कि उक्त याग सम्पूर्ण फलों की प्राप्ति के साधन हैं, यह उक्त वाक्यों का

आशय है, सकृत् अनुष्ठान करने से सम्पूर्ण फल प्राप्त होते हैं यह आशय नहीं अर्थात् यदि दर्शपूर्णमास आदि को निमित्त रख कर फलों का विधान होता तो अवश्य निमित्त के साधारण होने से नैमित्तिक फलों के युगपत् प्राप्त होने की कल्पना कीजाती परन्तु ऐसा विधान नहीं किया किन्तु फलों के उद्देश से दर्शपूर्ण-मासादि विधान किये हैं जिससे यह स्फुट होता है कि जिस फल की कामना से उक्त यागों का अनुष्ठान किया जाय उसीकी प्राप्ति हो सकती है दूसरे की नहीं, इसलिये सिद्ध है कि सम्पूर्ण फलों के लिये होने पर भी प्रत्येक वाञ्छित फल की सिद्धि के लिये उक्त यागों का पृथक् २ अनुष्ठान करना चाहिये।

सं०-अब "सौत्रामणी" आदि यागों को "अग्निचयन" आदि कर्मों की अङ्गता कथन करते हैं:-

समवाये चोदना संयोगस्यार्थवत्त्वात्। २९।

पद०-समवाये। चोदना। संयोगस्य। अर्थवत्त्वात्।

पदा०-(समवाये) अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध में (चोदना) विधि जाननी चाहिये, क्योंकि (संयोगस्य) ऐसा मानने से ही उक्त सम्बन्ध (अर्थवत्त्वात) सार्थक होता है।

भाष्य-"अग्निंचित्वा सौत्रामण्या यजेत"=अग्निचयन के अनन्तर "सौत्रामणी" याग करे "वाजपेयेनेष्ट्वाबृहस्पति सवेन यजेत"="वाजपेय" याग के अनन्तर "बृहस्पतिसव" नामक याग करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्यों में जो अग्निचयन के अनन्तर सौत्रामणी तथा वाजपेय के अनन्तर बृहस्पतिसव का विधान किया है वह काल का विधान है किंवा अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध का अर्थात् अग्निचयन के अवयव

हित उत्तरकाल में "सौत्रामणी" तथा "वाजपेय" के उत्तरकाल में "बृहस्पतिसव" करे, इस प्रकार काल मात्र की विधि है अथवा "अग्निचयन" का अङ्ग "सौत्रामणी" तथा "वाजपेय" का अङ्ग "बृहस्पतिसव" है, इस प्रकार अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध की विधि है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि पूर्वकाल में विहित "चित्वा" "इष्ट्वा" इस "क्त्वा" प्रत्यय से अग्निचयन तथा वाजपेय का पूर्वकाल और सौत्रामणी तथा बृह-स्पतिसव का उत्तर काल प्रतीत होता है तथापि उक्त प्रत्यय से केवल काल का ग्रहण ठीक नहीं, क्योंकि जिस सूत्र से उक्त प्रत्यय का विधान किया है उसमें "पूर्वकाल" का उल्लेख "नियम" के अभिप्राय से नहीं कि सर्वत्र उक्त प्रत्यय नियम से पूर्वकाल में ही होता है किन्तु सम्भव के अभिप्राय से किया है, जैसाकि "मुखं व्यादाय स्वपिति" = मुख खोल कर सोता है, इत्यादि में मुख के खोलने तथा सोने दोनों का समानकाल होने पर भी "व्यादाय" क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग पाया जाता है परन्तु उक्त प्रत्यय के विधायक "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" अष्टा० ३।४।२१ में जो "समानकर्तृकयोः" पद है जिसका जिन दो क्रियाओं का कर्त्ता एक है उनके मध्य पूर्व क्रिया में "क्त्वा" प्रत्यय होता है यह अर्थ है, इससे स्पष्ट है कि जबतक उन दोनों क्रियाओं का कि जिनके मध्य पूर्व क्रिया में "क्त्वा" प्रत्यय हुआ है परस्पर कोई सम्बन्ध नियत न किया जाय तबतक कदापि एक कर्त्ता नहीं होसक्ता, और एक कर्तृकत्व सम्पत्ति के लिये सम्बन्ध का मानना आवश्यक है, यदि केवल पूर्वोत्तर काल मात्र कोही सम्बन्ध मानें तो प्रकरण का सर्वथा बाध होजाता है और अग्नि-

चयन तथा वाजपेय के प्रकरण में सौत्रामणी तथा बृहस्पति दोनों अप्रकृत यागों का कालविधान ऐसा असम्बद्ध होजाता है जिसका समर्थन किसी प्रकार से भी नहीं होसक्ता और "अङ्गाङ्गिभाव" रूप सम्बन्ध को छोड़कर अन्य किसी सम्बन्ध की कल्पना व्यर्थ तथा असङ्गत है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्यों में "अग्निचयन" तथा "सौत्रामणी" और "वाजपेय" तथा "बृहस्पतिसव" क्रियाओं के परस्पर अङ्गाङ्गिभाव रूप सम्बन्ध का विधान किया है पूर्वोत्तर काल का नहीं अर्थात् उक्त वाक्यों में "अग्निचयन" कर्म का अङ्ग "सौत्रामणी" तथा "वाजपेय" कर्म का अङ्ग "बृहस्पतिसव" इस प्रकार अङ्गाङ्गिभाव रूप सम्बन्ध की विधि है, अग्निचयन के अव्यवहित उत्तर काल में सौत्रामणी तथा वाजपेय के उक्तकाल में बृहस्पतिसव करना चाहियें, इस प्रकार काल की विधि नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

कालश्रुतौकालइतिचेत्। ३०।

पद०-कालश्रुतौ। कालः। इति। चेत्।

पदा०-(कालश्रुतौ) कालवाची "क्त्वा" प्रत्यय का श्रवण होने पर (कालः) काल का विधान मानना ही उचित है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है।

भाष्य-"समानकर्तृकयोःपूर्वकाले" सूत्र में काल का साक्षात् ग्रहण किया है जिससे कालार्थ में "क्त्वा" प्रत्यय का होना स्पष्ट है जिसका समानकाल में प्रयोग पाये जाने पर परित्याग कदापि नहीं होसक्ता और करना भी उचित नहीं, इसलिये

सिद्ध है कि उक्त वाक्यों में पूर्वोत्तर काल का विधान है अङ्गाङ्गि-भाव का नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

नासमवायात्प्रयोजनेन । ३१ ।

पद०—न । असमवायात् । प्रयोजनेन ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (प्रयोजनेन) फल के साथ (असमवायात्) सौत्रामणी आदि का सम्बन्ध नहीं है।

भाष्य—यदि उक्त वाक्यों में काल का विधान मानें तो अग्निचयन आदि की भांति सौत्रामणी आदि को प्रधान कर्म मानना पड़ता है अङ्ग कर्म नहीं, क्योंकि अङ्ग मानने में उपस्थित अङ्गाङ्गिभाव-रूप सम्बन्ध का परित्याग करके अनुपस्थित काल विधान मानना पड़ता है जो अत्यन्त गर्हित है और यदि प्रधान कर्म मानें तो उनका स्वतन्त्र कोई फल होना चाहिये, परन्तु वह फल हीन है और अफल के अङ्ग होने में कोई दोष नहीं और "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्"=फलवाले के समीप जो अफल कर्म है वह अङ्गकर्म है, इस न्याय से सङ्गत ही मानना उचित है असङ्गत नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्यों में अङ्गाङ्गिभाव रूप सम्बन्ध की विधि है पूर्वोत्तर काल की नहीं॥

सं०—अब "वैमृध" नामक कर्म को केवल "पौर्णमास" कर्म का अङ्ग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

उभयार्थमितिचेत् । ३२ ।

पद०—उभयार्थम् । इति । चेत् ।

पदा०-(उभयार्थं) वैमृधादि "दर्श" तथा "पौर्णमास" दोनों कर्मों का अङ्ग है (चेन्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में पठित "संस्थाप्यपौर्णमासीं वैमृध मनु निर्वपति" = पौर्णमास याग को समाप्त करके "वैमृध" नामक कर्म करे, यह वाक्य इस अधिकरण का विषय है, इसमें जो "वैमृध" नामक कर्म विधान किया है वह दर्श, पूर्णमास दोनों कर्मों का अङ्ग है किंवा केवल पौर्णमास कर्म का ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त कर्म "दर्श पूर्णमास" दोनों के प्रकरण में पढ़ा है और जो जिसके प्रकरण में पठित है वह उसका अङ्ग है यह पीछे कथन किया गया है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त कर्म दोनों का अङ्ग है केवल "पौर्णमास" कर्म का नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

न शब्दैकत्वात् । ३३ ।

पद०-न । शब्दैकत्वात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (शब्दैकत्वात्) उक्त याग एक विधिप्रत्यय से विधान किया गया है ।

भाष्य-उक्त वाक्य में "निर्वपति" इस एकवचन विधि प्रत्यय से उक्त कर्म विधान किया है यदि वह द्विवचन प्रत्यय से विधान किया जाता तो अवश्य दोनों का अङ्ग होता, एकवचन प्रत्यय से विहित होने के कारण वह दोनों का सम्बन्धी नहीं

होसक्ता, क्योंकि उक्त दोनों का सम्बन्ध तथा उत्तरकाल दो बातों का विधान एक प्रत्यय से होना असम्भव है, इसलिये सिद्ध है कि वह केवल "पौर्णमास" कर्म का ही अङ्ग है दर्श तथा पौर्णमास दोनों का नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

प्रकरणादितिचेत् । ३४ ।

पद०-प्रकरणात् । इति । चेत् ।

पदा०-(प्रकरणात्) प्रकरण से उक्त कर्म दोनों का अङ्ग होना चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-यद्यपि उक्त कर्म एक विधिप्रत्यय से विधान किया गया है तथापि दर्श तथा पौर्णमास दोनों के प्रकरण में विहित होने से वह केवल पौर्णमास का ही अङ्ग नहीं होसक्ता, क्योंकि इसमें प्रकरण का सर्वथा बाध होजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये यही मानना उचित है कि उक्त कर्म दोनों का अङ्ग है केवल "पौर्णमास" कर्म का ही नहीं ॥

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

नोत्पत्तिसंयोगात् । ३५ ।

पद०-न । उत्पत्तिसंयोगात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (उत्पत्तिसंयोगात्) विधायक वाक्य से उक्त कर्म का "पौर्णमास" कर्म के साथ ही सम्बन्ध पाया जाता है ॥

भाष्य-"संस्थाप्य पौर्णमासीं वैमृधमनु निर्वपति"

यह उक्त कर्म का विधायक वाक्य है, यदि उक्त कर्म "दर्श" तथा "पौर्णमास" दोनों का अङ्ग अभिमेत होता तो उक्त वाक्य में "संस्थाप्य पौर्णमासीं" = पौर्णमास समाप्त होने पर, के स्थान में "संस्थाप्य दर्श पौर्णमास्यौ" = दर्श तथा पौर्णमास समाप्त होने पर "वैमृध" कर्म करे, ऐसा पाठ किया जाता परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे स्पष्ट है कि उक्त कर्म केवल पौर्णमास का ही अङ्ग विवक्षित है, और प्रकरण की अपेक्षा प्रबल होने के कारण वाक्य से सिद्ध "पौर्णमास" मात्र की अङ्गता का प्रकरण से बाध नहीं होसक्ता यद्यपि प्रकरण से उक्त कर्म दोनों का अङ्ग प्राप्त है तथापि वह निर्बल होने के कारण वाक्य प्राप्त केवल पौर्णमास कर्म की अङ्गता का बाधक नहीं होसक्ता और वाक्य तथा प्रकरण दोनों के मध्य प्रकरण निर्बल तथा वाक्य प्रबल है यह पीछे तृतीयाध्याय में विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है और प्रबल प्राप्त के आगे निर्बल प्राप्त आदरणीय नहीं होसक्ता और प्रबल वाक्य से उक्त कर्म केवल "पौर्णमास" कर्म का अङ्ग सिद्ध है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये यह निश्चेतव्य है कि उक्त दर्श तथा पौर्णमास दोनों का अङ्ग नहीं किन्तु केवल पौर्णमास कर्म का ही अङ्ग है ॥

सं०—अब "आग्निमारुत" कर्म के अनन्तर अनुयाज कर्मों की कर्तव्यता कथन करते हैं :—

अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात् प्रयोजनेन सम्बन्धात् । ३६ ।

पद०—अनुत्पत्तौ । तु । कालः । स्यात् । प्रयोजनेन । सम्बन्धात् ।

पदा०—"तु" शब्द उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (अनुत्पत्तौ) अङ्गाङ्गिभाव विधि का असंभव होने से (कालः) काल का (स्यात्) विधान होना चाहिये क्योंकि (प्रयोजनेन) ऐसा होने से प्रयोजन के साथ (सम्बन्धात्) प्रयाजों का सम्बन्ध होसक्ता है ।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित "**आग्निमारुतादूर्ध्वप्रयाजैश्चरति**"="आग्निमारुत" नामक शस्त्र के अनन्तर "प्रयाज" नामक होम करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं उक्त वाक्य में "आग्निमारुत" नामक शस्त्र के पश्चात् "प्रयाज" नामक कर्मों का अङ्ग रूप से विधान है किंवा उक्त होमों का काल विधान है अर्थात् "प्रयाज" होम "आग्निमारुत" शस्त्र के अङ्ग हैं अथवा उक्त शस्त्र के अनन्तर काल में कर्तव्य हैं? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि उक्त होमों का मुख्य प्रयोजन ज्योतिष्टोम की सिद्धि है यदि उनको "आग्निमारुत" शस्त्र का अङ्ग माना जाय तो ज्योतिष्टोम के साथ उनका अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहींहोसक्ता और ज्योतिष्टोम के साथ सम्बन्ध सिद्ध है और जो सिद्ध है उसका परित्याग नहीं होसक्ता और उसका परित्याग न होने से उक्त वाक्य में अङ्गाङ्गिभाव की विधि होना सर्वथा असंभव है और जो सर्वथा असंभव है उसका स्वीकार ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में काल का विधान है अङ्गाङ्गिभाव का नहीं ।

सं०—अब "दर्शपूर्णमास" याग के अनन्तर "ज्योतिष्टोम" याग की कर्त्तव्यता कथन करते हैं :—

उत्पत्तिकालविशये कालःस्यात् वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्। ३७।

पद०—उत्पत्तिकालविशये । कालः । स्यात् । वाक्यस्य । तत्प्रधानत्वात्।

पदा०—(उत्पत्तिकालविशये) अङ्गता तथा काल दोनों के विधान का संशय होने पर (कालः) काल का विधान (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (वाक्यस्य) वाक्य मे (तत्प्रधानत्वात्) काल विधान की ही प्रधानता पाई जाती है ॥

भाष्य—"दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत्" = दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग करे, इसमें दर्शपूर्णमास तथा ज्योतिष्टोम के परस्पर अङ्गाङ्गिभाव का विधान है किंवा दर्शपूर्णमास के उत्तरकाल में ज्योतिष्टोम की कर्त्तव्यता का विधान है अर्थात् उक्त वाक्य में अङ्गता की विधि है अथवा काल की ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि दर्शपूर्णमास तथा ज्योतिष्टोम यह दोनों याग स्वतन्त्र विधान किये गये हैं और वह यथाविधि अनुष्ठान करने से प्रभूत फल के देने वाले हैं, यदि उक्त दोनों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव माना जाय तो उक्त दोनों के मध्य एक को निष्फल अवश्य मानना होगा सो मानना ठीक नहीं और उक्त वाक्य मे काल की प्रधानता स्पष्ट है अतएव "एष वै देवरथो यद्दर्शपूर्णमासौ, यो दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजते रथस्पष्टएवा

वसाने वेरे देवानामवस्यति" = दर्श तथा पूर्णमास यह दोनों विद्वानों के स्वर्ग जाने के रथ हैं, जो दर्शपूर्णमास करके ज्योतिष्टोम करता है वह विद्वानों के स्वर्ग जाने के मार्ग को निष्कण्टक बनाता है, इत्यादि वाक्यों में दर्शपूर्णमास को ऐहिक पारलौकिक सुख रूप स्वर्ग की प्राप्ति का मार्ग कथन करके ज्योतिष्टोम को उक्त मार्ग का निष्कण्टक बनाने वाला कथन किया है यह तभी होसक्ता है जबकि उक्त वाक्य में उक्त दोनों यागों का पूर्वोत्तर काल माना जाय, क्योंकि अङ्गाङ्गिभाव मानने में ज्योतिष्टोम का मार्ग निष्कण्टक बनाना फल कथन किया है वह सर्वथा अनुपपन्न होजाता है, सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में काल का विधान है अङ्गाङ्गिभाव का नहीं ॥

सं०-अब वैश्वानरेष्टि का पुत्रगामी फल कथन करते हैं :-

फलसंयोगस्त्वचोदिते न स्यादशेषभूतत्वात् । ३८ ।

पद०-फलसंयोगः । तु । अचोदिते । न । स्यात् । अशेषभूतत्वात् ।

पदा०-"तु" शब्द उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (अचोदिते) अविहित में (फलसंयोगः) फल का सम्बन्ध (न, स्यात्) नहीं होसक्ता, क्योंकि (अशेषभूतत्वात्) वह फल के प्रति शेष नहीं है ॥

भाष्य-काम्येष्टिकाण्ड में "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रेजाते" इस प्रकार वैश्वानर इष्टि का विधान करके

"यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति, पूत एव तेजस्व्यन्नादइन्द्रियभावी पशुमान् भवति" = जिस पुत्र के उत्पन्न होने पर वैश्वानर इष्टि कीजाती है वह पवित्र, तेजस्वी, अन्नाद, अविकलसकलेन्द्रिय तथा पशु आदि धन सम्पन्न होता है, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें उक्त इष्टि के पवित्रतादि फल कथन किये हैं वह पुत्र को होते हैं किंवा उक्त इष्टि के कर्त्ता पिता को ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि उक्त इष्टि का कर्त्ता पिता है तथापि उसका उक्त फल उसको नहीं होसक्ता, क्योंकि वह उद्देश का अविषय होने से उक्त कर्म के प्रति अविहित है और अविहित के साथ फल का सम्बन्ध होना सर्वथा अयुक्त है अर्थात् पुत्रप्रसव से गृह की वायु बिगड़ जाने के कारण पुत्र को हानि पहुंचने की अधिक संभावना है और जिसको हानि पहुंचने की अधिक संभावना है उसी के उद्देश से याग विधान होना उचित है परन्तु वह उस अवस्था में उक्त इष्टि के करने में असमर्थ है, अतएव उसका पिता उसको करता है परन्तु एतावन्मात्र से वह फल का भागी नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध है कि उक्त इष्टि के जो पवित्रतादि फल कथन किये हैं उनका भागी पुत्र है पिता नहीं, या यों कहो कि उक्त इष्टि का फल पुत्रगामी है पितागामी नहीं ।

सं०—अब "जातकर्म" के पश्चात् उक्त इष्टि की कर्तव्यता कथन करते हैं :—

अङ्गानान्तूपघातसंयोगो निमित्तार्थः ।३९।

पद०—अङ्गानां । तु । उपघातसंयोगः । निमित्तार्थः ।

पदा०—"तु" शब्द उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (अङ्गानां) वैश्वानर इष्टि का (उपघातसंयोगः) पुत्र जन्म के साथ सम्बन्ध (निमित्तार्थः) जातकर्म निमित्तक है।

भाष्य—उक्त वैश्वानरेष्टि पुत्र जन्म के अव्यवहित उत्तरकाल में कर्तव्य है किंवा पुत्र जन्म के अनन्तर जातकर्म होजाने पर कर्तव्य है? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि "यस्मिन् जाते" वाक्य में यद्यपि निमित्तार्थक सप्तम्यन्त "यस्मिन् जाते" पद का प्रयोग किया है जिससे पुत्र जन्म उक्त इष्टि का निमित्त प्रतीत होता है तथापि उक्त वाक्य से यह नहीं पाया जाताकि उक्त इष्टि अव्यवहित उत्तर काल में ही होनी चाहिये जातकर्म के अनन्तर नहीं और "जातकर्म" भी जन्म निमित्तक होने के कारण उक्त इष्टि की भांति प्राप्त है; दोनों की प्राप्ति समान होने से किसी का परित्याग नहीं होसक्ता, परन्तु यदि जातकर्म से पूर्व वैश्वानरेष्टि कीजाय तो जीवनाधार स्तनपानादि का विलम्ब होजाने से पुत्र के पीड़ित होजाने का भय है और स्तन प्राशनादि कर्म "जातकर्म" हुए विना नहीं होसक्ते, इसलिये सिद्ध है कि उक्त इष्टि जातकर्म के उत्तरकाल में ही कर्तव्य है प्रथम नहीं।

सं०—अब सूत्र २ काल में अङ्गों की कर्तव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम्। ४०।

पद०—प्रधानेन। अभिसंयोगात्। अङ्गानां। मुख्यकालत्वम्।

पदा०-(अङ्गानां) अङ्ग कर्मों के अनुष्ठान का (मुख्यकालत्वं) प्रधान काल होना चाहिये, क्योंकि (प्रधानेन) उनका प्रधान कर्म के साथ (अभिसंयोगात्) सम्बन्ध है ।

भाष्यं-जिस काल में प्रधानकर्म का अनुष्ठान होता है उसको "प्रधानकाल" कहते हैं. अङ्गकर्मों का अनुष्ठान प्रधानकाल में कर्तव्य है किंवा स्व २ काल में ? यह संदेह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि अङ्गकर्मों का सम्बन्ध प्रधानकर्म के साथ है और जिस-के साथ जिनका संम्बन्ध है उसी के काल में उनका होना उचित है भिन्न काल में नहीं. इसलिये सिद्ध है कि अङ्गों के अनुष्ठान का काल स्व २ काल नहीं किन्तु प्रधानकाल है ॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

अपवृत्ते तु चोदनात्तत्सामान्यात्स्वकाले स्यात् । ४१ ।

पद०-अपवृत्ते । तु । चोदनात् । तद् । सामान्यात् । स्वकाले । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (स्वकाले) अङ्गकर्मों का अनुष्ठान स्व २ काल में (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (अपवृत्ते) प्रधानकर्म की समाप्ति के अनन्तर (चोदनात्) उनका विधान किया गया है और (तद्) वह (सामान्यात्) सब अङ्गकर्मों के लिये समान है ।

भाष्य-यदि प्रधानकर्म तथा अङ्गकर्मों का विधान प्रधानकाल

में होता तो अवश्य अङ्गकर्मों के अनुष्ठान की प्रधानकाल में कल्पना कीजाती परन्तु प्रधानकर्म के अनन्तर अङ्गकर्मों का विधान किया है जिससे उनके अनुष्ठान का प्रधानकाल प्रतीत नहीं होता, इसलिये सिद्ध है कि प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध होने पर भी अङ्गकर्मों के अनुष्ठान का प्रधानकाल नहीं किन्तु स्व २ काल है ।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
चतुर्थाध्याये
तृतीयपादः

ओ३म्

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थःपादः प्रारभ्यते

सं०–अब "देवन" आदि को "राजसूय" याग की अङ्गता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्वम् । १ ।

पद०–प्रकरणशब्दसामान्यात् । चोदनानाम् । अनङ्गत्वम् ।

पदा०–(चोदनानां) "देवन" आदि (अनङ्गत्वं) "राजसूय" का अङ्ग नहीं, क्योंकि (प्रकरणशब्दसामान्यात्) प्रकरण तथा शब्द से दोनों की समानता पाई जाती है ।

भाष्य–"दीव्यति" शब्द से जो क्रिया विधान कीजाय उसको "देवन" कहते हैं "राजसूय" याग के प्रकरण में "इष्टि, पशु, सोम तथा दर्विहोम इस प्रकार याग रूप चार कर्म विधान करके पश्चात् "प्रष्ठौहीं दीव्यति"=तोपखाने तथा बोझ उठाने वाली बैलगाड़ियें "कुवायद" नामक क्रीड़ा करें "अक्षैर्दीव्यति" = पंक्तिबद्ध पदाति तथा घुड़सवार सेना उक्त क्रीड़ा करे "राजन्यं जिनाति"=शत्रु पक्ष तथा स्व-पक्ष की कल्पना से समस्त सेना का विभाग करके युद्ध में शत्रु पक्ष के राज को जीने, इत्यादि वाक्यों से "देवन" आदि क्रिया-

यें विधान की हैं उक्त क्रियायें "राजसूय" याग का अङ्ग हैं किंवा नहीं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष सिद्धान्ती तथा द्वितीय-पक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे इष्टि आदि क्रियायें विधान कीगई हैं वैसेही देवनादि भी विधान किये गये हैं और विधि शब्द की भांति प्रकरण भी दोनों प्रकार की क्रियाओं का समान है और जिनका विधायक शब्द तथा प्रकरण समान है वह परस्पर अङ्गाङ्गिभाव रूप सम्बन्ध से कदापि सम्बद्ध नहीं होसक्ते और जो उक्त प्रकार से कदापि सम्बद्ध नहीं होसक्ते उनमें एक को अङ्ग तथा दूसरे को अङ्गी, इस प्रकार अङ्गाङ्गि-भाव की कल्पना करना भी ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "देवन" आदि राजसूय याग का अङ्ग नहीं किन्तु वह भी अन्य प्रधान क्रियाओं की भांति प्रधान क्रियायें हैं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अपि वाऽङ्गमनिज्याः स्युस्ततो विशि-ष्टत्वात् । २ ।

पद०-अपि । वा । अङ्गम । अनिज्याः । स्युः । ततः । विशि-ष्टत्वात् ।

पदा०-"अपि, वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आये हैं (अनिज्याः) उक्त अयागरूप देवनादि क्रियायें (अङ्गं) राजसूय याग का अङ्ग (स्युः) हैं, क्योंकि (ततः) वह याग रूप क्रियाओं से (विशिष्टत्वात्) भिन्न हैं।

भाष्य-यद्यपि याग रूप क्रिया तथा उक्त अयागरूप देव-नादि क्रियाओं का प्रकरण तथा विधायक शब्द समान हैं तथापि

स्वरूपकृत भेद होने के कारण उक्त दोनों क्रियायें समान नहीं होसक्तीं अर्थात् राजसूयान्तर्गत यागरूप क्रियायें जैसे प्रधान हैं वैसे अयागरूप नहीं, क्योंकि यागरूप क्रियाओं की भांति उक्त अयागरूप क्रियायें अप्राप्त नहीं किन्तु राजा को नित्य प्राप्त हैं केवल उत्साह वृद्धि तथा सेना की बलपरीक्षा के लिये प्रधान उत्सव समय में उनका विधान किया गया है और प्रधान क्रिया वही होसक्ती है जो प्रथम अप्राप्त हो प्राप्त नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त देवनादि क्रियायें यागरूप क्रिया की भांति प्रधान नहीं किन्तु अङ्ग हैं, या यों कहो कि देवनादि "राजसूय" याग का अङ्ग हैं अनङ्ग नहीं।

सं०–अब उक्त "देवन" आदि क्रियाओं को कृत्स्न राजसूय याग का अङ्ग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये । ३ ।

पद०–मध्यस्थं । यस्य । तत् । मध्ये ।

पदा०–(यस्य) जो जिसकी (मध्यस्थं) सन्निधि में पठित है (तत्) वह (मध्ये) उसी का अङ्ग है ।

भाष्य–इष्टि आदि पूर्वोक्त अनेक क्रियाओं का नाम "राजसूय" है, उक्त राजसूय याग के अन्तर्गत "अभिषेचनीय" नामक सोम याग की सन्निधि में उक्त देवनादि क्रियायें विधान की हैं इसमें यह सन्देह हुआ कि उक्त क्रियायें केवल अभिषेचनीय क्रिया का ही अङ्ग हैं किंवा समस्त राजसूय का ? इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि यद्यपि महाप्रकरण एक होने से उक्त देवनादि क्रियायें

समस्त राजसूय याग का अङ्ग सिद्ध होती हैं तथापि अवान्तर प्रकरण तथा सन्निधि प्रमाण के बल से वह अभिषेचनीय मात्र का अङ्ग सिद्ध होती हैं क्योंकि महाप्रकरण उत्सर्ग तथा अवान्तर प्रकरण अपवाद है और अपवाद के विषय को छोड़कर सर्वदा अपवाद की प्रवृत्ति होती हैं यह नियम हैं, महाप्रकरण से देवनादि का समस्त याग के साथ सम्बन्ध प्राप्त होने पर भी अवान्तर प्रकरण से उसका सङ्कोच होकर "अभिषेचनीय" मात्र के साथ ही सम्बन्ध होना उचित है, समस्त याग के साथ नहीं, इसलिये सिद्ध है, कि देवनादि क्रियायें केवल "अभिषेचनीय" का ही अङ्ग हैं समस्त याग का नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्नहि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये।४।

पद०—सर्वासां। वा। समत्वात्। चोदनातः। स्यात्। नहि। तस्य। प्रकरणं। देशार्थम्। उच्यते। मध्ये।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (सर्वासां) राजसूय नामक समस्त क्रियाओं का (स्यात्) देवनादि अङ्ग हैं क्योंकि (चोदनातः) विधि वाक्यों से (समत्वात्) वह सब प्रधान रूप से समान हैं (तस्य) और अभिषेचनीय का (प्रकरणं) अवान्तर प्रकरण भी (नहि) नहीं है (मध्ये) और जो मध्य में पाठ किया गया है (देशार्थं) वह स्थान के अभिप्राय से है अङ्ग के अभिप्राय से नहीं।

भाष्य–यदि "अभिषेचनीय" का अवान्तर प्रकरण होता तो अवश्य महाप्रकरण का सङ्कोच होकर "देवन" आदि को केवल "अभिषेचनीय" का ही अङ्ग कल्पना किया जाता परन्तु उसका अवान्तर प्रकरण नहीं है, अभिषेचनीय की सन्निधि में जो देवनादि का पाठ किया गया है वह स्थान के अभिप्राय से किया गया है अङ्गता के अभिप्राय से नहीं अर्थात् देवनादि के विधान के लिये कोई स्थान अवश्य होना चाहिये, इस आकांक्षा के वारणार्थ उक्त स्थान में पाठ किया गया है और राजसूय याग के अन्तर्गत जैसे "अभिषेचनीय" प्रधान क्रिया है वैसे ही इष्टि आदि समस्त क्रियायें भी प्रधान हैं उनको छोड़कर केवल अभिषेचनीय ही का देवन आदि को अङ्ग कल्पना करना युक्ति युक्त नहीं, क्योंकि जब सब क्रियायें परस्पर समान हैं तो फिर क्या कारण कि देवनादि अभिषेचनीय का ही अङ्ग है अन्य का नहीं यह सर्वथा अप्रामाणिक बात है और बिना प्रमाण के इस प्रकार का सङ्कोच भी नहीं माना जासक्ता, इसलिये सिद्ध है कि देवनादि समस्त राजसूय याग का अङ्ग है केवल अभिषेचनीय का ही नहीं।

सं०–अब "सौम्य" आदि हवियों की "उपसद्" काल में कर्तव्यता कथन करते हैं:–

प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम्।८।

पद०–प्रकरणाविभागे। च। विप्रतिषिद्धं। हि। उभयम्।

पदा०–(च) और (प्रकरणाविभागे) प्रकरण का भेद न होने पर भी सौम्यादि को उपसदों का अङ्ग मानना ही ठीक है (हि) क्योंकि (विप्रतिषिद्धं) परस्पर विरुद्ध होने के कारण (उभयं) अङ्गता तथा तत्कालता दोनों नहीं मानसक्ते।

भाष्य-"राजसूय" याग के प्रकरण में "संसृत्" नामक दश हवियें विधान की हैं उनके मध्य सौम्य, त्वाष्ट्र तथा वैष्णव नामक तीन हवियों के अनन्तर "पुरस्तादुपसदां सौम्येन प्रचरन्ति, अन्तरात्वाष्ट्रेण, उपरिष्टाद्वैष्णवेन"= "उपसद्" नामक होमों के प्रथम "सौम्य" मध्य में "त्वाष्ट्र" पश्चात् "वैष्णव" होम करे, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें सौम्यादि होमों को उपसद् होमों का अङ्ग कथन किया है किंवा उनके अनुष्ठान का उपसत् काल कथन किया है? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि यद्यपि प्रकरण की अविलक्षणता के कारण अङ्गता तथा अनुष्ठानकालता दोनों प्राप्त हैं तथापि दोनों का विधान मानना ठीक नहीं क्योंकि उसके मानने से वाक्यभेद रूप दोष आजाता है और वाक्यार्थबोध में उक्त दोष प्रबल प्रतिबन्धक है और उक्त दोनों के मध्य काल का विधान मानना व्यर्थ है, क्योंकि वह अनुष्ठानान्यथानुपपत्ति से स्वयं प्राप्त है और अङ्गता मानने में गुण-यह है कि प्रकरण सर्वथा संगत होजाता है और प्रकरण का संगत होना आवश्यक है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्यों में सौम्यादि होमों के अनुष्ठान का उपसद् काल विधान नहीं किया उनको उपसद् होमों का अङ्ग कथन किया है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद्विशेषस्य।६

पद०-अपि। वा। कालमात्रं। स्यात्। अदर्शनात्। विशेषस्य।

पदा०-"अपि, वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आये हैं (कालमात्रं) उक्त वाक्य में कालमात्र का विधान (स्यात्)

होना चाहिये, क्योंकि (विशेषस्य) उक्त दोनों होमों में अङ्गाङ्गि-भाव की प्रयोजक कोई विशेषता (अदर्शनात्) नहीं पाई जाती।

भाष्य—यदि "उपसद्" होम तथा "सौम्य" आदि होमों में कुछ भेद होता तो अवश्यमेव उक्त वाक्य में उनके अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना कीजाती परन्तु भेद यत्किञ्चित् भी नहीं है, जैसे उपसद् होम प्रधान है वैसे ही सौम्य आदि होम भी प्रधान हैं और जो प्रधान होते हैं उनका अङ्गाङ्गिभाव कदापि नहीं होता यह नियम है, और उक्त वाक्य में "उपसदां" इस प्रकार षष्ठ्यन्त "उपसद्" पद का कालवाची "पुरस्तात्" आदि पदों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है जिससे यह सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य अङ्गाङ्गिभाव का कथन नहीं करता किन्तु अनुष्ठान काल का करता है और उक्त वाक्य में उपसद् होमों का उपादान भी काल के बोधनार्थ ही किया है, क्योंकि अनुष्ठान कब करे? इस आकांक्षा के वारणार्थ उपसदों का उपादान आवश्यक प्रतीत होता है और प्रकरण के बल से उक्त दोनों होम राजसूय याग के अन्तर्गत होने से समान हैं उनमें विषमभाव की कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये यही मानना ठीक है कि उक्त वाक्य में सौम्यादि के अनुष्ठान काल का कथन किया है अङ्गाङ्गिभाव नहीं।

सं—अब "आमन" होमों को "माङ्गहणी" इष्टि का अङ्ग कथन करते हैं:—

फलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्यप्रधानंस्यात्।७।

पद०—फलवत्। वा। उक्तहेतुत्वात्। इतरस्य। प्रधानं। स्यात्।

पदा०—"वा" शब्द उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है

(फलवत्) फलवाली " साङ्ग्रहणी " इष्टि (इतरस्य) आमन होमों के प्रति (प्रधानं) प्रधान (स्यात्) है, क्योंकि (उक्तहेतुत्वात्) फल वाले की सन्निधि में पठित अफल का अङ्ग होना सर्वसम्मत है।

भाष्य-" साङ्ग्रहणींनिर्वपेद्ग्रामकामः = ग्राम की कामना वाला पुरुष " साङ्ग्रहणी " नामक याग करे, इस प्रकार " साङ्ग्रहणी " का विधान करके " आमनस्य २ देवा इति तिस्र आहुतीर्जुहोति " = "आमनस्य २ देवाः" इस मन्त्र से तीन आहुतियें दे, यह " आमन " नामक तीन होम विधान किये हैं, जिस इष्टि के करने से मनुष्यों का सङ्ग्रह हो उसको " साङ्ग्रहणी " कहते हैं, उक्त होम साङ्ग्रहणी के समान प्रधान हैं किंवा उक्त इष्टि के अङ्ग हैं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि " फलवत्सन्निधावफलंतदङ्गं" = जो फल वाले कर्म के समीप अफल कर्म विधान किया जाता है वह उसका अङ्ग होता है, इस नियम के अनुसार फलवाली "साङ्ग्रहणी" इष्टि की सन्निधि में पठित तीनों आमन होम कदापि प्रधान नहीं होसक्ते और साङ्ग्रहणी इष्टि फलवाली होने के कारण प्रधान होसक्ती है और फल वाली तथा फल रहित दोनों के मध्य फल वाली को प्रधान तथा फल रहित को उसका अङ्ग मानना अनुचित नहीं अपितु युक्तियुक्त है, इसलिये सिद्ध है कि " आमन होम " उक्त इष्टि के समान नहीं किन्तु उसका अङ्ग हैं।

सं०-अब " दधिग्रह " को नित्य कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् । ८ ।

पद०—दधिग्रहः । नैमित्तिकः । श्रुतिसंयोगात् ।

पदा०—(दधिग्रहः) दधिग्रह (नैमित्तिकः) नैमित्तिक है, क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) अन्तराय रूप निमित्त का सम्बन्ध पाया जाता है ॥

भाष्य—"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में "यां वै काञ्चिदध्वर्युर्यजमानश्च देवतामन्तरितः तस्या आवृश्चेत, यत्प्राजापत्यंदधिग्रहं गृह्णाति शमयत्येवैनम्" = अध्वर्यु तथा यजमान जिस देवता का अन्तराय = व्यवधान करते हैं वह कुपित होजाता है और जो दधिग्रह का उपादान किया जाता है वह उक्त देवता के कोप को शान्त करता है यह वाक्य पढ़ा है, इसमें जो देवता के अन्तराय का "दधिग्रह" कथन किया है वह नैमित्तिक है किंवा नित्य नैमित्तिक दोनों है अथवा नित्य ही है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष तथा द्वितीय दोनों पक्ष पूर्वपक्षी तथा तृतीयपक्ष सिद्धान्ती का है, प्रथमपक्ष वाले पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में अन्तराय रूप निमित्त के होने पर दधिग्रह का ग्रहण विधान किया है, यदि बिना निमित्त के विधान होता तो अवश्य वह नित्य कल्पना किया जाता परन्तु जब "अन्तराय" प्रयुक्त होने वाले कोप की शान्ति के लिये उक्त ग्रह का उपादान विधान किया है तब वह कैसे नित्य होसक्ता है और अन्तरायरूप निमित्त का संयोग उक्त वाक्य मे स्पष्ट है, जब उक्त निमित्त का सम्बन्ध स्पष्ट है तब उक्त ग्रह का नैमित्तिक होना भी असङ्गत नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "दधिग्रह" नित्य नहीं किन्तु नैमित्तिक है ।

सं०—अब द्वितीय पूर्वपक्ष करते हैं :—

नित्यश्च ज्येष्ठशब्दात् । ९ ।

पद०—नित्यः । च । ज्येष्ठशब्दात् ।

पदा०—(नित्यः) उक्त ग्रह नित्य (च) तथा नैमित्तिक दोनों है, क्योंकि (ज्येष्ठशब्दात्) उसका ज्येष्ठ होना पाया जाता है ।

भाष्य—यदि "दधिग्रह" केवल नैमित्तिक ही होता तो सब ग्रहों के मध्य उक्त ग्रह का ज्येष्ठ = प्रशस्त होना न पाया जाता और "ज्येष्ठोवाराषग्रहाणां" = यह दधि सब ग्रहों के मध्य ज्येष्ठ है, इस प्रकार उसका ज्येष्ठ होना पायाजाता है, यह तभी युक्त होसक्ता है जब उसको नित्य माना जाय, क्योंकि नित्यता के विना उक्त ग्रह को ज्येष्ठ नहीं कहाजासक्ता और नैमित्तिक की अपेक्षा नित्य का ज्येष्ठ होना सर्वसम्मत है जैसे ज्येष्ठत्व कथन से उक्त ग्रह का नित्य होना सिद्ध होता है वैसेही अन्तराय रूप निमित्त के पाये जाने से नैमित्तिक होना भी सिद्ध है और नित्यता तथा नैमित्तिकता दोनों के साधक हेतुओं का सद्भाव पाये जाने से यह नहीं होसक्ता कि एक को माना जाय तथा दूसरे का परित्याग किया जाय अपितु दोनों का ग्रहण ही युक्त प्रतीत होता है अयुक्त नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "दधिग्रह" केवल नैमित्तिक ही नहीं किन्तु नित्य नैमित्तिक दोनों है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :—

सार्वरूप्याच्च । १० ।

पद०—सार्वरूप्यात् । च ।

पदा०—(च) और (सार्वरूप्यात्) सर्वरूपता के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"सर्वेषां वा एतद्देवानां रूप यदेष-ग्रहः"=यह दधिग्रह सम्पूर्ण नित्य नैमित्तिक देवताओं का स्वरूप है, इस वाक्य में जो उक्त ग्रह को सर्वरूप कथन किया है वह तभी होसक्ता है जब उसको उभय रूप माना जाय, अन्यथा उक्त कथन सर्वथा व्यर्थ होजाता है परन्तु उसका व्यर्थ होना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त ग्रह नित्य नैमित्तिक उभय रूप है केवल नैमित्तिक ही नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्षों का समाधान करते हैं :—

नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः कर्मण्य-सम्बन्धाद्भङ्गित्वाच्चान्तरा-यस्य । ११ ।

पद०—नित्यः । वा । स्यात् । अर्थवादः । तयोः । कर्मणि । असम्बन्धात् । भङ्गित्वात् । च । अन्तरायस्य ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्षों के निराकरणार्थ आया है (नित्यः) उक्त ग्रह नित्य (स्यात्) है, क्योंकि (अर्थवादः) उक्त अन्तराय वाक्य अर्थवाद है (च) और उससे (तयोः) अध्वर्यु तथा यजमान दोनों का (कर्मणि) कर्म में (असम्बन्धात्) सम्बन्ध नहीं पाया जाता (अन्तरायस्य) और अन्तराय का श्रवण (भङ्गित्वात्) उक्त ग्रह के विधान में प्रकरण मात्र होसक्ता है ।

भाष्य—यदि अन्तराय निमित्तिक दधिग्रह का विधान होता तो अवश्य उसको नित्य तथा नैमित्तिक उभय रूप माना जाता परन्तु उक्त वाक्य से अन्तराय का निमित्त होना नहीं पाया जाता और जहां कहीं निमित्तप्रयुक्त नैमित्तिक का विधान है वहां सर्वत्र निमित्त वाची यदि शब्द तथा सप्तम्यन्त का प्रयोग पाया जाता है जैसाकि "यदि रथन्तरसामासोमःस्यादैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्" "भिन्नेजुहोति" इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है, इनका अर्थ पीछे किया गया है, यहां पुनः उसकी आवश्यकता नहीं, यदि अन्तराय भी उक्त ग्रह का निमित्त होता तो अवश्य उक्त वाक्य में उसके वाची "यदि" अथवा सप्तम्यन्त शब्द का प्रयोग पाया जाता परन्तु नहीं पाया जाता, इससे स्पष्ट है कि अन्तराय का उपन्यास निमित्त के अभिप्राय से नहीं किन्तु उक्त ग्रह की प्रशंसा के अभिप्राय से किया है अर्थात् उक्त अन्तराय वाक्य "दधिग्रह" के ग्रहण तथा विधान का स्तावक अर्थवाद है, क्योंकि उक्त वाक्य से अध्वर्यु तथा यजमान का कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता, यदि पाया जाता तो भी कर्म सम्बन्धी अन्तराय की संभावना होने से उक्त ग्रह को नैमित्तिक माना जाता परन्तु अध्वर्यु तथा यजमान का कर्म के साथ असम्बन्ध होने से स्पष्ट है कि उक्त अन्तराय कर्मसम्बन्धी नहीं किन्तु ग्रहविधिसम्बन्धी है और जो विधिसम्बन्धी है वह अर्थवाद है यह पीछे निरूपण किया गया है और जो उक्त ग्रह को ज्येष्ठ तथा सर्वरूप कथन किया है वह भी उसकी नित्यता का साधक है बाधक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "दधिग्रह" नैमित्तिक तथा नित्य नैमित्तिक उभय रूप नहीं किन्तु केवल नित्य है॥

सं०-अब "वैश्वानर" इष्टि को नैमित्तिक कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

वैश्वानरश्चनित्यः स्यान्नित्यैः समान-संख्यत्वात् । १२ ।

पद०-वैश्वानरः । च । नित्यः । स्यात् । नित्यैः । समान-संख्यत्वात् ।

पदा०-(च) और (वैश्वानरः) वैश्वानर इष्टि (नित्यः) नित्य-कर्म (स्यात्) है, क्योंकि (नित्यैः) नित्यों के साथ (समानसंख्यत्वात्) उसका समानरूप से कथन पायाजाता है।

भाष्य-"अग्निचयन" के प्रकरण में "यो वै संवत्सर मुख्य-प्रभृत्वाऽग्निं चिनुते, यथा सामिगर्भोविपद्यत तादृगेवतदा र्तिमार्च्छेत्, वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरस्तान्निर्वपेत्" = जो पुरुष एकवर्ष उखा = ठीकरे में न रखकर अग्नि का चयन कुण्ड में स्थापन करता है वह अपूर्ण गर्भपात की भांति दुःख को प्राप्त होता है, इसलिये उसके चयन से पूर्व "वैश्वानर" इष्टि करे, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें जो "वैश्वानर" इष्टि विधान की है वह नित्य है किंवा नैमित्तिक ! यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे अन्य नित्यकर्मों का विधान किया है वैसे ही उक्त "वैश्वानर" का विधान भी पायाजाता है अर्थात् जैसे "यदि" तथा "सप्तम्यन्त" शब्दों के उल्लेख विना प्रायः नित्य-कर्म का विधान उपलब्ध होता है वैसे ही वैश्वानर का भी उपलब्ध

होता है, यदि कुछ विशेषता होती तो अवश्य विधान में कुछ विलक्षणता पाई जाती परन्तु नहीं है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त कर्म नैमित्तिक नहीं किन्तु नित्य है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

पक्षेवोत्पन्नसंयोगात् । १३ ।

पद०—पक्षे । वा । उत्पन्नसंयोगात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (पक्षे) नैमित्तिक पक्ष में ही उक्त कर्म मानना उचित है, क्योंकि (उत्पन्नसंयोगात्) विधायक वाक्य से निमित्त का सम्बन्ध पायाजाता है ।

भाष्य—यद्यपि उक्त वाक्य में "यदि" तथा "सप्तम्यन्त" शब्द का प्रयोग नहीं पायाजाता तथापि "यः पुमान भृत्वाऽग्निंचिनुते, स निर्वपेत्"=जो पुरुष उखा में धारण न करके "अग्निचयन" करता है वह उक्त इष्टि करे, इस प्रकार "यत, तत्" शब्द से अभरण=अधारण तथा इष्टि का उपादान करने से निमित्त नैमित्तिक भाव स्पष्ट पाया जाता है और जो स्पष्टरूप से पाया जाता है उसका परित्याग नहीं होसक्ता अर्थात् एक वर्ष पर्य्यन्त उखा में धारण करके "अग्निचयन" करने वाले को उक्त इष्टि कर्तव्य नहीं है परन्तु जो उक्त काल पर्य्यन्त धारण नहीं करसक्ता उसको दोष निवृत्ति के लिये उक्त इष्टि कर्तव्य है, इस प्रकार उसकी कर्तव्यता पाये जाने से स्पष्ट है कि अभरण ही उक्त इष्टि का निमित्त है, क्योंकि उसके होने पर वह कीजाती है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त "वैश्वानर" इष्टि नैमित्तिक है नित्य नहीं ।

सं०-अब छेवीं "चिति" को नैमित्तिक कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

षट्चितिः पूर्ववत्स्यात् । १४ ।

पद०-षट्चितिः । पूर्ववत् । स्यात् ।

पदा०-(षट्चितिः) छेवीं "चिति" (पूर्ववत्) पहली पांच चितियों की भांति (स्यात्) नित्य है ।

भाष्य-"अग्निचयन" के प्रकरण में पठित "संवत्सरं वाराग्नं प्रतिष्ठायै नुदते, योऽग्निंचित्वा न प्रतितिष्ठति. पञ्चपूर्वाश्चितयो भवान्ति. अथ षष्ठीं चितिं चिनुते"= वर्ष पर्य्यन्त अग्निचयन की प्रतिष्ठा होती है, जिस पुरुष का उक्त काल पर्य्यन्त अग्निचयन प्रतिष्ठित नहीं होता उनके लिये प्रथम पांच चितियें और पश्चात् छेवीं चिति होती है, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, हल से जोतने योग्य भूमि को खोद-कर जो नाना प्रकार की ईटों से अग्नि स्थापन करने के लिये पक्षी के आकार सदृश कुण्डविशेप बनाया जाता है उसको "चिति" कहते हैं. उक्त वाक्य में जो षष्ठी = छेवीं "चिति" कथन की है वह नित्य है किंवा नैमित्तिक? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में जो षष्ठी चिति कथन की है वह "पूरणी षष्ठी"=जो छे संख्या को पूर्ण करे उसको "षष्ठी" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से प्रथम पांच चिति के सम्बन्ध की आकांक्षा करती है, क्योंकि उनके सम्बन्ध हुए विना वह षष्ठी

नहीं कहला सक्ती और प्रथम की पांच चितियें नित्य सर्वसम्मत हैं, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं और उनके नित्य होने से तत्सम्बन्धिनी षष्ठी चिति भी नित्य ही होनी चाहिये, क्योंकि नित्य हुए विना वह उनकी सम्बन्धिनी नहीं होसक्ती और न उनके सम्बन्ध की आकांक्षा करसक्ती है परन्तु उक्त व्युत्पत्ति से वह प्रथम पांच चितियों की साकांक्ष स्पष्ट है, इसलिये सिद्ध है कि जैसे प्रथम पांच चितियें अग्निचयन की प्रतिष्ठार्थ होने से नित्य हैं वैसे ही षष्ठी चिति भी नित्य है।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

ताभिश्चतुल्यसंख्यानात् । १९ ।

पद०-ताभिः । च । तुल्यसंख्यानात् ।

पदा०-(च) और (ताभिः) प्रथम पांच चितियों के (तुल्य-संख्यानात्) समान कथन पाये जाने से भी षष्ठीचिति नित्य सिद्ध होती है।

भाष्य-"**इयं वाव प्रथमाचितिः**" इत्यादि वाक्यों से जैसे पहली नित्य पांच चितियों का कथन किया है वैसे ही "**संवत्सरो वाव षष्ठीचितिः**"=यह वर्ष पर्यन्त प्रतिष्ठित करने वाली षष्ठी चिति है, इत्यादि वाक्यों से षष्ठी चिति का भी कथन किया है, यदि यह नैमित्तिकी होती तो कदापि नित्य चितियों के साथ इसका समान रूप से कथन न किया जाता परन्तु किया है, इसलिये सिद्ध है कि प्रथम पांच चितियों की भांति षष्ठी चिति भी नित्य है नैमित्तिकी नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :-

अर्थवादोपपत्तेश्च । १६ ।

पद०-अर्थवादोपपत्तेः । च ।

पदा०-(च) और (अर्थवादोपपत्तेः) अर्थवाद के उपपन्न होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-" षट् चितयो भवन्ति "=प्रतिष्ठा का कारण छे चितियें होती हैं, इत्यादि वाक्य अर्थवाद हैं, इनमें जो छेओं चितियों को समान रूप से मिलाकर प्रतिष्ठा का कारण कथन किया है वह छेवीं चिति को नित्य माने विना उपपन्न नहीं होसक्ती और उसका उपपन्न होना आवश्यक है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त छेवीं चिति नित्या है नैमित्तिकी नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन । १७ ।

पद०-एकचितिः । वा । स्यात् । अपवृक्ते । हि । चोद्यते । निमित्तेन ।

पदा०-" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (एकचितिः) छेओं चितिओं के मध्य केवल एक छेवीं चिति ही (स्यात्) नैमित्तिकी होनी चाहिये (हि) क्योंकि (अपवृक्ते) प्रथम पांच चितियों के समाप्त होने पर (निमित्तेन) अप्रतिष्ठा निमित्त से (चोद्यते) उसका विधान कियागया है ।

भाष्य-उक्त विषय वाक्य में पांच चितियों की समाप्ति होने पर अप्रतिष्ठा निमित्त से छेवीं चिति का विधान किया है यह

अवश्य मानना पड़ता है, यदि ऐसा न माना जाय तो उक्त वाक्य में पांच चितियों की समाप्ति का वाचक जो "चित्त्रा" पद दिया है वह सर्वथा व्यर्थ होजाता है और उसके व्यर्थ होने से "योऽत्र न प्रतितिष्ठति, असौ षष्ठीं चिनुते"=जो पांच चितियें होजाने पर भी प्रतिष्ठित न हो वह छेवीं चिति करे, इस प्रकार अप्रतिष्ठा निमित्त से विधान कीगई षष्ठी चिति भी सर्वथा असङ्गत होजाती है और उक्त पद प्रयोग तथा षष्ठी चिति के विधान से यह बात स्पष्ट होजाती है कि जैसे पांच चितियें हैं वैसी छेवीं चिति नहीं है, क्योंकि पांच चितियों के करने पर भी प्रतिष्ठा न होने के कारण उसका विधान कियागया है अर्थात् जैसे षष्ठी चिति के विधान का अप्रतिष्ठा रूप निमित्त उपलब्ध होता है वैसे पहली पांच चितियों के विधान का कोई निमित्त उपलब्ध नहीं होता और जिनके विधान का कोई निमित्त नहीं वह नित्य तथा जिनके विधान का निमित्त विद्यमान है वह नैमित्तिक सर्वसम्मत है, इसमें विशेष वक्तव्य अपेक्षित नहीं, षष्ठी चिति के विधान में अप्रतिष्ठा रूप निमित्त स्पष्ट है, इसलिये सिद्ध है कि पहली पांच चितियें नित्य होने पर भी छेवीं चिति नित्य नहीं किन्तु नैमित्तिकी है।

सं०–अब पूर्वपक्ष में उक्त दोनों युक्तियों का समाधान करते हैं:–

विप्रतिषेधात्ताभिः समानसंख्यत्वम् ।१८।

पद०–विप्रतिषेधात् । ताभिः । समानसंख्यत्वम् ।

पदा०–(विप्रतिषेधात्) एक चिति में षष्ठत्व विरोध के कारण (ताभिः) पहली पांच चितियों के साथ (समानसंख्यत्वं) छेवीं चिति का समान रूप से कथन किया है ।

भाष्य-"**इयं वाव प्रथमा**" आदि वाक्यों से जो पांच चितियों के साथ छत्रीं चिति का समान रूप से कथन किया है वह इस अभिप्राय से नहीं किया कि छओं चितियें परस्पर समान हैं किन्तु "**अथ षष्ठीं चिनुते**" वाक्य मे विधान कीगई छत्रीं चिति में जो एकत्व तथा षष्ठत्व दो विरुद्ध संख्या का अपात से भान होता है, या यों कहो कि जो एक छत्रीं चिति में पूर्ण प्रत्यय के कारण प्रथम पांच चितियों की आकांक्षा का साधक षष्ठपन प्रतीत होता है उसके समाधानार्थ उक्त वाक्य में पाञ्च चितियों के साथ छवीं चिति का भी समान रूप से कथन किया है और यह कोई नियम नहीं कि समान रूप से कथन समानों का ही होता है विषमों का नहीं, क्योंकि "**यथा मनुष्यास्तर्पणीयास्तथा पशवोऽपि**" जैसे मनुष्य भोजनादि से प्रसन्न करने योग्य हैं वैसे ही पशु भी "**यथाऽऽत्म्यरक्षणीयस्तथा देशोऽपि**" = जैसे स्वकीय चेतन वर्ग रक्षणीय है वैसेही स्वदेश भी रक्षणीय है, इत्यादि स्थलों में विषमों का भी समानवत् कथन पाया जाता है और वह युक्त होने के कारण आदरणीय है अनादरणीय नहीं, और उक्त कथन के युक्त होने से उक्त अर्थवाद भी उपपन्न होजाता है इसमें अधिक वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त छओं के मध्य जैसे पहली पांच चितियें नित्य हैं वैसे छत्रीं नित्य नहीं किन्तु नैमित्तिक है।

सं०-अब "पिण्डपितृ" यज्ञ को "अमावास्या" याग का अनङ्ग कथन करते हैं :-

पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात् । २० ।

पद०–पितृयज्ञः । स्वकालत्वात् । अनङ्गं । स्यात् ।

पदा०–(पितृयज्ञः) पितृयज्ञ (अनङ्गं) दर्श यज्ञ का अनङ्ग (स्यात्) है, क्योंकि (स्वकालत्वात्) उसके विधायक वाक्य में "अमावास्या" पद काल का वाचक है कर्म का नहीं ।

भाष्य–दर्श तथा आमावास्या यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं आमावास्या याग के प्रकरण में पठित **"आमावास्या यामपराह्ने पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति"** = अमावास्या के पिछले पहर पिण्डपितृयज्ञ करें, इस वाक्य से जो "पिण्डपितृयज्ञ" विधान किया है वह आमावास्या यज्ञ का अङ्ग है किंवा अनङ्ग है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यदि उक्त वाक्य में "अमावास्या" पद याग का वाचक होता तो अवश्य पिण्डपितृयज्ञ को उसका अङ्ग माना जाता परन्तु वह याग का वाचक नहीं किन्तु काल का वाचक है और काल का वाचक होने से ही वह उक्त याग का आधार होसक्ता है अन्यथा **"अमावास्यायामपराह्ने"** में आधार वाची सप्तमी विभक्ति का प्रयोग सर्वथा व्यर्थ होजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि अमावस्या के अपराह्न में जो पिण्डपितृयज्ञ विधान किया है वह स्वतन्त्र कर्म है अमावास्या कर्म का अङ्ग नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :–

तुल्यवत् प्रसंख्यानात् । २१ ।

पद०–तुल्यवत् । प्रसंख्यानात् ।

पदा०–(तुल्यवत्) "दर्शपूर्णमास" आदि कर्म के समान (प्रसंख्यानात्) कथन पायेजाने से भी उक्तअर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-यदि "पिण्डपितृयज्ञ" स्वतन्त्र प्रधान कर्म न होता तो "चत्वारो वै महायज्ञा अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासाव-ग्निष्टोमः पिण्डपितृयज्ञश्च"=अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, अग्निष्टोम तथा पिण्डपितृयज्ञ यह चारो महायज्ञ हैं, इस प्रकार महायज्ञ रूप से दर्श आदि के समान उसका कथन न किया जाता, क्योंकि प्रधानकर्मता से बिना किसी कर्म को भी "महायज्ञ" नहीं कह-सक्ते परन्तु कथन किया है. इसलिये सिद्ध है कि "पिण्डपितृयज्ञ" अमावास्या याग का अङ्ग नहीं किन्तु स्वतन्त्र यज्ञ है।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:-

प्रतिषिद्धे च दर्शनात् ।२१।

पद०-प्रतिषिद्धे । च । दर्शनात् ।

पदा०-(च) और (प्रतिषिद्धे) "अमावास्या" याग का निषेध होने पर भी (दर्शनात्) पिण्डपितृयज्ञ का विधान पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"नामावास्यां यजेत पिण्डपितृयज्ञेनैव अमावास्यायां प्रीणाति" = "अमावास्या" याग न करे किन्तु अमावास्या में पिण्डपितृयज्ञ से परमात्मा को प्रसन्न करे, इत्यादि वाक्यों में जो अमावास्या काल में अमावास्या याग का निषेध करके पिण्डपितृयज्ञ से ही परमात्मा की प्रसन्नता विधान की है इससे स्पष्ट है कि यदि पिण्डपितृयज्ञ अमावास्या याग का अङ्ग होता तो अमावास्या याग का निषेध करके पिण्डपितृयज्ञ का विधान न किया जाता, क्योंकि अङ्गी के निषेध मे अङ्ग का विधान

असम्भव है, इसलिये सिद्ध है कि "पिण्डपितृयज्ञ" अमावास्या याग का अङ्ग नहीं किन्तु स्वतन्त्र कर्म है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि इसी पिण्डपितृयज्ञ के सहारे पौराणिक लोग पितृश्राद्ध को सिद्ध करते और अपने माने मृतकपितृश्राद्ध को मीमांसा शास्त्र से सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं परन्तु यह उनकी अत्यन्त भूल है, क्योंकि उक्त याग नाम मात्र से "पिण्डपितृयज्ञ" है वस्तुतः वह मृतकपितृश्राद्ध नहीं, यदि वह "मृतकपितृश्राद्ध" होता तो उसका मृतकों के उद्देश से विधान किया जाता परन्तु उनके उद्देश से विधान न करने से स्पष्ट होता है कि वह मृतकपितृश्राद्ध से भिन्न कर्म है और उक्त याग के मृतकपितृश्राद्ध न होने में यह एक और भी विशेष कारण है कि पूर्वमीमांसा के भाष्यकार "शबर" स्वामी ने भी उक्त सूत्र को मृतपितृश्राद्ध पर लापन नहीं किया, यदि वह भी उक्त सूत्र को मृतकपितृश्राद्ध पर लापन करते तो अवश्य संशय होता कि उक्त सूत्र में उक्त श्राद्ध का कुछ बीज है परन्तु उक्त स्वामी के भाष्य में भी उक्त श्राद्ध का गन्ध भी नहीं पाया जाता, इसलिये आधुनिक पौराणिकों का यह सर्वथा आडम्बर मात्र है कि जो वह उक्त सूत्र के सहारे अपने मनोरथ को सिद्ध करते हैं और मिथ्याही मृतपितृश्राद्ध को वैदिक तथा दार्शनिक सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, वैदिकों को उनका यह आडम्बर सर्वथा त्याज्य तथा तिरस्करणीय है।

सं०—अब "रशना" को यूप का अङ्ग सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

पश्वङ्गं रशना स्यात्तदागमेविधानात् ।२३।

पद०-पश्वङ्गं । रशना । स्यात् । तदागमे । विधानात् ।

पदा०-(रशना) रशना (पश्वङ्गं) पशु का अङ्ग (स्यात्) है क्योंकि (तदागमे) विधायक वाक्य में पशुसम्बन्ध से (विधानात्) उसका विधान किया गया है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृतायूपंपरिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति" = "आश्विन" नामक ग्रह ग्रहण के अनन्तर तिलड़ रस्सी से यूप को लपेट कर प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से पशु का दान करे, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें जो रशना कथन की है वह देय पशु का अङ्ग है किंवा यूप का ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि यद्यपि उक्त वाक्य में रशना से यूप का परिव्यान = लपेटना कथन किया है पशु का नहीं तथापि वह उपलक्षणार्थ होने से यूप का अङ्ग नहीं होसक्ती अर्थात् यूपपरिव्यानोपलक्षित काल में पशु का दान करे, यह उक्त वाक्य का आशय है और ऐसा आशय होने से जैसे रशना का यूप के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है वैसे ही पशु के साथ भी प्रतीत होता है और दोनों के साथ प्रतीत होने पर भी जैसा पशु के साथ रशनासम्बन्ध सुसङ्गत है वैसा यूप के साथ नहीं, क्योंकि यूप के साथ सम्बन्ध निरर्थक है और निरर्थक का स्वीकार ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि रशना पशु का अङ्ग है यूप का नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात् । २३ ।

पद०-यूपाङ्गं । वा । तत्संस्कारात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (यूपाङ्गं) रशना यूप का अङ्ग है, क्योंकि (तत्संस्कारात्) वह उसके संस्कारार्थ है।

भाष्य—उक्त वाक्य में रशनपरिव्यान को कालोपलक्षणार्थ मानकर रशना को पशु का अङ्ग सिद्ध करना ठीक नहीं, क्योंकि "ग्रहं गृहीत्वा" से प्रथम ही काल का लाभ स्पष्ट है, दूसरे "त्रिवृता यूपं परिवीय" में साधनार्थक तृतीया विभक्ति द्वारा रशना का उपादान करके परिव्यान क्रिया के प्रति कर्म-कारक यूप के साथ सम्बन्ध करने से उसका यूप के साथ साक्षात् तथा पशु के साथ लक्षणा घटित होने से व्यवहित सम्बन्ध स्पष्ट ज्ञात होता है और जो स्पष्ट ज्ञात होता है उसका परित्याग ठीक नहीं, और साक्षात् तथा परम्परासम्बन्ध दोनों के मध्य साक्षात्-सम्बन्ध ही आदरणीय होता है परम्परा नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि रशना का प्रयोजन यूप का संस्कार है पशुदान नहीं, रस्सी के लपेटने से यूप परिष्कृत न होता और पशु में उसका कुछ प्रभाव पायाजाता तो अवश्य रशना को पशु का अङ्ग माना जाता परन्तु रशना के लपेटने से यूप का परिष्कार प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष होने से इसका त्याग भी नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध है कि रशना पशु का अङ्ग नहीं किन्तु यूप का अङ्ग है।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :—

अर्थवादश्च तदर्थवत्। २४।

पद०—अर्थवादः। च। तत्। अर्थवत्।

पदा०-(च) और (अर्थवादः) अर्थवाद वाक्य भी (तत्) तभी (अर्थवत्) सार्थक होसक्ता है जबकि रशना को यूप का अङ्ग मानाजाय।

भाष्य-"युवासुवासाः परिवीत आगात्"= युवावस्थापन्न सुन्दर वस्त्रों वाला यज्ञोपवीत धारी यूप है, इत्यादि वाक्यों का नाम "अर्थवाद" है, उक्त अर्थवाद वाक्य में जो यूप को "सुवासाः" तथा "परिवीत" कथन किया है वह तभी हो-सक्ता है जब रशना को यूप का अङ्ग माना जाय, क्योंकि उसके माने बिना यूप को "सुवासाः" तथा "परिवीत" नहीं कहसक्ते, इसलिये सिद्ध है कि रशना यूप का अङ्ग है पशु का नहीं।

सं०-अब "स्वरु" को पशु का अङ्ग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात्।२५।

पद०-स्वरुः। च। अपि। एकदेशत्वात्।

पदा०-(च) और (स्वरुः) स्वरु यूप का अङ्ग है, क्योंकि (एकदेशत्वात्) वह उसका एक टुकड़ा है।

भाष्य-"यूपस्य स्वरुं करोति, स्वरुणा पशुमनक्ति"= यूप सम्बन्धी लकड़ी का "स्वरु" करे और "स्वरु" से पशु का अञ्जन नामक संस्कार करे, इत्यादि वाक्यों में जो "स्वरु" कथन किया है वह यूप का अङ्ग है किंवा पशु का? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में स्वरु को यूप

सम्बन्धी कथन किया है पशुसम्बन्धी नहीं और "स्वरु" प्रथम छोटा रूप होने से यूप का एक टुकड़ा सर्वसम्मत है इसमें विशेष-वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, और जो जिसका एक टुकड़ा है वह उसी का अङ्ग होसक्ता है दूसरे का नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "स्वरु" यूप का अङ्ग है पशु का नहीं।

सं०–अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :–

निष्क्रयश्च तदङ्गवत्। २६।

पद०–निष्क्रयः। च। तदङ्गवत्।

पदा०–(च) और (निष्क्रयः) यूप का निष्क्रय कथन करने से भी स्वरु (तदङ्गवत्) यूप का अङ्ग सिद्ध होता है।

भाष्य–"ते प्रस्तरं स्रुचां निष्क्रयमपश्यन् स्वरुं यूपस्य"=ऋषियों ने स्रुवों का निष्क्रय=मूल्य प्रस्तर को और यूप का निष्क्रय "स्वरु" को देखा, इत्यादि वाक्यों में जो स्वरु को यूप का निष्क्रय कथन किया है वह उसको यूप का अङ्ग माने बिना युक्त नहीं होसक्ता, क्योंकि स्वरु उसी अवस्था में यूप का निष्क्रय होसक्ता है जबकि उसको यूप का अङ्ग माना जाय अन्यथा नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "स्वरु" यूप का अङ्ग है पशु का नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

पश्वङ्गं वाऽर्थकर्मत्वात्। २७।

पद०–पश्वङ्गं। वा। अर्थकर्मत्वात्।

पदा०–"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (पश्वङ्गं) स्वरु पशु का अङ्ग है क्योंकि (अर्थकर्मत्वात्) वह पशु अञ्जन रूप अर्थ का साधन है।

भाष्य-यद्यपि स्वरु का "यूपस्य स्वरुं करोति"=वाक्य से यूप के साथ सम्बन्ध पायाजाता है तथापि उसको यूप का अङ्ग नहीं मान सक्ते, क्योंकि उसको यूप का अङ्ग मानने से मुख्य प्रयोजन का लोप होजाता है और स्वरु का मुख्य प्रयोजन "पशुमनक्ति" वाक्य से पशु का अञ्जन सिद्ध है और जिसका जिस प्रयोजन सिद्धि के लिये विधान किया है उसको दूसरे का अङ्ग मानकर मुख्य प्रयोजन का लोप करना ठीक नहीं अर्थात् "यूपस्य स्वरुं करोति" वाक्य से स्वरु को यूप का अङ्ग कथन नहीं किया किन्तु जिस लकड़ी से यूप बनता है उसीसे "स्वरु" का बनाना कथन किया है परन्तु इतने कथन से वह यूप का अङ्ग सिद्ध नहीं होता और न उसको यूप का अङ्ग मानने में कोई इष्टफल प्रतीत होता है और पशु का अङ्ग मानने में अञ्जन रूप इष्टफल सर्वानुभव सिद्ध है और "स्वरुणापशुमनक्ति" वाक्य से स्वरु का अञ्जन क्रिया द्वारा पशु में सम्बन्ध भी स्पष्ट है उसको पशु का अङ्ग मानने में कोई दोष नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि स्वरु को यूप का अङ्ग मानने में अदृष्ट फल की कल्पना करनी पड़ती है पशु का अङ्ग मानने में नहीं, क्योंकि उसमें अञ्जन रूप फल स्वयं दृष्ट है और अदृष्ट तथा दृष्ट दोनों के मध्य दृष्ट ही आदरणीय है अदृष्ट नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "स्वरु" यूप का अङ्ग नहीं किन्तु पशु का अङ्ग है ।

सं०-अब पूर्वोक्त निष्क्रयवाद का समाधान करते हैं :-

भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात् । २८ ।

पद०-भक्त्या । निष्क्रयवादः । स्यात् ।

पदा०-(निष्क्रयवादः) निष्क्रयवाद (भक्त्या) स्तुति के अभिप्राय से (स्यात्) है।

भाष्य-"स्वरुंयूपस्य" वाक्य में जो स्वरु को यूप का निष्क्रय कथन किया है वह स्तुति के अभिप्राय से किया है, या यों कहो कि वह अर्थवाद है उसका मुख्यार्थ में तात्पर्य्य नहीं और जिसका मुख्यार्थ में तात्पर्य्य नहीं है उसके बल से स्वरु को यूप का अङ्ग मानना भी ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "स्वरु" यूप का अङ्ग नहीं किन्तु देय पशु का अङ्ग है।

सं०-अब "आघार" आदि को "दर्शपूर्णमास" याग का अङ्ग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् । २९ ।

पद०-दर्शपूर्णमासयोः। इज्याः। प्रधानानि। अविशेषात्।

पदा०-(दर्शपूर्णमासयोः) दर्श तथा पूर्णमास याग में (इज्याः) जितने याग हैं (प्रधानानि) वह सब प्रधान हैं, क्योंकि (अविशेषात्) उनका समानरूप से विधान किया गया है।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में आग्नेय, अग्नीषोमीय, उपांशुयाज, ऐन्द्राग्न तथा सांनाय्य नामक यागों का काल सम्बन्ध से विधान करके पश्चात् कालसम्बन्ध के बिना आघार, आज्यभाग, प्रयाज, अनुयाज, पत्नीसंयाज, समिष्टयजुः तथा स्विष्टकृत् नामक अनेक याग विधान किये हैं वह सब समान रूप से प्रधान याग हैं किंवा इनके मध्य कई एक प्रधान तथा कई एक अङ्ग याग हैं अर्थात् "आग्नेय" याग से लेकर "स्विष्टकृत्" याग

पर्य्यन्त जितने याग विधान किये हैं वह सब प्रधान याग हैं अथवा "आग्नेय" आदि प्रधान याग तथा "आघार" आदि उनके अङ्गयाग हैं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे दर्शपूर्ण-मास याग के प्रकरण में आग्नेय आदि यागों का विधान किया है वैसेही आघारादि का भी किया है और जिनका सम विधान है उनका समप्रधान होना भी उचित है अनुचित नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "आग्नेय" आदि तथा "आघार" आदि दोनों समप्रधान हैं अङ्ग अङ्गी नहीं ॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

अपि वाऽङ्गानि कानिचित् येष्वङ्गत्वेनसं-स्तुतिः सामान्यादभिसंस्तवः । ३० ।

पद०-अपि । वा । अङ्गानि । कानिचित् । येषु । अङ्गत्वेन । संस्तुतिः । सामान्यात् । अभिसंस्तवः ।

पदा०-"अपि, वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आये हैं (कानिचित्) आग्नेय आदि सब यागों के मध्य कईएक (अङ्गानि) अङ्गयाग हैं (येषु) जिनकी कि (अङ्गत्वेन) अङ्ग-रूप से (संस्तुतिः) स्तुति कीगई है (अभिसंस्तवः) और वह स्तुति (सामान्यात्) अङ्ग होने से ही होसक्ती है अन्यथा नहीं ।

भाष्य-यद्यपि "आग्नेय" याग से लेकर "स्विष्टकृत्" याग पर्य्यन्त सम्पूर्ण यागों का समानरूप से विधान कियागया है तथापि वह समप्रधान नहीं होसक्ते, क्योंकि उनमें "आघार" आदि का अङ्ग रूप से स्तवन पायाजाता है जैसाकि कहा है कि:-

"अभीषू वा एतौ यज्ञस्य यदाघारौ, चक्षुषी वा एतौ

यज्ञस्य यदाज्यभागौ, यत्प्रयाजानुयाजाऽऽचेज्यन्ते वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते" = "दर्शपूर्णमास" यज्ञरूप पुरुष के आघार अङ्ग, आज्यभाग, चक्षुः, प्रयाज तथा अनुयाज वर्म = संजोय हैं, यह स्तवन तभी संगत होसक्ता है जब आघारादि को आग्नेयादि का अङ्ग मानाजाय अन्यथा अनङ्गों का अङ्ग रूप से स्तावक = स्तवन करने वाला शास्त्र उन्मत्तप्रलाप के सदृश होजाता है और यह सर्वानुभव सिद्ध बात है कि कुछ सादृश्य होने पर ही आरोप होता है, उक्त संस्तुति वाक्य से आघार आदि में समान तथा विशेष रूप से चक्षु आदि अङ्गों का आरोप स्पष्ट है, यदि वह आग्नेय आदि के समान प्रधान होते या यों कहो कि आग्नेय आदि के अङ्ग न होते तो कदापि उनमें अङ्गता का आरोप करके स्तुति न कीजाती परन्तु की है, इसलिये सिद्ध है कि दर्शपूर्णमास संज्ञक यागों के मध्य जिन आघार आदि यागों की अङ्गरूप से स्तुति कीगई है वह अङ्गयाग तथा शेष आग्नेय आदि प्रधान याग हैं सब याग समप्रधान नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

तथाचान्यार्थदर्शनम् । ३१ ।

पद०—तथा । च । अन्यार्थदर्शनम् ।

पदा०—(च) और (अन्यार्थदर्शनं) विकृति यागों में प्रयाजों का दर्शन भी (तथा) आघारादि के अङ्गत्व में प्रमाण है ।

भाष्य—"प्रयाजे २ कृष्णलं जुहोति" = प्रति प्रयाज कृष्णल होम करे, इत्यादि वाक्यों से वाजपेय आदि विकृति यागों में जो प्रति प्रयाज कृष्णल होम का विधान किया है वह आघार

आघारादि के अङ्ग होने में प्रमाण है, यदि प्रयाज आदि प्रधान याग होते तो उनका विकृति यागों में कदापि अतिदेश न होता, क्योंकि "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" के अनुसार अङ्गों का ही अतिदेश होता है प्रधानों का नहीं, और उक्त वाक्य से विकृति में प्रयाजों का अतिदेश स्पष्ट है, अतिदेश तथा प्राप्ति यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और जिनका अतिदेश होता है वह अङ्ग होते हैं यह निर्णीत है, इसलिये सिद्ध है कि जिन आघार आदि की अङ्ग-रूप से स्तुति कीगई है वह अङ्गयाग तथा शेष आग्नेय आदि प्रधानयाग हैं सब के सब प्रधान नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

अविशिष्टं तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात्। ३२।

पद०-अविशिष्टं। तु। कारणं। प्रधानेषु। गुणस्य। विद्यमानत्वात्।

पदा०-"तु" शब्द आशङ्का की सूचनार्थ आया है (कारणं) अङ्गता का साधक संस्तुति रूप कारण (प्रधानेषु) आघार आदि के समान आग्नेय आदि में भी (अविशिष्टं) समान है, क्योंकि (गुणस्य) स्तुति करने वाला वाक्य (विद्यमानत्वात्) इनमें भी विद्यमान है।

भाष्य-यदि अङ्गरूप स्तुतिमात्र को आघारादि की अङ्गता का कारण माना जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि आघारादि की भांति आग्नेय आदि की भी अङ्गरूप से स्तुति पाई जाती है और उक्त प्रकार से स्तुति करने वाला वाक्य यह है कि "शिरो वा एतद

यज्ञस्य यदाग्नेयः, हृदयमुपांशुयागः पादावग्नीषोमीयः"=दर्शपूर्णमास नामक यज्ञरूप पुरुष का आग्नेय याग सिर, उपांशु याग हृदय तथा अग्नीषोमीय याग पांव हैं जब उक्त प्रकार की स्तुति उभयत्र समान रूप से पाईजाती है तब यह निर्णय कदापि नहीं होसक्ता कि आग्नेय आदि प्रधान तथा आघार आदि अङ्गयाग हैं क्योंकि निमित्त के समान होने से नैमित्तिक में वैलक्षण्य कदापि नहीं होसक्ता, स्तुतिरूप निमित्त समान है यदि उसके आधार पर अङ्गता तथा प्रधानता निर्धारण कीजाय तो सब के सब अङ्ग ही सिद्ध होते हैं प्रधान नहीं. सो सर्वथा अयुक्त है और उक्त संस्तुति को उक्त निर्धारण का कारण मानना भी ठीक नहीं. इसलिये सिद्ध है कि "आग्नेय" से लेकर "स्विष्टकृत" पर्य्यन्त जितने याग हैं वह सब परस्पर समप्रधान हैं उनमें कोई किसी का अङ्ग नहीं।

सं०-अब पूर्वोक्त "अन्यार्थदर्शन" रूप युक्ति का निराकरण करते हैं :-

नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् । ३३ ।

पद०-न । अनुक्ते । अन्यार्थदर्शनं । परार्थत्वात् ।

पदा०-(अन्यार्थदर्शनं) प्रति विकृतियाग प्रयाजों का दर्शन (अनुक्ते) साक्षात् अकथित अङ्गता में (न) प्रमाण नहीं होसक्ता क्योंकि (परार्थत्वात्) वह अन्य प्रयोजन के लिये है।

भाष्य-"**प्रयाजे २ कृष्णलं जुहोति**"वाक्य प्रति विकृति याग प्रयाजों का विधान नहीं करता किन्तु कृष्णलता रूप गुण मात्र का विधान करता है, यदि उक्त वाक्य "प्रकृतिवद् विकृति कर्तव्या" के अनुसार प्रति विकृति याग प्राप्त प्रयाजों में कृष्णलता

रूप गुण का विधायक तथा अङ्गता का साधक मानाजाय तो एक वाक्य को उभयार्थक मानने में वाक्यभेद रूप दोष आजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य प्रयाजों के अङ्ग होने में प्रमाण नहीं किन्तु कृष्णल रूप अन्य अर्थ के विधान करने में प्रमाण है, अतएव उसके बल से आघार आदि को अङ्ग-याग तथा आग्नेय आदि को प्रधानयाग मानना अयुक्त है।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हुए प्रकारान्तर से सिद्धान्त अर्थ का निरूपण करते हैं:-

पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः श्रुतितो व्यपदेशाच्च तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वं तत्सन्निधावसंयुक्तं तदङ्गंस्याद्भागित्वात्कारणस्याश्रुतेश्चान्यसम्बन्धः। ३४।

पद०-पृथक्त्वे। तु। अभिधानयोः। निवेशः। श्रुतितः। व्यपदेशात्। च। तत्। पुनः। मुख्यलक्षणं। यत्। फलवत्त्वं। तत्सन्निधौ। असंयुक्तं। तत्। अङ्गं। स्यात्। भागित्वात्। कारणस्य। अश्रुतेः। च। अन्यसम्बन्धः।

पदा०-"तु" शब्द उक्त आशङ्का के निराकरणार्थ आया है (पृथक्त्वे) केवल आग्नेय आदि छे यागों के दो २ त्रिकों में ही (अभिधानयोः) दर्श तथा पूर्णमास संज्ञा का (निवेशः) निवेश है अन्यत्र नहीं, क्योंकि (श्रुतितः) श्रुति (च) तथा (व्यपदेशात्) व्यपदेश से उक्त अर्थ की सिद्धि पाई जाती है (पुनः) और (तत्) उक्त दोनों त्रिक ही (मुख्यलक्षणं) प्रधान याग हैं (यत्) इसलिये

कि (फलवत्त्वं) वह फल वाले हैं और (तत्संन्निधौ) जो याग उनकी सन्निधि में पढ़ेगये हैं तथा (असंयुक्तं) फल के साथ जिनका सम्बन्ध नहीं (तत्) वह (अङ्गं) अङ्गयाग (स्यात्) हैं (च) और (कारणस्य) आघार आदि का (भागित्वात्) फलभागी होना (अश्रुतेः) न सुने जाने से (अन्यसम्बन्धः) प्रधान याग के साथ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध सिद्ध है।

भाष्य—यद्यपि "आग्नेय" याग से लेकर "स्विष्टकृत्" पर्य्यन्त जितने याग हैं वह सब समान प्रकरणपठित तथा अङ्ग रूप से स्तुत हैं तथापि उनको समप्रधान नहीं मानसक्ते, क्योंकि उनमें फलप्रयुक्त बहुत विशेषता पाई जाती है, आग्नेय आदि एक त्रिक का नाम "दर्श" तथा आग्नेय आदि द्वितीय त्रिक का नाम "पूर्णमास" है, इनका विशेष रूप से निरूपण मी० २।२।३। के भाष्य में किया है, उक्त दोनों त्रिक मिलकर जो छे याग होते हैं इन्हीं का दर्शपूर्णमास शब्द से व्यपदेश करके फलसम्बन्ध श्रुति में कथन किया है "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" = स्वर्ग की कामना वाला पुरुष दर्श तथा पूर्णमास संज्ञक याग करे, इसका नाम "श्रुति" और आग्नेयादि तीन दर्श तथा आग्नेयादि तीन पूर्णमास इस शब्दरूप व्यवहार का नाम "व्यपदेश" है, श्रुति तथा व्यपदेश से आग्नेय आदि छेओं का ही स्वर्ग रूप फल निश्चित होता है अघारादि का नहीं परन्तु उक्त दर्शपूर्णमास याग की सन्निधि में आघारादि शेष याग भी विधान किये हैं परन्तु उनका फल कथन नहीं किया उसके कथन न करने से यह स्पष्ट होजाता है कि यदि वह भी प्रधान होते तो अवश्य आग्नेय आदि की भांति उनका भी कोई फल कथन किया जाता

परन्तु नहीं किया इससे उनका फल के साथ सम्बन्ध होना सर्वथा असंभव है परन्तु सर्वथा निष्फल कर्म का दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में विधान भी न बनसकने से अवश्य उनका कोई साध्य होना चाहिये प्रकृत में फल को छोड़कर शेष साध्य केवल आग्नेय आदि छे प्रधान याग हैं उन्हीं के साथ उनका अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होना ठीक है, क्योंकि "फलवत्सन्निधावफलंतदङ्गं"=फल वाले की सन्निधि में जो फल रहित कर्म पढ़े जाते हैं वह फल वाले के अङ्गकर्म होते हैं यह नियम है, फल वाले आग्नेय आदि छे याग और उनकी सन्निधि में पठित आघारादि शेष सब याग निष्फल हैं और निष्फल फल वाले का अङ्ग है यह नियत है, इसलिये सिद्ध है कि आघारादि याग आग्नेय आदि यागों के अङ्ग हैं उनके समान प्रधान नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:-

गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाङ्गेषूपपद्यन्ते । ३५ ।

पद०-गुणाः । च । नामसंयुक्ताः । विधीयन्ते । न । अङ्गेषु । उपपद्यन्ते ।

पदा०-(च) और (नामसंयुक्ताः) दर्शपूर्णमास संज्ञा सहित (गुणाः) जो गुण (विधीयन्ते) विधान किये गये हैं वह (अङ्गेषु) आघारादि अङ्गों में (न, उपपद्यन्ते) नहीं बन सक्ते ।

भाष्य- "चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावास्याम्" ="चतुर्होता" नामक मन्त्रों से पौर्णमास याग का तथा पञ्चहोता नामक मन्त्रों से दर्शयाग का

अभिमर्शन संस्कार करे, इत्यादि वाक्यों में जो दर्श तथा पूर्णमास का विशेषरूप से नाम ग्रहण करके अभिमर्शन नामक संस्कार विधान किया है इससे स्पष्ट है कि "आग्नेय" याग से लेकर "स्विष्टकृत्" पर्य्यन्त जितने याग हैं उन सबका उक्त संस्कार विधान नहीं किया किन्तु जिन यागों की दर्श तथा पूर्णमास संज्ञा है उनका विधान किया है, दर्श तथा पूर्णमास संज्ञा मुख्यतया आग्नेयादि छे यागों की है और जिनकी मुख्यतया उक्त संज्ञा है वही श्रुति तथा व्यपदेश से फलवाले सर्वसम्मत हैं और जो फल वाले हैं वही प्रधान होसक्ते हैं अन्य नहीं, इसलिये सिद्ध है कि आग्नेय आदि की भांति आघारादि प्रधान याग नहीं किन्तु उनके अङ्गयाग हैं।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं:—

तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाभि-सम्बन्धैः ।३६।

पद०—तुल्या । च । कारणश्रुतिः । अन्यैः । अङ्गाभिसम्बन्धैः ।

पदा०—(अङ्गाभिसम्बन्धैः) पुरुषांगों के साथ सम्बन्ध रखने वाले (अन्यैः) आघारादि के (तुल्या) समान (च) ही (कारणश्रुतिः) आग्नेयादि प्रधान यागों की अङ्गता का साधक श्रुति पाई जाती है।

भाष्य—जिस पुरुषाङ्गों के सदृश अङ्गता बोधन करने वाली श्रुति के आधार से आघारादि को अङ्गयाग मानाजाता है वह श्रुति आग्नेयादि यागों में भी समान पाई जाती है अर्थात् जैसे आघारादि को याग का अङ्ग कथन किया गया है वैसे ही आग्नेयादि को भी किया गया है, दोनों के समान होने से एक को प्रधान तथा दूसरे को अङ्ग नहीं मानसक्ते, उक्त दोनों प्रकार के यागों को

अङ्गता बोधन करने वाली श्रुति ३२ वें सूत्र के भाष्य में लिखी है उसके अनुसार यही मानना उचित है कि आघारादि भी आग्नेयादि के समान ही है वह प्रधान तथा यह अङ्ग नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि यद्यपि उक्त आशङ्का ३२ वें सूत्र में कीगई है तथापि पुनः उसका अनुवाद लोकसिद्ध समाधान देने के अभिप्राय से किया गया है इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

उत्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् । ३७ ।

पद०-उत्पत्तौ । अभिसम्बन्धः । तस्मात् । अङ्गोपदेशः । स्यात् ।

पदा०-(उत्पत्तौ) जीवमात्र की उत्पत्ति के अभिप्राय से (अभिसम्बन्धः) आग्नेय आदि को यज्ञ का सिर आदि कथन किया है अङ्गता के अभिप्राय से नहीं (तस्मात्) इसलिये (अङ्गोपदेशः) मुख्यतया आघारादि यागों में ही अङ्गता का उपदेश जानना उचित है ।

भाष्य-जब जीव उत्पन्न होता है तब उसका प्रथम सिर योनि से बाहर आता है, या यों कहो कि प्रथम जीव का सिर निष्पन्न होता है पश्चात् उदरादि अन्य अङ्ग बनते हैं, दर्शपूर्णमास यागों में भी प्रथम आग्नेय आदि षट् प्रधान याग किये जाते हैं और पश्चात् आघारादि अङ्ग याग, इसी सादृश्य को लेकर श्रुति में आग्नेय आदि को सिर आदि अवयव कथन किया है परन्तु श्रुति का तात्पर्य उनके अङ्गता बोधन में नहीं है, यदि होता तो आग्नेय आदि को किसी अन्य अवयव के नाम से कथन करती प्रधान सिर आदि के नाम

से नहीं, इसलिये यह निश्चय करना उचित है कि श्रुति में जो आग्नेय आदि को यज्ञ पुरुष का सिर आदि अवयव कथन किया है वह अङ्गता के अभिप्राय से नहीं किया किन्तु उत्पत्ति के अभिप्राय से किया है और आघारादि की अङ्गता पूर्वोक्त युक्तियों से सिद्ध हैं, अतएव उक्त श्रुति में भी उनकी अङ्गता का उपदेश ही मानना ठीक है।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:—

तथाचान्यार्थदर्शनम् । ३८ ।

पद०—तथा । च । अन्यार्थदर्शनम् ।

पदा०—(च) और (अन्यार्थदर्शनं) प्रति दर्श तथा पूर्णमास आहुतियों की संख्या का दर्शन भी (तथा) उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

भाष्य—"चतुर्दशपूर्णमास्यामाहुतयोहूयन्ते त्रयोदश अमावास्यायाम्" = पूर्णमास याग में १४ तथा दर्श में १३ आहुतियें होती हैं, इस वाक्य में जो आहुतियों की संख्या कथन की है वह तभी उपपन्न होसक्ती है जब दर्शपूर्णमासान्तर्गत सम्पूर्ण यागों का अङ्गाङ्गिभाव से विभाग किया जाय, अन्यथा नहीं, क्योंकि सब को समप्रधान मानने में उक्त संख्या उपपन्न नहीं होती, इसलिये सिद्ध है कि आग्नेय आदि षट् याग प्रधान तथा आघार आदि शेष याग उनके अङ्ग हैं।

सं०—अब ज्योतिष्टोम यागान्तर्गत "सोम" याग को प्रधान तथा दीक्षणीयादि को अङ्ग याग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम्॥३९

पद०—ज्योतिष्टोमे । तुल्याणि । अविशिष्टं । हि । कारणम् ।

पदा०—(ज्योतिष्टोमे) ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत जितने याग हैं वह सब (तुल्याणि) समप्रधान हैं (हि) क्योंकि (कारणं) उनकी समप्रधानता का कारण (अविशिष्टं) समान पाया जाता है ।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "दीक्षणीय" आदि अनेक याग तथा एक सोम याग पढ़ा है वह सब समप्रधान याग हैं किंवा उनके मध्य "दीक्षणीय" आदि अंग याग तथा सोम याग प्रधान है? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि प्रधानता का कारण फल सम्बन्ध है वह जिसको है वह प्रधान याग तथा जिसको नहीं वह अंग याग है यह पिछले अधिकरण में निर्णय किया है, दीक्षणीयादि सोमयाग पर्य्यन्त जितने याग हैं सबकी संज्ञा "ज्योतिष्टोम" है और "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"=स्वर्ग की कामना वाला पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे, इस उत्पत्ति वाक्य से ज्योतिष्टोम याग को फल का सम्बन्ध स्पष्ट है, और सबको फलसम्बन्ध समान होने से यह कदापि नहीं होसक्ता कि उनके मध्य दीक्षणीय आदि अङ्ग तथा सोम प्रधान याग है, क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं,-और बिना प्रमाण मानना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि दीक्षणीयादि सोमान्त सम्पूर्ण याग समप्रधान हैं अङ्ग तथा प्रधान मिश्रित नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

गुणानान्तूत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धा-

स्कारणश्रुतिः तस्मात्सोमः प्रधानं स्यात् । ४० ।

पद०—गुणानां । तु । उत्पत्तिवाक्येन । सम्बन्धात् । कारण-श्रुतिः । तस्मात् । सोमः । प्रधानं । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (उत्पत्तिवाक्येन) उत्पत्ति वाक्य द्वारा (गुणानां) ज्योति रूप स्तोमों का (सम्बन्धात्) सोमयाग के साथ सम्बन्ध होने से (कारणश्रुतिः) उक्त याग के प्रधान होने में विशेष कारण का श्रवण पाया जाता है (तस्मात्) इसलिये (सोमः) सोमयाग ही (प्रधानं) प्रधान (स्यात्) है दीक्षणायादि नहीं ।

भाष्य—यद्यपि दीक्षणीयादि सोमान्त सम्पूर्ण याग "ज्योतिष्टोम" के अन्तर्गत होने से समान प्रतीत होते हैं तथापि वह सब सम-प्रधान नहीं होसक्ते, क्योंकि "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो य-जेत" इस उत्पत्ति वाक्य से "ज्योति" रूप स्तोम नामक गुणों का सोम याग के साथ ही सम्बन्ध पायाजाता है दीक्षणीय आदि के साथ नहीं "ज्योतींषि स्तोमाःयत्र सोमे, स ज्योति-ष्टोमः"=स्तोत्र समूह का नाम "स्तोम" है और वह ज्योतिरूप परमात्मा की स्तुति करने से "ज्योति" कहलाते हैं, उक्त ज्योतिरूप स्तोम हैं जिस सोमयाग में उसको "ज्योतिष्टोम" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से उक्त गुणों का सम्बन्ध सोमयाग के साथ स्पष्ट है और जिसके साथ ज्योतिरूप स्तोम नामक गुणों का सम्बन्ध स्पष्ट है फल का सम्बन्ध भी उसी के साथ होना उचित है, क्योंकि उत्पत्ति वाक्य में उक्त गुणविशिष्ट सोमयाग को ही

फल का सम्बन्धी कथन किया है दीक्षणायादि को नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि " ज्योतिष्टोम " याग के अन्तर्गत होने से " दीक्षणीय " आदि को भी ज्योतिष्टोम कहसक्ते हैं तथापि " ज्योतिष्टोम " यह मुख्य नाम सोमयाग का ही है दीक्षणीयादि का नहीं, उनमें तो केवल गौणीवृत्ति से ज्योतिष्टोम नाम की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि अङ्ग को भी अङ्गी के नाम से कहसक्ते हैं, अतएव उत्पत्ति वाक्य से फल का सम्बन्ध भी सोमयाग के साथ ही मुख्य है दीक्षणीयादि के साथ नहीं, इसलिये सिद्ध है कि दीक्षणीयादि सोमान्त यागों के मध्य सोमयाग ही एक प्रधान और शेष दीक्षणीयादि उसके अङ्ग याग हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

तथा चान्यार्थदर्शनम् । ४१ ।

पद०-तथा । च । अन्यार्थदर्शनम् ।

पदा०-(च) और (अन्यार्थदर्शनं) सोमयाग से अन्य " दीक्षणीय " आदि में अङ्गता का श्रवण भी (तथा) उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

भाष्य—" शिरो वा एतद्यज्ञस्ययद्दीक्षणीया " = यह दीक्षणीय आदि याग यज्ञपुरुष के सिर आदि के समान हैं, इत्यादि वाक्यों से जो दीक्षणायादि में पुरुषाङ्गता का श्रवण पायाजाता है वह उनको सोमयाग का अङ्ग माने बिना नहीं बनसक्ता, क्योंकि जो याग का अङ्ग है उसीको यज्ञ पुरुष का भी अङ्ग कहसक्ते हैं अन्यथा नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त यागों

के मध्य एक सोमयाग ही प्रधान और शेष दीक्षणीयादि उसके अङ्ग याग हैं ।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
मीमांसार्य्यभाष्ये
चतुर्थाध्याये
चतुर्थःपादः
समाप्तः

ओ३म्

अथ पञ्चमाध्याये प्रथमःपादः प्रारभ्यते

सं०—चतुर्थाध्याय में यज्ञादि कर्मों के प्रयोज्य प्रयोजक भावादि का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब उनके अनुष्ठानक्रम का निरूपण करने के लिये पञ्चमाध्याय का आरंभ करते हुए प्रथम श्रुतिसिद्धक्रम का निरूपण करते हैं :—

श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रधानत्वात् । १ ।

पद०—श्रुतिलक्षणम् । आनुपूर्व्यं । तत्प्रधानत्वात् ।

पदा०—(श्रुतिलक्षणं) श्रुतिप्रमाणक (आनुपूर्व्यं) क्रम मानना उचित है क्योंकि (तत्प्रधानत्वात्) वह सब प्रमाणों की अपेक्षा प्रधान है ।

भाष्य—वैदिकों को सब प्रमाणों की अपेक्षा श्रौत प्रमाण प्रथम आदरणीय है, इसलिये जैसे कर्मोत्पत्ति वाक्य से श्रुत अग्निहोत्रादि कर्म प्रामाणिक माने जाते हैं वैसे ही उनका क्रम भी श्रौत ही प्रामाणिक मानना चाहिये अर्थात् वेद तथा ब्राह्मण वाक्यों में जिस क्रम से यज्ञादि अनुष्ठेय पदार्थ विधान किये गये हैं उसी क्रम से उनका अनुष्ठान होना चाहिये ।

सं०—अब क्वचित् आर्थिकक्रम कथन करते हैं :—

अर्थाच्च । २ ।

पद०—अर्थात् । च ।

पदा०—(च) और (अर्थात्) कहीं अर्थ से भी क्रम का ज्ञान होता है ।

भाष्य–"अग्निहोत्रं जुहोति" वाक्य से अग्निहोत्र विधान करके पश्चात् "यवागूं पचति" लापसी पकाये. इस वाक्य में जो होम के साधन लापसी का पाक विधान किया है इसमें प्रथम अग्निहोत्र पश्चात् यवागूपाक इस प्रकार श्रुतक्रम आश्रयणीय है किंवा प्रथम यवागूपाक पश्चात् अग्निहोत्र इस प्रकार आर्थिक क्रम आश्रयणीय है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि श्रुतक्रम की अपेक्षा आर्थिकक्रम निर्बल होता है तथापि यहां श्रुतक्रम का स्वीकार ठीक नहीं, क्योंकि उसके स्वीकार से होम द्रव्यहीन सिद्ध होता है अर्थात् यवागू का जो पाक विधान किया है वह होम के लिये किया है यदि उसको छोड़कर होम ही प्रथम माना जाय तो यवागू रूप द्रव्य के निष्पन्न न होने से वह अनुपपन्न होजाता है और जिसके बिना जो अनुपपन्न है उसका उससे पूर्व होना अर्थसिद्ध है ।

तात्पर्य्य यह है कि होम अपनी सिद्धि के लिये द्रव्य की आकांक्षा करता है क्योंकि उसके विना वह हो नहीं सक्ता और जिसकी जिसको स्वसिद्धि के लिये आकांक्षा है उसका उससे पूर्व होना आवश्यक है, इसलिये सिद्ध है कि कहीं श्रुतक्रम को छोड़कर आर्थिक क्रम भी आश्रयणीय है, या यों कहो कि श्रौतक्रम के अनुसार अग्निहोत्र का प्रथम अनुष्ठान प्राप्त होने पर भी आर्थिक क्रमानुसार यवागूपाक ही प्रथम अनुष्ठेय है अग्निहोत्र नहीं ।

सं०–अब कहीं क्रम का अनियम कथन करते हैं :–

अनियमोऽन्यत्र । ३ ।

पद०–अनियमः । अन्यत्र ।

पदा०-(अन्यत्र) जहां श्रौत अथवा आर्थिकक्रम नहीं वहां (अनियमः) क्रम का नियम नहीं ।

भाष्य-अनुष्ठानक्रम के नियामक श्रुति, अर्थ, पीठ, प्रवृत्ति, स्थान तथा मुख्यक्रम इन छे प्रमाणों के मध्य जहां कोई उपलब्ध नहीं होता वहां अपनी इच्छा ही अनुष्ठानक्रम का नियामक समझनी चाहिये अर्थात् जिस कर्म के अनुष्ठान की प्रथम इच्छा हो उसका प्रथम तथा जिसके अनुष्ठान की पश्चात् इच्छा हो उसका पश्चात् अनुष्ठान होना चाहिये, इसमें कोई दोष नहीं ।

सं०-"श्रुति" तथा "अर्थ" के अनुसार अनुष्ठानक्रम निरूपण किया, अब "पीठ" के अनुसार अनुष्ठानक्रम निरूपण करते हैं :-

क्रमेण वा नियम्येत क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् । ४ ।

पद०-क्रमेण । वा । । नियम्येत । क्रत्वेकत्वे । तद्गुणत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द अनियम निवृत्ति के लिये आया है (क्रत्वेकत्वे) एक क्रतु में (क्रमेण) पाठक्रम अनुसार (नियम्येत) प्रयाजों के अनुष्ठान का नियम होना चाहिये, क्योंकि (तद्गुणत्वात्) वह अनुष्ठान का अङ्ग है ॥

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "समिधो यजति" आदि पांच "प्रयाज" पढ़े हैं, उनका अनुष्ठान पाठक्रमानुसार होना चाहिये किंवा इच्छानुसार ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि उक्त प्रयाजों में क्रम का बोधक श्रुति अथवा अर्थापत्ति प्रमाण उपलब्ध नहीं होता कि अमुक प्रयाज का अनुष्ठान प्रथम तथा अमुक का पश्चात्

होना चाहिये तथापि उनमें अनियम नहीं मानसक्ते, क्योंकि अनियम वहां ही मानाजाता है जहां क्रमबोधक पट् प्रमाणों के मध्य कोई न हो परन्तु प्रयाजों में ऐसा नहीं अर्थात् जैसे "श्रुति" क्रम का बोधक है जैसाकि "अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति" = अध्वर्यु गृहपति = यजमान को दीक्षा देकर ब्रह्मा को दीक्षा दे, इस वाक्य में "दीक्षयित्वा" यह "क्त्वा" प्रत्यय रूप श्रुति तथा "तत उद्गातारं ततो होतारं" = ब्रह्मा के अनन्तर उद्गाता और उसके अनन्तर होता को दीक्षा दे, इस वाक्य में जैसे "ततः" यह पञ्चमी विभक्ति रूप श्रुति पाईजाती है वैसे प्रयाज वाक्यों में प्रत्यय रूप अथवा विभक्ति रूप कोई क्रमबोधक श्रुति नहीं पाई जाती और नाहीं यवागूपाक की भांति अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति ही उपलब्ध होती है क्योंकि यवागू विना अग्निहोत्र की भांति "समिध्" के विना तनूनपात् अथवा तनूनपात् के विना "समिध्" अनुपपन्न नहीं है तथापि उनमें अनुष्ठानक्रम का बोध "पाठक्रम" रूप तीसरा प्रमाण विद्यमान है उसके विद्यमान होने से अनुष्ठानक्रम का बोध भी सुगमता से होसक्ता है अनियम मानने की कोई आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध है कि जिस क्रम से समिधादि प्रयाजों का पाठ किया गया है वही क्रम उनके अनुष्ठान का जानना चाहिये अनियम नहीं ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

अशाब्द इति चेत्स्याद्वाक्यशब्दत्वात् । ५ ।

पद०—अशाब्दः । इति । चेत् । स्यात् । वाक्यशब्दत्वात् ।

पदा०—(अशाब्दः) पाठक्रम शब्द प्रतिपाद्य नहीं (स्यात्)

होसक्ता, क्योंकि (वाक्यशब्दत्वात्) वाक्य को पदार्थमात्र की बोधकता है अधिक को नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-"समिधो यजति" आदि प्रयाज विधायक वाक्यों में "क्रम" वाची कोई शब्द नहीं है और वाक्यार्थ में शब्दार्थ का ही भान होता है अशाब्द का नहीं यह नियम है, और जो अशाब्द है वह किसी शब्द से प्रतिपादित न होने के कारण प्रामाणिक नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त प्रयाज विधायक वाक्यों के पाठानुसार जो अनुष्ठानक्रम की कल्पना कीगई है वह ठीक नहीं, अतएव उक्त पाठक्रमानुसार अनुष्ठान का होना अयुक्त है।

सं:-अब उक्त आशङ्का का निराकरण करते हैं:-

अर्थकृते वाऽनुमानं स्यात् क्रत्वेकत्वे परार्थत्वात्स्वेनत्वर्थेन सम्बन्ध-स्तस्मात्स्वशब्दमुच्यते। ६।

पद०-अर्थकृते। वा। अनुमानं। स्यात्। क्रत्वेकत्वे। परार्थत्वात्। स्वेन। तु। अर्थेन। सम्बन्धः। तस्मात्। स्वशब्दम्। उच्यते।

पदा०-"वा" शब्द उक्त आशङ्का के निराकरणार्थ आया है (अर्थकृते) अर्थवश कल्पना करने में (अनुमानं) क्रम अशाब्द (स्यात्) होना चाहिये (तु) परन्तु (क्रत्वेकत्वे) क्रतु के एक होने पर भी (परार्थत्वात्) अङ्गों को प्रधानार्थ होने से (स्वेन, अर्थेन) अपने प्रधानभूत क्रतुरूप अर्थ के साथ (सम्बन्धः) यथाक्रम ही सम्बन्ध होना उचित है (तस्मात्) इसलिये (स्वशब्दं) पाठक्रम

शब्द प्रतिपाद्य ही (उच्यते) कहाजासक्ता है अशाब्द नहीं।

भाष्य—जहां अर्थवश क्रम का अनुमान होता है वहां उसको आनुमानिक होने से अशाब्द कहसक्ते हैं परन्तु जहां एक प्रधानभूत क्रम के साथ अनेक अङ्गों का सम्बन्ध है वहां उनका अपने प्रधान के साथ जो सम्बन्ध होता है वह युगपत् असंभव होने के कारण पाठक्रमानुसार ही होना उचित है, यद्यपि अङ्ग विधायक वाक्यों में क्रमवाची कोई शब्द प्रतीत नहीं होता तथापि उसको अशाब्द नहीं कहसक्ते, क्योंकि उक्त विधिवाक्य जैसे अङ्गों के प्रत्यायक हैं वैसे ही उनके क्रम के भी प्रत्यायक हैं, यदि ऐसा न मानाजाय तो उनका यथाक्रम पाठ व्यर्थ होजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि पाठक्रमे भी शाब्द है अशाब्द नहीं, अतएव "समिध" आदि प्रयाजों का अनुष्ठान भी पाठक्रमानुसार होना चाहिये, यथेच्छा नहीं॥

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:—

तथा चान्यार्थदर्शनम्। ७।

पद०—तथा। च। अन्यार्थदर्शनम्।

पदा०—(च) और (अन्यार्थदर्शनं) पाठक्रम के बाधक अर्थ का दर्शन भी (तथा) उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

भाष्य—"व्यत्यस्तं षोडशिनं शंसति"=इन्द्र नाम से परमात्मा की स्तुति जिन १६ ऋचाओं में कीगई है उनको "षोडशी" कहते हैं, उक्त षोड़शी स्तोत्र का उच्चारण पाठक्रम से जिस स्थान में प्राप्त है उससे अन्य स्थान में करे, इत्यादि वाक्यों में जो क्रम का व्यत्यास=अतिक्रम कथन किया है वह अव्यत्यस्त

क्रम के बिना उपपन्न नहीं होसक्ता. क्योंकि यावत्पर्य्यन्त किसी अव्यत्यस्त क्रम की प्राप्ति न मानी जाय तबतक उसके विपरीत व्यत्यस्त क्रम का विधान नहीं होसक्ता. और इसमें प्रथम श्रौत तथा आर्थिक दोनों के मध्य एक भी क्रम प्राप्त नहीं है परिशेष से पाठक्रम ही प्राप्त सिद्ध होता है और उसके सिद्ध होने से यह स्पष्ट होजाता है कि श्रुति तथा अर्थ की भांति "पाठ" भी अनुष्ठान-क्रम का नियामक है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में जो षोड़शी पाठ का व्यत्यस्तक्रम कथन किया है वह अव्यत्यस्तक्रम पूर्वक अवश्य होना चाहिये, क्योंकि प्रथम प्राप्त का ही वाक्यान्तर से बाध होसक्ता है अप्राप्त का नहीं, इसलिये सिद्ध है कि श्रौतक्रम की भांति पाठक्रम भी शाब्द है, अतएव वह आदरणीय है अनादरणीय नहीं।

सं०-अब कहीं "प्रवृत्ति" को अनुष्ठानक्रम का नियायक कथन करते हैं :-

प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ।८।

पद०-प्रवृत्त्या । तुल्यकालानां । गुणानां । तदुपक्रमात् ।

पदा०-(तुल्यकालानां) एक काल में प्राप्त (गुणानां) "उपाकरण" आदि पशु संस्कारों का (प्रवृत्त्या) प्रथम प्रवृत्ति के अनुसार द्वितीयादि क्रम जानना चाहिये. क्योंकि (तदुपक्रमात्) प्रथम उसीसे आरंभ किया गया है।

भाष्य-"वाजपेय" याग में "सप्तदश प्राजापत्यान

पशून् आलभते"=प्रजापति परमात्मा के उद्देश से सत्तरह पशुओं का दान विधान करके उनके "उपाकरण" आदि अनेक संस्कार विधान किये हैं उनके मध्य प्रथम संस्कार जिस पशु से आरंभ किया जाय उसके अन्तर पुनः उसी प्रथम पशु से लेकर यथाक्रम द्वितीयादि संस्कार होने चाहिये किंवा द्वितीयादि संस्कारों के होने में कोई नियम नहीं जिस पशु से चाहें उनका आरम्भ किया जाय? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है, कि प्रथम संस्कार के अनन्तर द्वितीयादि संस्कारों के क्रम में यद्यपि श्रुति, अर्थ तथा पाठ इन तीनों के मध्य एक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता तथापि उनके करने में अनियम मानना ठीक नहीं किन्तु प्रथम प्रवृत्ति के अनुसार क्रम का मानना ही ठीक है अर्थात् जिस पशु से प्रथम "उपाकरण" संस्कार का आरम्भ हुआ है उसके यथाक्रम १७ पशुओं में होजाने के अनन्तर पुनः द्वितीय नियोजनादि संस्कारों का भी उसी प्रथम उपाकृत पशु से आरम्भ होना चाहिये, क्योंकि जिस पशु से प्रथम संस्कार का आरम्भ हुआ है द्वितीयादि संस्कारों के समय उसका परित्याग उचित नहीं किन्तु "प्रथमत्यागेमानाभावः"=प्रथम के त्याग में कोई प्रमाण नहीं, इस न्याय के अनुसार प्रथम का अनुसरण ही ठीक है अर्थात् जिस पशु से प्रथम संस्कार की प्रवृत्ति हुई है उस संस्कार के यथाक्रम १७ पशुओं में होजाने के अनन्तर द्वितीयादि संस्कारों का भी उसी प्रथम पशु से आरंभ तथा पूर्ववत् सम्पूर्ण पशुओं में उनका यथाक्रम अनुष्ठान होना चाहिये, व्यत्यास कदापि नहीं, क्योंकि व्यत्यास में कोई प्रमाण नहीं मिलता और बिना प्रमाण प्रथम प्रवृत्तिक्रम का त्याग करके

किसी नूतन कपोल कल्पित का स्वीकार युक्त नहीं, इसलिये सिद्ध है कि प्रथम प्रवृत्ति के अनुसार ही द्वितीयादि संस्कारों की प्रवृत्ति का क्रम है अक्रम किंवा यथेच्छाक्रम नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

सर्वमितिचेत् । ९ ।

पद०-सर्वम् । इति । चेत् ।

पदा०-(सर्व) उपाकरणादि सब संस्कार युगपत् सम्पूर्ण पशुओं में होने चाहियें (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-प्राजापत्य पशुमात्र के उद्देश से उक्त संस्कार विधान किये हैं क्रमविशिष्ट पशुओं के उद्देश से नहीं, यदि क्रमविशिष्टों के संस्कारों का विधान होता तो प्रथम संस्कार की प्रवृत्ति के अनुसार द्वितीयादि संस्कारों के प्रवृत्तिक्रम का विचार तथा उसकी कल्पना कीजाती परन्तु पशुमात्र के संस्कारों का विधान किया है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त संस्कारों के लिये प्रथम प्रवृत्ति के अनुसार क्रम कल्पना आवश्यक नहीं।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

नाकृतत्वात् । १० ।

पद०-न । अकृतत्वात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (अकृतत्वात्) ऐसा विधान नहीं किया।

भाष्य-यद्यपि पशुमात्र के उद्देश से उक्त संस्कार विधान किये हैं क्रमविशिष्ट पशुओं के उद्देश से नहीं तथापि युगपत्

सम्पूर्ण पशुओं के उक्त संस्कार नहीं होसक्ते, क्योंकि उसका विधान नहीं पाया जाता. यदि उक्त वाक्य में युगपत् संस्कारों का विधान होता तो अवश्य उनका युगपत् ही अनुष्ठान किया जाता परन्तु विधान नहीं है और संस्कारक्रम अर्थ से प्राप्त है क्योंकि अनेक पशुओं में क्रम माने विना उक्त संस्कार नहीं होसक्ते और अविहित तथा अर्थप्राप्त के मध्य अर्थप्राप्त का स्वीकार ही युक्त है अविहित का नहीं. इसलिये सिद्ध है कि उक्त संस्कार सम्पूर्ण पशुओं में यथाक्रम ही होने उचित हैं और उसकी कल्पना प्रथम प्रवृत्ति के अनुसार होनी ठीक है।

सं०-अत्र उक्त अर्थ में पुनः आशङ्का करते हैं:-

क्रत्वन्तरवदिति चेत् । ११ ।

पद०-क्रत्वन्तरवत् । इति । चेत् ।

पदा०-(क्रत्वन्तरवत्) जैसे "सौर्य्य" आदि यागों में उपयुक्त पदार्थों के संस्कार युगपत् होते हैं वैसेही उक्त पशुओं के संस्कार भी युगपत् होने चाहियें (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-जैसे सौर्य्यादि यागों में उपयुक्त पदार्थों के संस्कार युगपत् होते हैं उनमें क्रम की कल्पना नहीं कीजाती वैसेही "वाजपेय" याग में भी पशु संस्कारों के लिये क्रम की कल्पना आवश्यक नहीं।

सं०-अत्र उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:-

नासमवायात् । १२ ।

पद०--न । असमवायात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (असमवायात्) दानक्रिया में पशुओं का समवाय = साहित्य विवक्षित नहीं ।

भाष्य-यदि वाजपेय याग में विधान किये १७ पशुओं का युगपत् दान किया जाता तो "सौर्य्य" आदि यागों में उपयुक्त पदार्थों की भांति देय पशुओं के युगपत् संस्कारों की कल्पना की जाती परन्तु दान क्रिया में देय पशुओं का साहित्य विवक्षित नहीं किन्तु क्रम विवक्षित है और उसके विवक्षित होने से संस्कारों के युगपत् अनुष्ठान की कल्पना करना व्यर्थ है अर्थात् "वाजपेय" याग में जो १७ पशुओं का दान विधान किया है वह युगपत् विधान नहीं किया किन्तु प्रथम एक पशु का पश्चात् द्वितीयादि पशुओं का, इस प्रकार यथाक्रम विधान किया है और उसके यथाक्रम विधान करने से संस्कारों का यथाक्रम होना स्वयं सिद्ध है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये "सौर्य्य" आदि यागों की भांति युगपत् संस्कारों का होना युक्त नहीं किन्तु "प्रथम प्रवृत्ति" के अनुसार यथाक्रम होना ही युक्त है।

सं०-अब कहीं "स्थान" को क्रम का नियामक कथन करते हैं :-

स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् । १३ ।

पद०-स्थानात् । च । उत्पत्तिसंयोगात् ।

पदा०-(च) और (उत्पत्तिसंयोगात्) उत्पत्ति वाक्य में प्रतिपादित (स्थानात्) स्थान के अनुसार भी क्रम का ज्ञान होता है।

भाष्य- "ज्योतिष्टोम" नामक सोमयाग में अग्नीषोमीय, सवनीय तथा अनुबन्ध्य इन तीन पशुओं का दान होता है, इनके मध्य "अग्नीषोमीय" का "औपवसथ्य" नामक प्रथम दिन में, सवनीय का "आश्विनग्रह" ग्रहण के अनन्तर "सुत्यादिन" नामक द्वितीय

दिन के प्रातः सवन में और अनुबन्ध्य का "अवभृथ" होम के अनन्तर तृतीय दिन में दान होता है, यह सब पीछे तृतीयाध्याय में निरूपण किया गया है, उक्त "ज्योतिष्टोम" याग की विकृति "साद्यस्क" नामक याग में "सहपशूनालभते" =तीनों पशुओं का सहदान करे, इत्यादि वाक्यों से उक्त तीनों पशुओं का दान "सुत्यादिन" में विधान किया है और उनके "उपाकरण" आदि संस्कार "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" = प्रकृति याग की भांति विकृति याग होता है, इस चोदक वाक्य से प्राप्त हैं उनके प्रति पशु अनुष्ठान का आरंभ पाठक्रमानुसार "अग्नीषोमीय" पशु से कर्तव्य है किंवा स्थान के अनुसार सवनीय पशु से? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि प्रकृति याग में प्रथम "अग्नीषोमीय" पशु के उपाकरणादि संस्कार होते हैं क्योंकि वह उक्त तीनों पशुओं की अपेक्षा प्रथम है तथापि उक्त विकृति याग में अग्नीषोमीय पशु से उक्त संस्कारों का आरंभ नहीं होसक्ता, क्योंकि यहां सवनीय पशु के स्थान सुत्यादिन में "आश्विनग्रह" ग्रहण के अनन्तर उक्त संस्कार विधान किये हैं और उसी दिन में संस्कृत पशुओं का दान भी विधान किया गया है, इस प्रकार स्थान के अनुसार "सवनीय" पशु के ही उक्त संस्कार प्रथम प्राप्त हैं अर्थात् जिन पशुओं का सुत्यादिन में दान विधान किया है उनके मध्य सवनीय पशु स्वस्थान में विद्यमान है, क्योंकि उक्त दिन उसी पशु का है और शेष दोनों पशु अपने २ स्थान से च्युत होकर सवनीय पशु के स्थान में प्राप्त हैं और यह सर्वानुभव सिद्ध बात है कि बाहर से आगतों की अपेक्षा स्वस्थान

वाला प्रबल होता है और जो प्रबल है उसको छोड़ अन्य निर्बलों का अनुसरण युक्त नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त विकृति याग में उत्पत्ति वाक्य पठित "स्थान" प्रमाण के अनुसार प्रथम "सवनीय" पशु से ही उक्त संस्कारों का अनुष्ठान कर्तव्य है अग्नीषोमीय से नहीं ।

सं०–अब अङ्गक्रम को प्रधानक्रम का अनुसारी कथन करते हैं :–

मुख्यक्रमेण वाऽङ्गानां तदर्थत्वात् । १४ ।

पद०–मुख्यक्रमेण । वा । अङ्गानां । तदर्थत्वात् ।

पदा०–"वा" शब्द उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (मुख्यक्रमेण) प्रधान याग के क्रम से (अङ्गानां) अङ्ग यागों का अनुष्ठान होना चाहिये, क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह प्रधान याग के लिये ही होते हैं ।

भाष्य–प्रधान यागों का जिस क्रम से अनुष्ठान किया गया है अङ्ग यागों के अनुष्ठान काल में उसी क्रम से अङ्गों का भी अनुष्ठान होना चाहिये विपरीत नहीं अर्थात् जो प्रधान यागों के अनुष्ठान का क्रम है वही क्रम उनके अङ्गों के अनुष्ठान का भी होना चाहिये ऐसा कदापि होना ठीक नहीं कि जिस प्रधान याग का प्रथम अनुष्ठान किया गया है अङ्गानुष्ठान समय उसको छोड़ अन्य किसी प्रधान याग के अङ्गों का अनुष्ठान किया जाय, क्योंकि अङ्गानुष्ठान के विपरीत होजाने से प्रधान याग यथेष्ट फल का जनक नहीं होता ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे सम्पूर्ण अङ्गों से युक्त शरीर नितान्त लाभदायक होता है वैसे ही प्रधान याग भी अङ्गों से युक्त हुआ

नितान्त लाभकारी होता है और अङ्गों का प्रधान याग के लिये होना सर्वसम्मत है; इसलिये अनुष्ठान काल में अङ्गानुष्ठान का क्रम प्रधानानुष्ठान क्रम के अनुसार ही होना चाहिये विपरीत नहीं, यही निश्चेतव्य है ॥

सं०–अब कहीं अङ्गों में "मुख्यक्रम" की अपेक्षा "पाठक्रम" को बलवान् कथन करते हैं :–

प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वाद् यथाक्रमं प्रतीयेत । १५ ।

पद०–प्रकृतौ । तु । स्वशब्दत्वात् । यथाक्रमं । प्रतीयेत ।

पदा०–"तु" शब्द उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (प्रकृतौ) पूर्णमास याग में (यथाक्रम) अङ्गों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार (प्रतीयेत) जानना चाहिये, क्योंकि (स्वशब्दत्वात्) वह साक्षात् अङ्ग प्रतिपादक शब्दों से पाया जाता है ॥

भाष्य–पूर्णमास याग में वैदिक मन्त्रों के अनुसार प्रथम "उपांशुयाग" पश्चात् "अग्नीषोमीययाग" होता है और उपांशुयाग में आज्य तथा अग्नीषोमीय में पुरोडाश हवनीय द्रव्य हैं, आज्य के धर्म "उत्पवन" आदि तथा पुरोडाश के धर्म "निर्वाप" आदि सर्वसम्मत हैं परन्तु इनका पाठ मुख्यक्रम से विपरीत किया गया है अर्थात् जैसे प्रथम उपांशुयाग पश्चात् अग्नीषोमीय याग, इस प्रकार मुख्य दोनों याग यथाक्रम विधान किये गये हैं वैसे उनके द्रव्यों के धर्म्म यथाक्रम विधान नहीं किये किन्तु पुरोडाश के धर्म "निर्वाप" आदि प्रथम और आज्य के धर्म उत्पवन आदि पश्चात् विधान किये हैं, इससे यह सन्देह हुआ कि मुख्यक्रमानुसार द्रव्य

धर्मों का अनुष्ठान होना चाहिये किंवा पाठक्रमानुसार, या यों कहो कि उपांशु याग में अपेक्षित आज्य द्रव्य के अङ्गभूत "उत्पवन" आदि धर्मों का प्रथम अनुष्ठान होना चाहिये अथवा पुरोडाश द्रव्य के धर्म निर्वापादि का? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि मुख्यक्रमानुसार ही अङ्गक्रम मानना चाहिये जैसाकि पिछले अधिकरण में कथन किया गया है तथापि प्रकृत में उसका मानना आवश्यक नहीं, क्योंकि ऐसा वहां ही मानाजाता है जहां अङ्गक्रम का बोधक कोई "श्रुति" आदि प्रमाण उपलब्ध नहीं होता परन्तु प्रकृत में अङ्गों के क्रम का बोधक "पाठ" रूप प्रमाण विद्यमान है जिसका परित्याग उचित नहीं अर्थात् पिछले अधिकरण में जो निर्णय कियागया है कि मुख्य क्रमानुसार ही अङ्गक्रम होता है, या यों कहो कि जो प्रधानकर्म का क्रम है वही उसके धर्मों का क्रम है, यह उत्सर्ग है समानशास्त्र तथा उत्सर्ग यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, उत्सर्ग की प्रवृत्ति वहां ही होती है जहां उसका अपवाद=संकोच करने वाला कोई नहीं मिलता, उक्त उत्सर्ग का अपवाद "पाठ" रूप प्रमाण है वह उसका संकोच करके एतावन्मात्र में पर्य्यवसान करदेता है कि जहां अङ्ग-क्रम का बोधक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता वहां उनका वही क्रम जानना चाहिये जो मुख्य का क्रम है विपरीत नहीं, पूर्णमास याग में उपांशु याग के पश्चात् अग्नीषोमीय याग का विधान होने से प्रथम उपांशु याग पश्चात् अग्नीषोमीय याग यह मुख्यक्रम प्रतीत होता है परन्तु उपांशुयागादि में अपेक्षित आज्यादि द्रव्यों के "उत्पवन" आदि धर्म मुख्यक्रमानुसार विधान न करके प्रथम अग्निषोमीय याग में अपेक्षित पुरोडाश के निर्वापादि धर्म

पश्चात् उपांशु याग में अपेक्षित आज्य द्रव्य के उत्पवनादि धर्म विधान किये हैं और जिस क्रम से विधान किये हैं मुख्यक्रम का बाध करके उसी क्रम से उनका अनुष्ठान होना आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा करने में श्रुतक्रम की हानि तथा अश्रुतक्रम की प्राप्ति रूप दोष आजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उपांशुयागादि में अपेक्षित आज्यादि द्रव्यों के उत्पवन आदि धर्मों का अनुष्ठान मुख्यक्रमानुसार होना ठीक नहीं किन्तु पाठक्रमानुसार ही ठीक है ॥

सं०—अब ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा मन्त्रपाठ को बलवान् कथन करते हैं :—

मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात् प्रयोगरूप-सामर्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशः सः । १६ ।

पद०—मन्त्रतः । तु । विरोधे । स्यात् । प्रयोगरूपसामर्थ्यात् । तस्मात् । उत्पत्तिदेशः । सः ।

पदा०—" तु " शब्द उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (मन्त्रतः) मन्त्र के साथ (विरोधे) ब्राह्मण का विरोध होने पर (स्यात्) मन्त्र के अनुसार अनुष्ठान होना चाहिये, क्योंकि (प्रयोगरूपसामर्थ्यात्) अनुष्ठानमात्र के प्रकार को बोधन करने वाले (तस्मात्) ब्राह्मण से (उत्पत्तिदेशः) कर्म का विधायक होने के कारण (सः) मन्त्र प्रबल है ।

भाष्य—वेद में " अग्निर्मूर्धा " इत्यादि मन्त्रों से " उपांशु-

याग" का विधान करके पश्चात् "अग्नीषोमासवेदसा" इत्यादि मन्त्रों से "अग्निषोमीय याग" का विधान किया है और वेद के व्याख्यानभूत ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम अग्नीषोमीय का विधान करके पश्चात् उपांशु याग का विधान किया है, इससे यह सन्देह हुआ कि उक्त पूर्णमास संज्ञक दोनों यागों का मन्त्रक्रमानुसार अनुष्ठान होना चाहिये किंवा ब्राह्मणक्रमानुसार? यह सन्देह हैं, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि मन्त्र स्वतःप्रमाण होने के कारण ब्राह्मण से प्रबल तथा ब्राह्मण होने के कारण मन्त्र से निर्बल है, यह प्रथमाध्याय में भले प्रकार निरूपण किया गया है और प्रबल तथा निर्बल दोनों के मध्य प्रबल आदरणीय होता है यह सर्वसम्मत वात है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये निर्बल ब्राह्मणोक्त क्रम का परित्याग करके प्रबल मन्त्रोक्त क्रमानुसार उक्त दोनों यागों का अनुष्ठान होना चाहिये, यही निश्चेतव्य है।

सं०-अब कहीं चोदक प्राप्त वाक्य को बलवान् कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात्।१७।

पद०-तद्वचनात्। विकृतौ। यथाप्रधानं। स्यात्।

पदा०-(विकृतौ) विकृति याग में (यथाप्रधानं) अङ्गानुष्ठान प्रधानक्रमाननुसार (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (तद्वचनात्) प्रधान क्रम का बोधक वचन पाया जाता है।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" याग की विकृति "अध्वरकल्प" नामक याग में "अग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्"=

प्रकाशस्वरूप तथा सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा के उद्देश से एकादश कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का प्रदान करे "**सरस्वत्याज्यभागा स्यात्**"=सर्व प्राणियों के अधिपति परमात्मा के उद्देश से घृत का होम करे "**बार्हस्यत्यश्चरुः**"= सब से महान् जगत्पिता परमात्मा के उद्देश से एक चरु का प्रदान करे, इत्यादि वाक्यों से यथाक्रम पुरोडाश, आज्य तथा चरु रूप तीन हवियें विधान की हैं इनके मध्य आज्य तथा चरु रूप दो हवियों के धर्मानुष्ठान में सन्देह है कि प्रधानभूत हवियों के अनुसार प्रथम उत्पवनादि आज्यधर्मों का पश्चात् निर्वापादि चरु धर्मों का अनुष्ठान होना चाहिये किंवा "**प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या**"= प्रकृति याग की भांति विकृति याग कर्तव्य है, इस चोदक वाक्य से प्राप्त प्राकृत क्रमानुसार प्रथम चरु धर्मों का पश्चात् आज्य धर्मों का अनुष्ठान होना चाहिये अर्थात् उक्त उदाहृत वाक्यों में प्रधान हवियों का प्रथम "आज्य" तदनन्तर "चरु" इस प्रकार जो क्रम पढ़ा है इसी के अनुसार उनके धर्मों का अनुष्ठान होना चाहिये अथवा उक्त चोदक से प्राप्त प्रथम चरु धर्म पश्चात् आज्यधर्म इस प्रकार प्रकृति क्रमानुसार? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि सारस्वत आज्य से बार्हस्पत्य चरु का पीछे विधान किया है और जैसे मुख्य हवियों का विधान किया है वैसे उनके धर्मों का अनुष्ठान भी होना चाहिये, क्योंकि अङ्गानुष्ठान को मुख्यक्रमानुसारित्व का नियम है, इसलिये उक्त दोनों हवियों के धर्मों का अनुष्ठान मुख्यक्रमानुसार ही होना चाहिये विपरीत नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथा-प्रकृति । १८ ।

पद०-विप्रतिपत्तौ । वा । प्रकृत्यन्वयात् । यथाप्रकृति ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (विप्रतिपत्तौ) विरुद्ध दो क्रमों के एकत्र प्राप्त होने पर (यथा-प्रकृति) प्रकृतिक्रमानुसार ही अनुष्ठान होना उचित है, क्योंकि (प्रकृत्यन्वयात्) उक्त क्रम प्रकृति याग में प्रथम अन्वित है।

भाष्य-प्रकृतियाग से विकृतियाग में जो उक्त चोदक वाक्य द्वारा धर्मों का अतिदेश होता है, या यों कहो कि धर्म प्राप्त होते हैं वह क्रमविशिष्ट प्राप्त होते हैं विना क्रम नहीं, यदि विना क्रम प्राप्त होते तो अवश्य विकृति याग में मुख्यक्रमानुसार ही धर्मों के अनुष्ठान की कल्पना कीजाती परन्तु उक्त चोदक वाक्य द्वारा जो प्रकृति याग मे धर्मों के अनुष्ठान का क्रम प्राप्त है विकृति यागस्थ उक्त मुख्य हवियों का क्रम उससे विरुद्ध है और जहां दो विरुद्ध क्रम प्राप्त होते हैं वहां निर्बल क्रम का परित्याग करके प्रबल क्रम का ही आश्रयण किया जाता है यह नियम है, विकृति याग में जो क्रम कथन किया है वह प्रकृति क्रम की अपेक्षा निर्बल है दूसरे "आग्नेय" याग की विकृति "बार्हस्पत्यचरु" तथा उपांशुयाग की विकृति सारस्वत आज्य है और "आग्नेय" याग उपांशु याग की अपेक्षा प्रथमभावी है अतएव उसकी विकृति में धर्मों के अनुष्ठान का क्रम भी उक्त प्रकृति के अनुसार ही होना चाहिये क्योंकि विकृति क्रम की अपेक्षा प्रकृति क्रम अन्तरङ्ग तथा प्रकृति क्रम की अपेक्षा विकृति क्रम बहिरङ्ग है और अन्तरङ्ग तथा

बहिरङ्ग दोनों के मध्य अन्तरङ्ग ही माननीय है बहिरङ्ग नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त दोनों हवियों के धर्मों का अनुष्ठान चोदक वाक्य प्राप्त प्रकृतिक्रमानुसार होना चाहिये मुख्यक्रमानुसार नहीं।

सं०-अब कहीं विकृति में प्राकृत धर्मों की चोदक वाक्य से अप्राप्ति कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात् तत्काला स्याद् यथाशिष्टम् । १९ ।

पद०-विकृतिः । प्रकृतिधर्मत्वात् । तत्काला । स्यात् । यथाशिष्टम् ।

पदा०-(विकृतिः) आग्नेय आदि तीनों विकृति याग (यथाशिष्टं) "साकमेध" नामक प्रकृति याग की सिद्धि के लिये जितना काल विधान कियागया है (तत्काला) उतने काल वाले (स्यात्) होने चाहियें, क्योंकि (प्रकृतिधर्मत्वात्) विकृति के लिये प्राकृत धर्म वाला होना नियत है ॥

भाष्य-प्रकृति सम्बन्धी को "प्राकृत" कहते हैं, अहः तथा दिन यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं "चातुर्मास्य" यागान्तर्गत "साकमेध" नामक तृतीय पर्व में "अग्नयेऽनीकवते प्रातरष्टाकपालं निर्वपेत्" = सर्वदा प्रजापालनशक्तिसंयुक्त प्रकाशस्वरूप अग्नि परमात्मा के उद्देश से प्रातःकाल आठ कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का प्रदान करे "मरुद्भ्यः सन्तापनेभ्यो मध्यंदिने चरुम्" = दुष्टों को दण्ड देने वाले जगत्संहारक परमात्मा के उद्देश से मध्यंदिन में एक चरु का प्रदान करे,

"प्रुङ्क्ये गृहमेधिभ्यः सर्वासांदुग्धेसायमोदनम्"= प्रजातन्तु के अविच्छेदार्थ गृहस्थाश्रम की शिक्षा देने वाले जगत् हरता परमात्मा के उद्देश से गो, भैंस, बकरी इन सब के दुग्ध में पके हुए ओदन =दुग्ध पाक का प्रदान करे, इत्यादि वाक्यों से "आग्नेय" आदि तीन विकृति याग विधान किये हैं, उक्त तीनों यागों की प्रकृतिभूत "साकमेध" नामक याग "द्व्यहकाल"=दो दिन में सिद्ध होने वाला सर्वसम्मत है और उक्त वाक्यों में प्रातः, मध्यं-दिन तथा सायं तीन काल विधान करने से उक्त तीनों याग सद्यः-काल=जिस २ काल में विधान किये हैं उसी २ काल में सिद्ध होने वाले प्रतीत होते हैं, इससे यह सन्देह हुआ कि उक्त तीनों याग प्रकृति याग की भांति द्व्यहकाल हैं किंवा सद्यःकाल अर्थात् जितने काल में उक्त प्रकृति याग किया जाता है उतने ही काल में उक्त तीनों विकृति याग कर्तव्य हैं अथवा स्व वाक्योक्त एक-दिनान्तर्वर्ती तत्तत्काल में? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्व-पक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे प्रकृति के अन्य धर्मों का विकृति में अनुष्ठान होता है वैसे ही काल का अनुष्ठान होना भी आवश्यक है उक्त तीनों यागों की प्रकृति "साकमेध" याग द्व्यहकाल है, अतएव वह भी द्व्यह-काल होने चाहियें. यदि ऐसा न मानाजाय तो प्रकृति तथा विकृति की जो परस्पर सदृशता है उसका सर्वथा लोप होजाता है और उसके लोप होने से "प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या" इस चोदक वाक्य की प्रवृत्ति नहीं होसक्ती और उसकी प्रवृत्ति न होने से विकृति में अन्य प्राकृत धर्मों का अनुष्ठान होना असम्भव है सो ठीक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त तीनों यागों के विधायक उदाहृत वाक्यों में जो प्रातः, मध्यंदिन तथा सायं यह तीन काल कथन किये हैं वह उक्त यागों के "सद्यः काल" होने के अभिप्राय से नहीं किन्तु "द्व्यहकाल" के अभिप्राय से हैं और "द्व्यहकाल" मानने में उक्त तीनों काल भी उपपन्न होजाते हैं, क्योंकि जैसे एक दिन में उक्त तीनों काल होसक्ते हैं वैसे ही दो दिन में भी होसक्ते हैं इसमें कोई दोष नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त तीनों विकृति याग "सद्यःकाल" नहीं किन्तु प्रकृति याग की भांति "द्व्यहकाल" हैं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत तत्र विधेरनुमानात्प्रकृतिधर्मलोपः स्यात्। २०।

पद०—अपि। वा। क्रमकालसंयुक्ता। सद्यः। क्रियेत। तत्र। विधेः। अनुमानात्। प्रकृतिधर्मलोपः। स्यात्।

पदा०—"अपि, वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आये हैं (क्रमकालसंयुक्ता) उक्त तीनों जिस क्रम तथा जिस काल में विधान किये गये हैं उसी क्रम तथा काल सहित (सद्यः, क्रियेत) सद्यः कर्तव्य हैं, क्योंकि (तत्र) उदाहृत वाक्यों में (विधेः) जो "प्रातः" आदि कालों का विधान है वह (अनुमानात्) उक्त चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त प्रकृत काल से प्रबल है, इसलिये (प्रकृतिधर्मलोपः) उक्त प्रकृति याग के धर्मभूत काल का उक्त विकृति यागों में लोप (स्यात्) होना उचित है।

भाष्य—यद्यपि चोदक वाक्य से प्राप्त प्राकृत धर्मों का विकृति

में अनुष्ठान होता है यह नियम है तथापि उक्त तीनों विकृति यागों में प्राकृत काल का अनुष्ठान नहीं होसक्ता, क्योंकि काल का "प्रातः" आदि शब्दों द्वारा विशेष रूप से विधान पाये जाने के कारण उक्त नियम काल अंश में बाधित है अर्थात् चोदक वाक्य से प्राप्त उन्हीं प्राकृत धर्मों का विकृति में अनुष्ठान होता है जिन धर्मों का विकृति में विशेष रूप से विधान नहीं किया परन्तु उक्त तीनों विकृति यागों में काल का विशेष रूप से विधान प्रत्यक्ष है, और जिसका विधान प्रत्यक्ष है उसका परित्याग भी उचित नहीं, और एक काल मात्र को छोड़कर शेष प्राकृत धर्मों का अनुष्ठान होने से प्रकृति तथा विकृति की सदृशता का अङ्ग भी नहीं होसक्ता और उसके अङ्ग न होने से चोदक वाक्य की प्रवृत्ति में भी कोई बाधा नहीं, यदि उक्त विकृति यागों में चोदक वाक्य से काल की प्राप्ति भी मानीजाय तो भी प्रत्यक्ष विहित को छोड़कर चोदक प्राप्त का अनुष्ठान नहीं होसक्ता, क्योंकि प्रत्यक्ष विहित तथा चोदक प्राप्त दोनों के मध्य प्रत्यक्ष विहित प्रबल तथा चोदक प्राप्त निर्बल होता है और निर्बल तथा प्रबल दोनों के मध्य प्रबल ही माननीय होता है निर्बल नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त तीनों विकृति याग प्रकृति की भांति "द्व्यहकाल" नहीं किन्तु "सद्यःकाल" हैं, या यों कहो कि उक्त तीनों याग प्रकृति याग की भांति द्व्यहः साध्य नहीं किन्तु जिस २ काल में उनका विधान किया गया है तत २ काल साध्य हैं।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

कालोत्कर्ष इति चेत् । २१ ।

पद०—कालोत्कर्षः । इति । चेत ।

पदा०-(कालोत्कर्षः) उक्त काल का उत्कर्ष होने से भी "प्रातः" आदि शब्द उपपन्न होसक्ते हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं. इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-उक्त वाक्यों में जो "प्रातः" आदि काल का प्रत्यक्ष विधान किया है उसका एक दिन से दूसरे दिन मे उत्कर्ष होसक्ता है, एक दिन से अगले दिन में सम्बन्ध का नाम "उत्कर्ष" है, और उत्कर्ष के होने से प्रकृति तथा विकृति की पूरी सदृशता होसक्ती है, यदि उत्कर्ष मानलेने से उक्त दोनों की सर्वाङ्ग सदृशता तथा प्रत्यक्ष विधान की उपपत्ति होजाय तो बाध की अपेक्षा श्रेष्ठ है, और जो श्रेष्ठ है उसका स्वीकार अवश्य करना चाहिये अस्वीकार ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त तीनों याग प्रकृति याग की भांति द्व्यहकाल ही हैं सद्यःकाल नहीं।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

न तत्सम्बन्धात् । २२ ।

पद०-न । तत्सम्बन्धात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (तत्सम्बन्धात्) प्रातः आदि का एक ही दिन के साथ सम्बन्ध है।

भाष्य-यदि प्रातः आदि स्पष्ट शब्दों का प्रयोग न किया जाता, या यों कहो कि समान रूप से काल का ग्रहण होता तो अवश्य प्रकृति याग की भांति उत्कर्ष करके उक्त विकृति यागों को भी "द्व्यहकाल" कल्पना किया जाता परन्तु प्रातः आदि स्पष्ट शब्दों का प्रयोग करने से उक्त तीनों समयों का एक दिन के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है और यदि उत्कर्ष मानकर द्वितीय दिन का ग्रहण कियाजाय तो दोनों दिनों के दो २ प्रातःआदि समय

होजाते हैं जिनके मध्य एक में उक्त याग का अनुष्ठान होने से दूसरा व्यर्थ होजाता है, सो ठीक नहीं. इसलिये सिद्ध है कि उक्त तीनों विकृति याग "द्व्यहकाल" नहीं किन्तु "सद्यःकाल" हैं ॥

सं०-अब "ज्योतिष्टोम" याग में "अनुयाजादि" का "उत्कर्ष" तथा प्रयाजान्त का "अपकर्ष" कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद् यथोक्त मुत्कर्षे स्यात् । २३ ।

पद०-अङ्गानां । मुख्यकालत्वात् । यथोक्तम् । उत्कर्षे । स्यात् ।

पदा०-(उत्कर्षे) अनुयाज तथा प्रयाज दोनों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के विषय में (यथोक्तं) जैसे कथन किया गया है वैसे ही (स्यात्) होना चाहिये. क्योंकि (अङ्गानां) ऐसा होने से अङ्गों को (मुख्यकालत्वात्) स्व २ काल का लाभ होजाता है ॥

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में "आग्निमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति"="आग्निमारुत" कर्म से ऊर्ध्व "अनुयाज" नामक कर्म करे, इत्यादि वाक्यों से "अनुयाज" नामक अङ्ग कर्म का उत्कर्ष तथा "तिष्ठन्तं पशुं प्रयजन्ति"=पशुदान देने से प्रथम ही "प्रयाज" नामक कर्म करे, इत्यादि वाक्यों से "प्रयाज" नामक अङ्गकर्म का अपकर्ष विधान किया है, ऊपर की ओर सम्बन्ध का नाम "उत्कर्ष" तथा नीचे की ओर सम्बन्ध का नाम "अपकर्ष" है, उक्त उत्कर्ष तथा अपकर्ष अनुयाज तथा प्रयाजमात्र कर्म का विधान किया है किंवा अनुयाजादि

तथा प्रयाजान्त सम्पूर्ण अङ्गकर्मों का अर्थात् उक्त वाक्यों में जो "अनुयाज" का उत्कर्ष विधान किया है वह अनुयाज मात्र का किया है अथवा अनुयाजादि का, और जो प्रयाज का अपकर्ष विधान किया है वह भी प्रयाज मात्र का किया है अथवा प्रयाजान्त सम्पूर्ण अङ्गकर्मों का ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है. पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जो २ काल अङ्गों के अनुष्ठानार्थ विधान कियागया है उसी २ काल में उनका अनुष्ठान होना उचित है यदि "अनुयाज" मात्र के उत्कर्ष तथा "प्रयाज" मात्र के अपकर्ष को छोड़कर अनुयाजादि अङ्गकर्म समूह का "उत्कर्ष" तथा प्रयाजान्त यावत् अङ्गकर्मों का अपकर्ष माना जाय तो प्रयाज अनुयाज का मुख्य काल के साथ सम्बन्ध होने पर भी आघार, सूक्तवाक आदि अन्य अङ्गकर्मों का मुख्य काल के साथ सम्बन्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि उत्कर्ष तथा अपकर्ष होने से उनके स्वकीय काल का लोप तथा अन्य काल के साथ सम्बन्ध होजाता है अर्थात् "दर्शपूर्णमास" रूप प्रकृति याग में हवि के निष्पन्न होने पर "प्रयाज" नामक अङ्गकर्म किये जाते हैं, ज्योतिष्टोम में पशुदान के अनन्तर हवि निष्पन्न होने पर उनकी प्राप्ति होनी चाहिये परन्तु उक्त वाक्य द्वारा पशु दान से पूर्व ही उनका अपकर्ष विधान किया है ऐसे ही अनुयाजों का भी प्रकृति याग में जो स्थान है उसको छोड़कर उक्त विकृति में उनका उत्कर्ष विधान किया है, यदि उक्त दोनों अङ्गकर्मों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष को न मानकर अनुयाजादि तथा प्रयाजान्त का उत्कर्ष अपकर्ष मानाजाय तो अन्य अङ्ग के मुख्य काल का लोप तथा कालान्तर की प्राप्ति रूप दोष आजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्यों में जो अनुयाज तथा प्रयाज का

उत्कर्षापकर्ष विधान किया है वह अनुयाजादि तथा प्रयाजान्त सम्पूर्ण अङ्गकर्मों का नहीं किन्तु अनुयाज तथा प्रयाज मात्र का है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

तदादि वाऽभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्षे स्यात् । २४ ।

पद०-तदादि । वा । अभिसम्बन्धात् । तदन्तम् । अपकर्षे । स्यात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (अपकर्षे) अपकर्ष तथा उत्कर्ष में (तदादि) अनुयाजादि (तदन्तं) तथा प्रयाजान्त का (स्यात्) ग्रहण है, क्योंकि (अभिसम्बन्धात्) चोदक वाक्य से तदादि तदन्त का ही सम्बन्ध पाया जाता है।

भाष्य-प्रकृति याग से विकृति याग में चोदक वाक्य द्वारा जो अङ्गों की प्राप्ति होती है वह क्रमविशिष्टों की होती है केवल अङ्गों की नहीं और जिस क्रम से विशिष्ट अङ्गों की प्राप्ति होती है यदि उसका परित्याग कर दियाजाय तो क्रमान्तर के उपस्थित न होने से अनुष्ठान का लोप होना सम्भव है और अङ्गानुष्ठान में क्रम के नियत होने से कालसम्बन्ध का व्यतिक्रम भी नहीं होता अर्थात् जिस काल तथा जिस क्रम से प्रकृति याग में अङ्गों का अनुष्ठान होता है विकृति याग में चोदक वाक्य से प्राप्त अङ्गों का अनुष्ठान भी उसी काल तथा उसी क्रम से होता है, अतएव उत्कर्ष अपकर्ष में भी कालसम्बन्ध के व्यतिक्रम की शङ्का नहीं होसक्ती, क्योंकि नियत क्रम का भङ्ग कहीं भी नहीं है और उक्त वाक्यों में जो अनुयाज तथा प्रयाज का ग्रहण किया है वह उपलक्षण के अभिप्राय से किया है वस्तुतः उसका तात्पर्य्य अनुयाजादि प्रयाजान्त

अङ्गसमूह के उत्कर्ष अपकर्ष में है और अङ्गसमूह का क्रम सहित उत्कर्ष अपकर्ष होने से पूर्वपक्षोक्त एक दोष भी नहीं आता और जिसमें कोई दोष नहीं उसका स्वीकार आवश्यक है अस्वीकार ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्यों में जो उत्कर्ष तथा अपकर्ष विधान किया है वह अनुयाजादि प्रयाजान्त सम्पूर्ण अङ्ग कर्मों का जानना चाहिये केवल अनुयाज तथा केवल प्रयाज का नहीं ॥

सं०–अब " प्रवृत्ति " रूप प्रमाण द्वारा " प्रचरणी होमादि " से प्रथम " प्रोक्षणादि " का अनुष्ठान कथन करते हैं :–

प्रवृत्त्या कृतकालानाम् । २९ ।

पद०–प्रवृत्त्या । कृतकालानाम् ।

पदा०–(प्रवृत्त्या) प्रवृत्ति रूप प्रमाण से (कृतकालानां) जिन प्रोक्षणादि का अनुष्ठानकाल ज्ञात होता है उनका प्रथम अनुष्ठान होना चाहिये ॥

भाष्य–ज्योतिष्टोम याग में " **प्रतिप्रस्थातः सवनीयान् निर्वपस्व** " = हे प्रतिप्रस्थातः ! सवनीय पुरोडाशों का निर्वाप कर, इत्यादि वाक्यों से प्रातः पठित अनुवाक के समय सवनीय पुरोडाशों का निर्वाप विधान किया है और निर्वापानन्तर भावी प्रोक्षणादि धर्म चोदक वाक्य द्वारा प्रकृति याग से स्वयं प्राप्त हैं और "बहिष्पवमान" स्तोत्र के अनन्तर " **पुरोडाशानलङ्कुरु** " = पुरोडाशों का अलङ्कार करे, इत्यादि वाक्यों से उक्त पुरोडाशों का अलङ्कार विधान किया है, इससे यह सन्देह हुआ कि उक्त पुरोडाशों का निर्वाप होजाने पर पीछे "ज्योतिष्टोम" यागोक्त

क्रमानुसार प्रचरणी होमादि, बहिष्पवमानान्त पदार्थों का अनुष्ठान होना चाहिये किंवा निर्वाप के अनन्तर चोदक प्राप्त प्रोक्षण आदि पदार्थों का ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि ज्योतिष्टोम याग में प्रथम प्रातरनुवाक तदनन्तर प्रचरणी होमादि, पश्चात् चोदक प्राप्त निर्वाप प्रोक्षणादि सहित सवनीयादि पुरोडाश फिर बहिष्पवमान स्तोत्र, इस क्रम से उक्त पदार्थों का अनुष्ठान होता है जिससे प्रचरणी होमादि पदार्थों के प्रथम अनुष्ठान में कोई विवाद प्रतीत नहीं होता तथापि उदाहृत उक्त वाक्य विशेषों के बल से प्रातरनुवाक काल में सवनीय पुरोडाशों के निर्वाप का विधान होने के कारण चोदक प्राप्त उनके प्रोक्षणादि धर्मों का अनुष्ठान प्रचरणी होमादि से पीछे नहीं होसक्ता. या यों कहो कि प्रोक्षणादि से प्रथम प्रचरणी होमादि का अनुष्ठान नहीं होसक्ता, क्योंकि उनका प्रथम अनुष्ठान होने से प्रोक्षणादि धर्मों का अपन धर्मी उक्त पुरोडाशों के साथ बहुत व्यवधान होजाता है और यह अत्यन्त असङ्गत सी बात है कि प्रातरनुवाक काल में उक्त पुरोडाशों का निर्वाप किया जाय और तदनन्तर अवश्य अनुष्ठेय चोदक प्राप्त प्रोक्षणादि धर्मों को छोड़कर प्रचरणी होमादि का अनुष्ठान कियाजाय, पुरोडाशों के साथ जैसे प्रोक्षणादि धर्मों का सम्बन्ध है वैसे प्रचरणी होमादि का नहीं और जिनके साथ जिनका कोई सम्बन्ध नहीं उनका निर्वाप के पीछे अनुष्ठान अत्यन्त अयुक्त है ॥

तात्पर्य्य यह है कि प्रातरनुवाक तथा प्रचरणी होमादि के क्रम को बाध करके उक्त पुरोडाशों का निर्वाप प्रवृत्त हुआ है और उसके प्रवृत्त होने से " एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धि

स्मारकं" =एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी की उपस्थिति का जनक होता है, इस न्यायानुसार तत्सम्बन्धी प्रोक्षण आदि सम्पूर्ण धर्म उपस्थित हैं और निर्वाप की भांति किसी उपस्थापक के न होने से प्रचरणी होमादि उपस्थित नहीं हैं और "उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थित कल्पनेमानाभावः"=उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित के अनुष्ठान की कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि पुरोडाशनिर्वाप के अनन्तर प्रचरणी होमादि अनुष्ठेय नहीं किन्तु चोदक प्राप्त प्रोक्षणादि धर्म ही अनुष्ठेय हैं, या यों कहो कि पुरोडाश निर्वाप के अनन्तर ज्योतिष्टोम क्रमानुसार प्रचरणी होमादि वहिष्पवमान स्तोत्र पर्य्यन्त पदार्थों का अनुष्ठान नहीं होना चाहिये किन्तु चोदक प्राप्त प्रोक्षणादि धर्मों का होना चाहिये ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

शब्दविप्रतिषेधाच्च । २६ ।

पद०-शब्दविप्रतिषेधात् । च ।

पदा०-(च) और (शब्दविप्रतिषेधात्) शब्दार्थ का विरोध प्राप्त होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-यदि पूर्वपक्ष के अनुसार पुरोडाशनिर्वाप के अनन्तर प्रचरणी होमादि का अनुष्ठान कियाजाय तो "पुरोडाशानलङ्कुरु"=पुरोडाशों का अलङ्कार करे, इस अलङ्कार मात्र के विधायक वाक्य में प्रोक्षणादि अलङ्कार पर्य्यन्त धर्मों का अनुष्ठान करे, इस अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है जो शब्दार्थ से विरुद्ध है परन्तु सिद्धान्त पक्ष में प्रोक्षणादि का प्रथम ही अनुष्ठान होजाने से उक्त वाक्य में विरुद्ध अर्थ की कल्पना करनी नहीं पड़ती, क्योंकि

इस पक्ष में अलङ्कारमात्र ही "अलङ्कुरु" शब्द का अर्थ किया जाता है जो शब्द से विरुद्ध नहीं है और विरुद्ध तथा अविरुद्ध अर्थों के मध्य विरुद्ध अर्थ का स्वीकार ठीक नहीं किन्तु अविरुद्ध अर्थ का स्वीकार ही ठीक है, इसलिये सिद्ध है कि निर्वाप के पश्चात् प्रोक्षणादि ही अनुष्ठेय हैं प्रचरणी होमादि नहीं।

सं०-अब "वैकृतयूप" के छेदनमात्र का अपकर्ष कथन करते हैं :-

असंयोगात्तु वैकृतं तदेव प्रतिकृष्येत ।२७।

पद०-असंयोगात् । तु । वैकृतं । तत् । एव । प्रतिकृष्येत ।

पदा०-"तु" शब्द दृढ़ता के लिये आया है (वैकृतं) विकृति मात्र में विधान किया जो यूप का छेदन (तत् एव) तन्मात्र का ही (प्रतिकृष्येत) अपकर्ष होना चाहिये, क्योंकि (असंयोगात्) उसका अन्य अङ्गों के साथ सम्बन्ध नहीं है।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" याग की विकृति "ज्योतिष्टोम" यागान्तर्वर्ती "अग्नीषोमीय" पशुयाग में "दीक्षासु यूपं छिनत्ति"=दीक्षा समय यूप का छेदन करे, इत्यादि वाक्यों से जो दीक्षा समय यूप छेदन का अपकर्ष विधान किया है वह यूप छेदनमात्र का अपकर्ष है किंवा सोमप्रणयनादि सहित यूप छेदन का? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि जैसे प्रयाज तथा आघार आदि का एक प्रधान याग के प्रति अङ्ग होने के कारण परस्पर क्रम अपेक्षित है और क्रम के अपेक्षित होने के कारण प्रयाज के अपकर्ष से आघारादि अङ्गसमूह का भी अपकर्ष होता है यदि वैसे ही यूपछेदन तथा तत्पूर्वभावी सोम प्रणयनादि का भी परस्पर क्रम अपेक्षित होता तो अवश्य यूपछेदन

के अपकर्ष से तदन्तर सोम प्रणयनादि अङ्गसमूह का भी अपकर्ष कल्पना कियाजाता परन्तु प्रणयन सोमयाग का तथा यूपछेदन अग्नीषोमीय पशु का अङ्ग होने से उक्त दोनों का परस्पर क्रम अपेक्षित नहीं और परस्पर क्रम के अपेक्षित न होने से यूपछेदनान्त यावदङ्गों के अपकर्ष की कल्पना नहीं करसक्ते, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में यूपछेदन मात्र का अपकर्ष विधान किया है तदन्त प्रणयन आदि अङ्गसमूह का नहीं।

सं०—अब अनुयाजों के साथ दक्षिणा अग्नि में होने वाले होमों का अनुत्कर्षक कथन करते हैं:—

प्रासङ्गिकञ्चनोत्कर्षेदसंयोगात्। २८।

पद०—प्रासङ्गिकं। च। न। उत्कर्षेत्। असंयोगात्।

पदा०—(च) और (प्रासङ्गिकं) पुरोडाशों पर प्रसङ्ग से उपकार करने वाला अनुयाज कर्म (न, उत्कर्षेत्) दक्षिणाग्नि के होमों का उत्कर्ष नहीं करसक्ता, क्योंकि (असंयोगात्) उसका उनके साथ सम्बन्ध नहीं है।

भाष्य—"आग्नीमारुतादूर्ध्वमनुयाजैश्चरन्ति" इत्यादि वाक्यों से अनुयाजों का उत्कर्ष विधान किया है, इसका विस्तार-पूर्वक निरूपण पीछे २३ वें सूत्र में किया गया है, उक्त प्रयाज उत्कृष्यमाण हुए अन्य अङ्गों की भांति "पिष्टलेप" तथा "फलीकरण" नामक दोनों होमों के भी उत्कर्षक=उत्कर्ष करने वाले हैं किंवा नहीं? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि उक्त दोनों होम सवनीय पुरोडाश के लिये हैं अग्नीषोमीय पशु के लिये नहीं और अनुयाज उक्त पशु के लिये हैं और उक्त पुरोडाश में वह केवल प्रसङ्ग से

उपकारक है साक्षात् नहीं, सिल लोहड़े तथा कपालादि में लगे हुए पिसान का जुहू से चार वार ग्रहण किये घृत में डालकर जो दक्षिणाग्नि में होम कियाजाता है उसका नाम "पिष्टलेपहोम" तथा तण्डुलों के कणों का घृत में डालकर जो उक्त अग्नि में होम कियाजाता है उसका नाम "फलीकरणहोम" है, जैसे उक्त दोनों होम सवनीय पुरोडाश के लिये चोदक वाक्य से प्राप्त हैं वैसे अनुयाज उक्त पुरोडाश के लिये प्राप्त नहीं किन्तु वह प्रसङ्ग से उपकारक हुए भी वस्तुतः अग्नीषोमीय पशु के लिये ही प्राप्त हैं और जिन दो का उद्देश एक नहीं है उनके मध्य एक उत्कृष्यमाण हुआ दूसरे का उत्कर्षक नहीं होसक्ता, क्योंकि उद्देश का भेद होने से उक्त दोनों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है, इसलिये सिद्ध है कि स्वयं उत्कृष्यमाण हुए अनुयाज अन्य अङ्गों की भांति उक्त दक्षिणाग्नीक दोनों होमों के उत्कर्षक नहीं।

सं०-अब पुरोडाशाभिवासन पर्यन्त अङ्गसमूह का दर्श याग में अनपकर्ष कथन करते हैं:-

तथाऽपूर्वम् । २९ ।

पद०-तथा । अपूर्वम् ।

पदा०-(तथा) जैसे प्रयाज उक्त दोनों होमों के उत्कर्षक नहीं वैसे ही (अपूर्व) प्राकृत वेदि अभिवासनान्त अङ्गसमूह का अपकर्षक नहीं।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" याग में "भस्मनाऽभिवासयीत"=भस्म से पुरोडाश का अभिवासन=आच्छादन करे, इत्यादि वाक्यों से कपालों में पकते हुए पुरोडाश का भस्म से आच्छा-

दन विधान करके तदनन्तर "वेदिंकरोति" = वेदि बनाये, इत्यादि वाक्यों से वेदि विधान की है और उक्त क्रम से विधान कीगई वेदि का प्रतिपद् के दिन पूर्णमास याग में अनुष्ठान किया जाता है परन्तु दर्श याग में "पूर्वेद्युरमावास्यायां वेदिं करोति" = प्रतिपद से पहले अमावास्या याग में वेदि बनाये, इत्यादि वाक्यों से "अमावास्या" याग में वेदि का अपकर्ष विधान किया है वह अपकर्ष "वेदि" मात्र का है किंवा अभिवासन पर्य्यन्त सम्पूर्ण अङ्गों सहित "वेदि" का? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि "अमावास्या" याग पूर्णमास याग की भांति स्वयं प्रकृति याग है यदि वह पूर्णमास याग का विकृति याग होता तो अवश्य उक्त प्रकृति याग में विहित अङ्गों का अतिदेश होता और अतिदेश के होने पर उत्कर्षापकर्ष विचार समय केवल का अपकर्ष है किंवा अभिवासनान्त अङ्ग सहित का? यह सन्देह भी उत्पन्न होता परन्तु "अमावास्या" याग विकृति याग न होने से उक्त सन्देह उत्पन्न ही नहीं होसक्ता और पूर्णमास याग की भांति "अमावास्या" याग में स्वयं वेदि का विधान पाये जाने से अपकर्ष की कल्पना करना व्यर्थ है।

तात्पर्य्य यह है कि जिस वाक्य को वेदि के अपकर्ष का अभिधायक कथन किया है वह स्वयं वेदि का विधायक है और उसके विधायक होने से वेदि के अपकर्ष की चर्चा ही व्यर्थ है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में वेदि का विधान मात्र है अपकर्ष नहीं, और अपकर्ष का विधान न होने से अभिवासनान्त अङ्गों सहित वेदि का अपकर्ष मानना भी अनुचित है।

सं०—अब "सान्तापनीया" नामक इष्टि को "अग्निहोत्र"

का अनुत्कर्षक कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

सान्तापनीयातूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवन-वद्वैगुण्यात् । ३० ।

पद०-सान्तापनीया । तु । उत्कर्षेत् । अग्निहोत्रं । सवनवत् । वैगुण्यात् ।

पदा०-" तु " शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (सवनवत्) जैसे " प्रातःसवन " स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुआ मध्यंदिन सवन का उत्कर्ष करता है वैसेही (सान्तापनीया) सन्तापनीया नामक इष्टि भी (अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र का (उत्कर्षेत्) उत्कर्ष करती है क्योंकि (वैगुण्यात्) उसके न करने से कर्म का वैगुण्य होजाता है ।

भाष्य-" चातुर्मास्य " याग के " साकमेध " नामक पर्व में "मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चरुं निर्वपेत्"=दुष्टों को दण्ड देने वाले जगत्संहारक परमात्मा के उद्देश से मध्याह्न में एक चरु का प्रधान करे, इत्यादि वाक्यों से "सान्तापनीया" इष्टि विधान करके उसकी समाप्ति होजाने पर सायंसमय 'अग्निहोत्रंजुहोति'= अग्निहोत्र करे, इत्यादि वाक्यों से " अग्निहोत्र " विधान किया है, यदि किसी प्रतिबन्धकवश सायंकाल से पूर्व उक्त इष्टि की समाप्ति न होसके किन्तु उसके अनुष्ठान का उत्कर्ष सायंकाल से भी ऊपर होजाय तो उसके उत्कर्ष होजाने से साथ ही अग्निहोत्र का भी उत्कर्ष होना चाहिये किंवा नहीं अर्थात् अग्निहोत्र के लिये इष्टि समाप्ति की प्रतीक्षा करनी चाहिये कि जब इष्टि समाप्त हो तब किया जाय अथवा प्रतीक्षा आवश्यक नहीं, अग्निहोत्र अपने नियत समय पर होना चाहिये ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और

द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि सान्तापनी या इष्टि समाप्त करके पश्चात् अग्निहोत्र का अनुष्ठान विधान किया है, यदि उसके अनुष्ठान में उक्त इष्टि की समाप्ति का कथन न होता तो अवश्य इष्टि के उत्कर्ष से अग्निहोत्र का भी उत्कर्ष होता उक्त वाक्यों में "इष्टिसमाप्य" = इष्टि को समाप्त करके अग्निहोत्र करे, ऐसा कथन करने से स्पष्ट है कि जैसे इष्टि के अनुष्ठान में काल के अतिक्रम का कोई दोष नहीं वैसेही अग्निहोत्र के अनुष्ठान में भी काल के अतिक्रम दोष नहीं अर्थात् उक्त वाक्यों से अग्निहोत्र के अनुष्ठानार्थ इष्टि समाप्ति तथा सायंकाल यह दो निमित्त कथन किये हैं और उक्त दोनों के मध्य जिसके अतिक्रम से अग्निहोत्र का वैगुण्य = अङ्गहीन होना सम्भव नहीं, या यों कहो कि जिसके अतिक्रम से उक्त कर्म निष्फल नहीं होता उसी का अतिक्रम उचित है, काल के अतिक्रम से उक्त इष्टि का वैगुण्य नहीं पाया जाता, अतएव अग्निहोत्र में भी उसी का अतिक्रम उचित है समाप्ति का नहीं, क्योंकि उसके अतिक्रम से अग्निहोत्र का विगुण होना सम्भव है और जिसके अतिक्रम से अग्निहोत्र का विगुण होना सम्भव है उसका अतिक्रम ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त इष्टि के समाप्त होने पर ही अग्निहोत्र का अनुष्ठान कर्तव्य है नियत समय पर नहीं, या यों कहो कि जैसे उत्कर्ष को प्राप्त हुआ प्रातःसवन मध्यंन्दिनसवन का उत्कर्षक है वैसेही स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुई इष्टि भी अग्निहोत्र का भी उत्कर्षक है अनुत्कर्षक नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

अव्यवायाच्च । ३१ ।

पद०-अव्यवायात् । च ।

पदा०-(च) और (अव्यवायात्) दोनों कर्मों का व्यवधान

न होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-यदि इष्टि के उत्कर्ष से अग्निहोत्र का उत्कर्ष न माना जाय तो उक्त दोनों कर्मों का परस्पर व्यवधान होजाता है और व्यवधान के होजाने से श्रूयमाण पूर्वापरीभाव की निवृत्ति होजाती है सो ठीक नहीं अर्थात् इष्टि अग्निहोत्र का पूर्वोत्तरभावरूपक्रम सिद्ध है यदि इष्टि की समाप्ति से पूर्व ही अग्निहोत्र कर लिया जाय तो उक्त क्रम टूट जाता है और इष्टि के उत्कर्ष के साथ अग्निहोत्र का भी उत्कर्ष मानें तो उक्त क्रम नहीं टूटता और क्रम का न टूटना टूटने की अपेक्षा श्रेष्ठ है, इसलिये सिद्ध है कि इष्टि के उत्कर्ष से अग्निहोत्र का भी उत्कर्ष होता है अनुत्कर्ष नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

असम्बन्धात्तु नोत्कर्षेत्। ३२।

पद०-असम्बन्धात्। तु। न। उत्कर्षेत्।

पद०-"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (न, उत्कर्षेत्) स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुई उक्त इष्टि अग्निहोत्र का उत्कर्षक नहीं, क्योंकि (असम्बन्धात्) उसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

भाष्य-यदि उक्त इष्टि का अग्निहोत्र के साथ कोई सम्बन्ध होता तो अवश्य वह स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुई अग्निहोत्र का उत्कर्षक होती परन्तु परस्पर सम्बन्ध के न होने से वह उत्कर्षक नहीं होसक्ती अर्थात् एक उत्कर्ष से दूसरे का उत्कर्ष वहां ही होता है जहां दोनों एक प्रयोगान्तःपाती अथवा परस्पर अङ्ग अङ्गी हों, इष्टि तथा अग्निहोत्र दोनों स्वतन्त्र कर्म हैं और स्वतन्त्र कर्म होने से ही एक प्रयोगान्तर्गत तथा अङ्ग अङ्गी भी

नही हैं और जो परस्पर अङ्ग अङ्गी तथा एक प्रयोगान्तःपाती भी नहीं वह एक दूसरे का उत्कर्ष नहीं करसक्ते, इसलिये सिद्ध है कि किसी प्रतिबन्धकवश "सान्तापनीया" इष्टि का उत्कर्ष होने पर भी अग्निहोत्र का उत्कर्ष नहीं होता किन्तु वह अपने नियत समय पर उक्त इष्टि के मध्य ही अनुष्ठेय है।

सं०-अब इष्टि समाप्ति के अनन्तर सायंकाल में अग्निहोत्र के विधान का कारण कथन करते हैं :-

प्रापणाच्च निमित्तस्य । ३३ ।

पद०-प्रापणात् । च । निमित्तस्य ।

पदा०-(च) और (निमित्तस्य) निमित्त के (प्रापणात्) प्राप्त होने के कारण सायंकाल में अग्निहोत्र का विधान किया गया है।

भाष्य-अग्निहोत्र का निमित्त प्रातः सायं आदि काल हैं "सान्तापनीया" आदि की समाप्ति निमित्त नहीं, उक्त इष्टि की समाप्ति पर जो अग्निहोत्र का विधान किया है वह मध्याह्न में आरंभ कीगई इष्टि के सायंकाल पर्य्यन्त समाप्त होजाने पर उसकी कर्तव्यता के स्मरणार्थ है अर्थात् मध्याह्न में आरंभ कीगई इष्टि अवश्य सायं समय समाप्त होगी और सायं समय "प्रातर्जुहोति, सायंजुहोति"=प्रातः काल तथा सायंकाल हवन करे, इत्यादि वाक्यों से अग्निहोत्र प्राप्त है और जो प्राप्त है वह अवश्य अनुष्ठेय है, इस अभिप्राय से "तां समाप्य अग्निहोत्रं जुहोति" कथन किया है, इस अभिप्राय से नहीं कि उक्त इष्टि की समाप्ति उक्त अग्निहोत्र का निमित्त है यदि वह निमित्त होती तो अवश्य सायंकाल पर्य्यन्त उसके समाप्त न होने से या यों कहो कि उसका

उत्कर्ष होने से अग्निहोत्र का भी उत्कर्ष होता परन्तु उक्त इष्टि की समाप्ति अग्निहोत्र का निमित्त नहीं है किन्तु सायंकाल है वह जब प्राप्त हो तभी अग्निहोत्र कर्तव्य है इष्टि समाप्ति की प्रतीक्षा करनी ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त इष्टि स्वयं उत्कृष्यमाण हुई अग्निहोत्र का उत्कर्ष नहीं करती ।

सं०–अब पूर्वपक्ष सूत्रोक्त "सवनवत्" दृष्टान्त का समाधान करते हैं :–

सम्बन्धात्सवनोत्कर्षः । ३४ ।

पद०–सम्बन्धात् । सवनोत्कर्षः ।

पदा०–(सम्बन्धात्) परस्पर सम्बन्ध होने के कारण (सवनोत्कर्षः) प्रातःसवन के उत्कर्ष से मध्यन्दिन सवन का उत्कर्ष होता है ॥

भाष्य–प्रातःसवन तथा मध्यन्दिनसवन एक प्रयोगान्तःपाती हैं और एक प्रयोगान्तःपाती होने से उनका परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है और सम्बन्ध होने के कारण ही एक के उत्कर्ष से दूसरे का उत्कर्ष होता है परन्तु उक्त इष्टि तथा अग्निहोत्र दोनों एक प्रयोगान्तःपाती नहीं, इसलिये इष्टि के उत्कर्ष से अग्निहोत्र का उत्कर्ष नहीं होता ॥

सं०–अब "उक्थ्य" ग्रह के उत्कर्ष से "षोडशी" ग्रह का उत्कर्ष कथन करते हैं :–

षोडशी चोक्थ्यसंयोगात् । ३५ ।

पद०–षोडशी । च । उक्थ्यसंयोगात् ।

पदा०–(च) और (षोडशी) "उक्थ्य" ग्रह के उत्कर्ष से

"षोडशी" ग्रह का भी उत्कर्ष होता है क्योंकि (उक्थ्यसंयोगात्) उसका "उक्थ्य" ग्रह के साथ सम्बन्ध है ॥

भाष्य–ज्योतिष्टोम याग में प्रातः मध्यन्दिन तथा सायं यह तीन सवन हैं, सायं सवन में सूर्य्य के अस्त होने से पूर्व उक्थ्य षोडशी आदि तीन ग्रह ग्रहण किये जाते हैं उक्त तीनों ग्रहों के ग्रहण का प्रकरण चलाकर "तं पराञ्चमुक्थ्येभ्योगृह्णाति"= उक्थ्य आदि ग्रहों से पीछे षोडशी ग्रह का ग्रहण करे, इत्यादि वाक्यों द्वारा षोडशी ग्रह का उक्थ्य आदि से पीछे ग्रहण विधान किया है यदि किसी प्रतिबन्धक वश उक्थ्य आदि का सूर्य्यास्त से पूर्व ग्रहण न होसके किन्तु उत्कर्ष होजाय अर्थात् सूर्य्य अस्त होने से पीछे ग्रहण हो तो उनके उत्कर्ष से "षोडशी" का उत्कर्ष होना चाहिये किंवा नहीं, या यों कहो कि उक्थ्य ग्रहण के पीछे षोडशी का ग्रहण होना चाहिये अथवा सूर्य्य अस्त होने पर? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यदि उक्थ्य तथा षोडशी ग्रह का सान्तापनीया इष्टि तथा अग्निहोत्र की भांति परस्पर कोई सम्बन्ध न होता तो उक्थ्य के उत्कर्ष से षोडशी का उत्कर्ष न होता परन्तु एक सवनान्तःपाती होने से उक्थ्य ग्रह तथा षोडशी ग्रह का परस्पर सम्बन्ध है और परस्पर सम्बन्ध होने के कारण उक्थ्य के उत्कर्ष मे षोडशी का उत्कर्ष होना आवश्यक है अर्थात् यदि सूर्य्य अस्त होने से प्रथम उक्थ्यादि ग्रहों का ग्रहण न होसके तो उनके सम्बन्धी षोडशी ग्रह का ग्रहण सूर्य्य अस्त से पूर्व न होना चाहिये किन्तु उक्थ्य-ग्रह के ग्रहणानन्तर होना चाहिये, क्योंकि "तं पराञ्चमुक्थ्ये-

ऽथोगृह्णाति" वाक्य से उक्थ्यादि ग्रह ग्रहण के पीछे षोडशी ग्रह ग्रहण का विधान किया है और जिसका ग्रहण पीछे विधान किया है उसका काल के अतिक्रम होने पर भी पूर्व ग्रहण कदापि नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध है कि उक्थ्य के उत्कर्ष से षोडशी का भी उत्कर्ष होता है अनुत्कर्ष नहीं ॥

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
पञ्चमाध्याये
प्रथमःपादः

ओ३म्

अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयःपादः प्रारभ्यते

सं०-अत्र "वाजपेय" याग में देय सम्पूर्ण पशुओं के एक काल में "उपाकरण" आदि संस्कार कथन करने के लिये पूर्व-पक्ष करते हैं :-

सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्वकर्म स्यात् । १ ।

पद०-सन्निपाते । प्रधानानाम् । एकैकस्य । गुणानां । सर्व-कर्म । स्यात् ।

पदा०-(प्रधानानां) अनेक देय पशुओं के (सन्निपाते) एक याग में एकत्रित होने पर (एकैकस्य) एक २ पशु में (गुणानां) संस्कारों का (सर्वकर्म) समग्र रूप से अनुष्ठान (स्यात्) होना चाहिये ।

भाष्य-"**वाजपेये सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनाल-भते**"="वाजपेय" नामक याग में प्रजापति परमात्मा के उद्देश से १७ पशुओं का दान करे, इत्यादि वाक्यों से वाजपेय याग में दानार्थ विधान किये १७ पशुओं के जो उपाकरण, नियोजनादि अनेक संस्कार अग्नीषोमीय पशुयाग में "प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या" इस चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त हैं वह प्रत्येक पशु में समग्ररूप से अनुष्ठेय हैं किंवा यथाक्रम अर्थात् देय सम्पूर्ण पशुओं के मध्य एक पशु के "उपाकरण" आदि सम्पूर्ण संस्कार करके

पश्चात् द्वितीय तदनन्तर तृतीयादि पशुओं के संस्कार कर्तव्य हैं अथवा यथाक्रम प्रत्येक पशु में " उपाकरण " नामक संस्कार के पश्चात् उसी क्रम से एक २ नियोजनादि संस्कार कर्तव्य हैं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि " अग्निषोमीय " प्रकृति याग में उपाकरण आदि पशु संस्कारों का साहित्य पाया जाता है वह एक २ पशु में समग्र संस्कारों का अनुष्ठान न होने से सर्वथा बाधित होजाता है और " साङ्गप्रधानं कर्तव्यम् "=सम्पूर्ण अङ्गों सहित प्रधान करना चाहिये, यह वचन भी असङ्गत होजाता है अर्थात् वाजपेय याग में जो १७ पशु दानार्थ विधान किये हैं यदि उनके मध्य प्रत्येक पशु का यथाक्रम " उपाकरण " संस्कार करके पुनः पूर्ववत् यथाक्रम नियोजनादि संस्कार करें तो चोदक वाक्य से प्राप्त उक्त संस्कार साहित्य लुप्त होजाता है, क्योंकि चोदक वाक्य से तो एक पशु में उपाकरण आदि सम्पूर्ण संस्कार समाप्त करके पश्चात् द्वितीय आदि पशुओं में कर्तव्यता प्राप्त है, और जिस प्रकार प्रकृति याग से उक्त संस्कार प्राप्त हैं उक्त विकृति याग में उसी प्रकार से उनका अनुष्ठान होना उचित है अन्यथा नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उपाकरण आदि संस्कार प्रत्येक पशु में समग्ररूप से अनुष्ठेय हैं व्यग्ररूप से नहीं ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्वत्वात् । २ ।

पद०–सर्वेषां । वा । एकजातीयं । कृतानुपूर्वत्वात् ।

पदा०–" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है

(सर्वेषां) सम्पूर्ण पशुओं का (एकजातीयं) एक संस्कार करके दूसरा संस्कार करना चाहिये, क्योंकि (कृतानुपूर्वत्वात्) देय पशुओं के साहित्य से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—यद्यपि उक्त चोदक वाक्य से प्राप्त "उपाकरण" आदि संस्कारों का साहित्य प्राप्त है तथापि वह गुणनिष्ठ होने के कारण प्रधान देय पशुओं के साहित्य से निर्बल है और उक्त देय पशुओं का साहित्य "सप्तदश प्राजापत्यान् पशुनालभते" वाक्य से प्रत्यक्ष प्राप्त है क्योंकि इसमें "पशून्" इस एक शब्द से सम्पूर्ण पशुओं का उपादान किया है, यदि एक पशु में उक्त सम्पूर्ण संस्कार समाप्त करके पुनः दूसरे में फिर तीसरे में इसी प्रकार १७ पशुओं में संस्कारों का अनुष्ठान किया जाय तो पशुओं का साहित्य नहीं रहता और उसका रहना आवश्यक है और वह तभी रहसक्ता है जब सम्पूर्ण पशुओं में यथाक्रम एक संस्कार करके पश्चात् दूसरा तीसरा संस्कार किया जाय और ऐसा करने से चोदक वाक्य से प्राप्त संस्कारों के साहित्य का बाध भी नहीं होता प्रत्युत वह ज्यों का त्यों बना रहता है क्योंकि एक यागान्तर्गत देय पशुओं में ही उनका यथाक्रम अनुष्ठान कियागया है भिन्न यागान्तर्गत पशुओं में नहीं, और जिस प्रकार अनुष्ठान करने से संस्कारों के साहित्य का बाध नहीं होता और प्रधानभूत पशुओं के साहित्य का अनुसरण भी होजाता है उसी प्रकार उक्त संस्कारों के अनुष्ठान का होना उचित है विपरीत नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "वाजपेय" याग में देय पशुओं के मध्य एक२ में सम्पूर्ण संस्कार समाप्त करके पुनः दूसरे तीसरे आदि में नहीं होने चाहियें किन्तु सम्पूर्ण

पशुओं में यथाक्रम एक संस्कार होकर पुनः दूसरा तीसरा आदि संस्कार होना चाहिये ॥

तात्पर्य्य यह है कि वाजपेय याग में चोदक वाक्य से प्राप्त उपाकरण आदि पशु संस्कार सम्पूर्ण पशुओं में यथाक्रम एक २ अनुष्ठेय हैं एक २ पशु में समग्र रूप से अनुष्ठेय नहीं ।

मीमांसकों की परिभाषा में एक २ पशु में समग्ररूप से अनुष्ठान का नाम "काण्डानुसमय" और सम्पूर्ण पशुओं में यथाक्रम एक २ संस्कार के अनुष्ठान का नाम "पदार्थानुसमय" है।

सं०—अब क्वचित् उक्त सिद्धान्त का अपवाद कथन करते हैं :—

कारणादभ्यावृत्तिः । ३ ।

पद०—कारणात् । अभ्यावृत्तिः ।

पदा०—(कारणात्) और कहीं प्रबल प्रतिबन्धक रूप कारण के विद्यमान होने के कारण (अभ्यावृत्तिः) एक २ प्रधान धर्मी में समग्र रूप से संस्कार रूप धर्मों का अनुष्ठान होता है ॥

भाष्य—जिस याग में अनेक पुरोडाश अपेक्षित हैं वहां उनके अधिश्रयण = कपाल पर डालने आदि धर्मों का एक २ पुरोडाश रूप धर्मी में समग्र रूप से अनुष्ठान होना उचित है क्योंकि एक मनुष्य अनेक पुरोडाशों को एकही काल में नहीं पका सक्ता अर्थात यदि एक पुरोडाश को कपाल पर डालकर दूसरे तीसरे आदि को डालता जाय तो प्रथम के उलटाने में विलम्ब होजाने के कारण वह भस्मीभूत होजायगा और उसके भस्मीभूत होजाने से यथा समय यागानुष्ठान न होसकेगा सो ठीक नहीं, इसलिये ऐसे स्थलों में एक २ धर्मी में समग्र रूप से ही धर्मों का अनुष्ठान होना उचित है पूर्व सिद्धान्त के अनुसार एक २ धर्म का नहीं ।

सं०-अब "मुष्टिनिर्वाप" आदि धर्मों का एक २ धर्मी में समग्ररूप से अनुष्ठान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपन पावनेषुवैकेन । ४ ।

पद०-मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु । वा । एकेन ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (मुष्टिकपाला०) मुष्टि, कपाल, अवदान, अञ्जन, अभ्यञ्जन, वपन तथा पावन इन सब में (एकेन) एक २ का निर्वाप आदि रूप अनुष्ठान होना चाहिये ।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" यागान्तर्गत "आग्नेय" तथा "अग्निषोमीय" दोनों यागों में **"चतुरोमुष्टीर्निर्वपति"**= पुरोडाश के लिये चार मुट्ठी पिसान का निर्वाप करे, इस वाक्य से पुरोडाश निष्पत्ति के लिये चार मुष्टि पिसान का कपाल में निर्वाप=डालना विधान किया है, इसमें यह सन्देह है कि आग्नेय पुरोडाश के लिये एक मुष्टि पिसान का निर्वाप करके पश्चात् अग्नीषोमीय पुरोडाश के लिये एक मुष्टि का निर्वाप करे, एवं चार मुष्टि यावत् पर्य्यन्त पूर्ण न हों तावत्पर्य्यन्त यथाक्रम निर्वाप करे किंवा आग्नेय पुरोडाश के लिये एकदम चार मुष्टि का निर्वाप करके पश्चात् अग्नीषोमीय पुरोडाश के लिये निर्वाप करे ? तथा-आग्नेय याग में आठ कपालों और अग्नीषोमीय में एकादश कपालों का उपधान=चुल्हे पर रखना विधान किया है, इसमें सन्देह भी पूर्ववत् है कि आग्नेय पुरोडाशार्थ एक कपाल का उपधान करके पश्चात् अग्नीषोमीय पुरोडाशार्थ एक कपाल का

न हो तावत्पर्य्यन्त यथाक्रम उपधान करता जाय।किंवा आग्नेय पुरोडाशार्थ एकदम आठ कपालों का उपधान करके पश्चात् अग्नीषोमीय पुरोडाशार्थ एकादश कपालों का उपधान करे ? तथा-" चतुरवत्तं जुहोति "=चार बार दो २ अङ्गुल काटे-गये पुरोडाश का हवन करे, इत्यादि वाक्यों से उक्त दोनों यागों में हवन के लिये पुरोडाशों का चार बार अवदान=काटना विधान किया है इसमें भी पूर्ववत् सन्देह है कि आग्नेय पुरोडाश का एक अवदान करके पश्चात् अग्नीषोमीय पुरोडाश का एक अवदान करे और इसी प्रकार चार तक करता जाय किंवा आग्नेय पुरोडाश के चार अवदान करके पश्चात् अग्नीषोमीय पुरोडाश के चार अवदान करे ?

तथा-यजमान के संस्कारों में " त्रिरङ्क्ते "=तीन बार अञ्जन करे,इत्यादि वाक्यों से दीक्षा को प्राप्त यजमान का तीन बार अञ्जन करना विधान किया है इसमें सन्देह यह है कि जहां " सत्र " नामक यागविशेष में यजमान अनेक हैं वहां एक यज-मान को एक सलाई देकर पश्चात् दूसरे तीसरे आदि को एक २ दे और इसी प्रकार तीन संख्या पूर्ण करे किंवा एक को तीन बार देकर पुनः दूसरे तीसरे आदि को तीन २ बार दे ?

तथा-" त्रिरभ्यङ्क्ते "=तीन बार उबटन करे, इत्यादि वाक्यों से तीन बार अभ्यञ्जन=उबटन विधान किया है, इसमें भी सन्देह अञ्जन के समान है ।

तथा-" त्रिस्त्रिर्वपति "=प्रत्येक दीक्षित=दीक्षा को प्राप्त यजमान के सिर का तीन २ बार वपन=मुण्डन करे अर्थात् मुण्डन काल में तीन बार उस्तरा सिर पर फेरे ताकि [illegible] भले

प्रकार साफ होजाय, इत्यादि वाक्यों से प्रत्येक यजमान के सिर का तीन बार वपन विधान किया है "सत्र" नामक यागविशेष में अनेक यजमान होने के कारण यह सन्देह हुआ कि एक २ यजमान का यथाक्रम एक २ बार वपन करके तीन पूरे करे किंवा एक यजमान का तीन बार वपन कर पुनः दूसरे तीसरे आदि का तीन २ वार वपन करे?

तथा–"चित्पतिस्त्वापुनातु" इति सप्तभिर्मुखं"="चित्पतिस्त्वापुनातु" इस मन्त्र का सात बार उच्चारण करके मुख को "वाक्पतिस्त्वा पुनातु" इति मुखाधोनाभिपर्य्यन्तं"="वाक्पतिस्त्वा पुनातु" इस मन्त्र का सात बार उच्चारण करके मुख से नीचे नाभि पर्य्यन्त शरीर को "देवस्त्वा सविता पुनातु" इति नाभिमारभ्यपादपर्य्यन्तं सप्तभिः"="देवस्त्वा सविता पुनातु" इस मन्त्र का सात बार उच्चारण करके नाभि से लेकर पादपर्य्यन्त शरीर को स्पर्श द्वारा पावन करे अर्थात् उक्त मन्त्रों से उक्त शरीराङ्गों का स्पर्श करे, इत्यादि वाक्यों से यजमान के शरीर का सिर से लेकर पाद पर्य्यन्त सात २ बार पावन करना विधान किया है, इसमें सन्देह यह है कि उक्त मन्त्रों का एक २ बार उच्चारण करके सिर आदि अङ्गों का स्पर्श करता हुआ सप्त संख्या पूर्ण करे किंवा प्रत्येक मन्त्र का एकदम सात २ बार उच्चारण करता हुआ उक्त अङ्गों को छुए? इन सब उपरोक्त सन्देहों में प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि प्रति पुरोडाश एक २ मुष्टि पिमान का निर्वाप, एक २ कपाल का

उपधान तथा एक २ बार अवदान, अञ्जन, अभ्यञ्जन, वपन और मन्त्रोच्चारण द्वारा शरीराङ्गों को पावन करने से विहित संख्या पूर्ण होजाती है और संख्या के पूर्ण करने में ही वाक्य का तात्पर्य्य है एकदम करने में नहीं, और एक २ बार अनुष्ठान करके संख्या पूर्ण करने से "पदार्थानुसमय" का पूर्ण रीति से अनुसरण भी होजाता है और उसका अनुसरण प्रति पदार्थ होने के कारण "काण्डानुसमय" की अपेक्षा श्रेष्ठ है और जो श्रेष्ठ है उसका परित्याग उचित नहीं, इसलिये सिद्ध है कि प्रतिपुरोडाशादि एक २ मुष्टि पिसान तथा कपाल आदि का निर्वाप तथा उपधान आदि करके विहित संख्या पूरी करनी चाहिये एकदम नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि एकही वार चार मुष्टि का निर्वाप आठ वा एकादश कपालों का उपधान आदि न करे किन्तु यथाक्रम एक २ का निर्वाप तथा उपधान आदि करे।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

सर्वाणित्वेककार्य्यत्वादेषां तद्गुणत्वात्।५।

पद०-सर्वाणि। तु। एककार्य्यत्वात्। एषां। तद्गुणत्वात्।

पदा०-"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (सर्वाणि) चारो मुष्टि आठ वा एकादश कपाल, चारो अवदान, तीनों अञ्जन, अभ्यञ्जन तथा वपन और सातो पावन, यह सब (एककार्य्यत्वात्) पुरोडाशादि रूप एक कार्य्य की सिद्धि के लिये होने से एक ही पदार्थ है और (तेषां) मिले हुए ही उक्त पदार्थों को (तद्गुणत्वात्) प्रधान कर्म के प्रति अङ्गता है, इसलिये एक वार ही सब के प्रति पुरोडाश आदि अनुष्ठान होना चाहिये।

भाष्य–उक्त उदाहृत वाक्यों द्वारा जो चार मुष्टि तथा आठ वा एकादश कपाल आदि विधान कियेगये हैं उनके मध्य एकमुष्टि किंवा एक कपाल आदि पदार्थ नहीं किन्तु पदार्थ का एकदेश है और पदार्थ चारमुष्टि, आठ वा एकादश कपाल, चार अवदान तथा तीन अञ्जनादि हैं क्योंकि उसी को पुरोडाश आदि कार्य्यसिद्धि के लिये होने से प्रधान कर्म की अङ्गता है और जब मिले हुए चार मुष्टि आदि को ही एक पदार्थता है तो सब का एकदम अनुष्ठान होने से, "पदार्थानुसमय" का अननुसरण भी नहीं होता क्योंकि चार मुष्टि का निर्वाप ही एक पदार्थ है और यदि प्रति पुरोडाश एक २ मुष्टि का निर्वाप किया जाय तो पदार्थ का अनुष्ठान नहीं होसक्ता किन्तु पदार्थैक देश का, सो ठीक नहीं, इसलिये "पदार्थानुसमय" के अनुसार एकवार ही चार मुष्टि का निर्वाप आठ वा एकादश कपालों का उपधान आदि सब कार्य्य अनुष्ठेय हैं एक २ रूप से नहीं अर्थात् प्रति पुरोडाश एक ही बार चार मुष्टि पिसान का निर्वाप तथा आठ वा एकादश कपाल आदि का उपधान आदि करे, एक २ करके संख्या पूर्ण न करे ॥

सं०–अब होम पर्य्यन्त अवदान को एक पदार्थ कथन करते हुए आग्नेय पुरोडाश के अनन्तर अग्नीषोमीय पुरोडाश का अवदान तथा होम निरूपण करते हैं:—

संयुक्ते तु प्रक्रमात्तदन्तं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ॥ ६ ॥

पद०–संयुक्ते । तु । प्रक्रमात् । तदन्तं । स्यात् । इतरस्य । तदर्थत्वात् ॥

पदा०–"तु" शब्द होम पर्य्यन्त अवदान को एक पदार्थ सूचन

करने के लिये आया है (संयुक्ते) अवदान संयुक्तहोम प्रकरण में (प्रक्रमात्) जो केवल अवदान से उपक्रम किया गया है (तदन्तं) वह होमपर्य्यन्त का समझना चाहिये, क्योंकि (इतरस्य) अवदान से भिन्न मध्य में विधान किये "उपस्तरण" आदि सम्पूर्ण (तदर्थत्वात्) होमार्थ होने से अवदान के ही अङ्ग हैं॥

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" के प्रकरण में "चतुरवत्तं जुहोति"= चार अवदान का हवन करे, इस वाक्य से चार अवदानों का हवन विधान करके मध्य में "उपस्तृणाति"=हवन के लिये अवदान किये पुरोडाश का उपस्तरण = घृत का बिछौना करे अर्थात् उसको जिस पात्र में रखे उस पात्र को घृत से चोपड़ले "सकृदभिधारयति"= एक बार ऊपर से घृत का अभिधारण करे अर्थात् ऊपर से धार बांधकर घृत डाले, इत्यादि वाक्यों से उपस्तरण तथा अभिधारण आदि पुरोडाश के संस्कार विधान किये हैं और पुरोडाश का होम दर्शपूर्णमास यागान्तर्गत आग्नेय तथा अग्नीषोमीय दो यागों में होता है, इससें यह सन्देह हुआ कि "आग्नेय" याग के लिये अवदान करके पश्चात् "अग्नीषोमीय" के लिये अवदान करना किंवा अवदान, उपस्तरण तथा अभिघारण आदि पूर्वक आग्नेय याग में हवन करके पश्चात् अग्नीषोमीय के लिये होमान्त अवदान करना अर्थात् प्रथम आग्नेय याग के लिये अवदान पश्चात् अग्नीषोमीय के लिये अवदान एवं उपस्तरण, अभिधारण आदि होम पर्य्यन्त यथाक्रम अनुष्ठेय है किंवा अवदान से लेकर होम पर्य्यन्त प्रथम आग्नेय याग तदनन्तर इसी प्रकार अग्नीषोमीय याग अनुष्ठेय है? इस सन्देह की निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि अवदान से होम पर्य्यन्त एकही पदार्थ है मध्य में जो उपस्तरण

आदि संस्कार विधान किये हैं वह अवदान का अवयव होने से उससे भिन्न नहीं और भिन्न न होने से वह पदार्थ भेद के प्रयोजक नहीं, और पदार्थ भेद न होने से आग्नेय याग के लिये अवदान करके पुनः " अग्नीषोमीय " याग के लिये अवदान की कल्पना करना ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थ भेद विना उक्त कल्पना के होना असंभव है और अवदानादि होम पर्य्यन्त एक पदार्थ अनुभव सिद्ध है अर्थात् होम के उद्देश से ही अवदान किया जाता है इससे होम क्रिया की निष्पत्ति में नितान्त अपेक्षित होने के कारण वह उक्त क्रिया का अङ्ग सिद्ध है और अङ्ग के विना अङ्गी की स्थिति असम्भव होने से दोनों को एकही पदार्थ मानना ठीक है भिन्न २ नहीं, इसलिये सिद्ध है कि आग्नेय याग के लिये अवदान करके पुनः अग्नीषोमीय के लिये अवदान करना ठीक नहीं किन्तु अवदानादि होम पर्य्यन्त आग्नेय याग को समाप्त करके पश्चात् अग्नीषोमीय याग को अवदानादि पूर्वक समाप्त करना उचित है ॥

सं०–अब अञ्जनादि परिव्याण पर्य्यन्त सम्पूर्ण संस्कारों का समग्ररूप से अनुष्ठान कथन करते हैं :–

वचनात्तु परिव्याणान्तमञ्जनादि स्यात् । ७ ।

पद०–वचनात् । तु । परिव्याणान्तम् । अञ्जनादि । स्यात् ।

पदा०–" तु " शब्द व्यस्तरूप से अनुष्ठान की व्यावृत्ति के लिये आया है (अञ्जनादि) " अञ्जन " आदि (परिव्याणान्तं) " परिव्याण " पर्य्यन्त सम्पूर्ण संस्कारों का (स्यात्) समग्ररूप से अनुष्ठान होना चाहिये, क्योंकि (वचनात्) वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है ॥

भाष्य–" ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में " यूपमनक्ति "=

यूप का अञ्जन = घृत से चोपड़ना करे, इत्यादि वाक्यों से यूप का अञ्जन = घृत से चोपड़ना "उच्छ्रयण" = खड़ा करना "अवटसमूहन" = जिस गढ़े में यूप का मूलभाग रखागया है उसको मिट्टी से भरना "मूलपरिबृंहण" = मिट्टी डालकर मूलभाग को कूटना, "परिव्याणं" = अति सुन्दर तिलड़ रस्सी से यूप को लपेटना, इस प्रकार यजमानकर्तृक अनेक धर्म विधान किये हैं, जिस याग में देय पशुओं के बांधने के लिये अनेक यूप हैं उसमें यह सन्देह है कि यजमान एक यूप का अञ्जन करके पुनः दूसरे तीसरे आदि का अञ्जन करे और इसी प्रकार "उच्छ्रयण" आदि एक २ धर्म का प्रति यूप अनुष्ठान करना जाय किंवा अञ्जन से परिव्याण पर्यन्त सम्पूर्ण धर्मों का अनुष्ठान करके पुनः दूसरे तीसरे आदि में अनुष्ठान करे और इसी प्रकार सम्पूर्ण धर्मों का समग्ररूप से प्रति यूप अनुष्ठान करना जाय अर्थात् जिस याग में अनेक यूप हैं वहां यजमान प्रति यूप समग्ररूप से उक्त धर्मों का अनुष्ठान करे अथवा यथाक्रम प्रति यूप एक २ धर्म का अनुष्ठान करके परिव्याणान्त सम्पूर्ण संस्कार पूर्ण करे? यह सन्देह है, धर्म तथा संस्कार यह दोनों पर्याय शब्द हैं, इसमें प्रथम पक्ष सिद्धान्ती तथा द्वितीय पक्ष पूर्वपक्षी का है, सिद्धान्ती का कथन यह है कि "अञ्जनादि परिव्याणान्तं यजमानो यूपं नावसृजेत्" = "अञ्जन" से आदि लेकर "परिव्याण" पर्यन्त यजमान यूप को न छोड़े, इस वाक्यविशेष से परिव्याण पर्यन्त अञ्जनादि संस्कारों का अनुष्ठान हुए विना यजमान को यूप छोड़कर जाने का निषेध किया है यदि अञ्जनादि उक्त संस्कारों के मध्य एक २

संस्कार का प्रति यूप यथाक्रम अनुष्ठान करके पुनः उसी क्रम से द्वितीय आदि संस्कारों का अनुष्ठान किया जाय तो उक्त वाक्य-विशेष का बाध होजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि प्रत्येक यूप में अञ्जनादि परिव्याणान्त सम्पूर्ण संस्कारों का समग्र रूप से अनुष्ठान होता है एक २ का नहीं ॥

सं०–अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :–

कारणाद्वाऽनवसर्गःस्याद्यथा पात्रवृद्धिः। ८।

पद०–कारणात्। वा। अनवसर्गः। स्यात्। यथा। पात्रवृद्धिः।

पदा०–"वा" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (यथा) जैसे (पात्रवृद्धिः) "अनुयाज" नामक होमों के लिये "पृषदाज्य" धारणार्थ पात्रान्तर की कल्पना होती है वैसे ही प्रकृत में भी (कारणात्) अध्वर्यु रूप सहकारी के न मिलने के कारण (अन-वसर्गः) "न, अवसृजेत्" की कल्पना (स्यात्) होनी चाहिये ॥

भाष्य–उदाहृत वाक्यविशेष में जो "नावसृजेत्"="परि-व्याण" पर्य्यन्त यजमान यूप को न छोड़े, कथन किया है वह "अध्वर्यु" नामक ऋत्विक् रूप सहायक के प्राप्त न होने के कारण कथन किया है प्रति यूप परिव्याणान्त सम्पूर्ण संस्कारों के समग्र रूप से अनुष्ठान के कारण नहीं अर्थात् जैसे "पृषदाज्येनानु-याजान् यजति"=पृषदाज्य=दधि मिश्रित घृत से "अनुयाज" नामक होम करे, इस वाक्य में "अनुयाज" नामक होमों के लिये विधान किये "पृषदाज्य" के धारणार्थ पात्रान्तर की कल्पना की-जाती है क्योंकि वह दधि मिश्रित होने के कारण प्रथम पात्र में जिससे "प्रयाज" नामक होमों का अनुष्ठान होरहा है नहीं रहसक्ता

वैसेही प्रकृत में भी जो यजमान का अनवसर्ग=परिव्याण पर्य्यन्त यूप छोड़कर न जाना कथन किया है वह अध्वर्यु के उपस्थित न होने के कारण है ऐसी कल्पना होसक्ती है, क्योंकि एकाकी यजमान इतने काल पर्य्यन्त नहीं बैठसक्ता और बैठने से उसके रुग्ण होजाने का संभव है और अध्वर्यु के उपस्थित होने पर यजमान के अनवसर्ग की आवश्यकता नहीं, इस प्रकार जबकि यजमान परिव्याण से प्रथम ही यूप को छोड़सक्ता है तो उक्त उदाहृत वाक्यविशेष का बाध होजाने के भय से जो प्रत्येक यूप में अञ्जनादि परिव्याणान्त सम्पूर्ण संस्कारों के समग्ररूप से अनुष्ठान की कल्पना की है वह सर्वथा असङ्गत है, इसलिये सिद्ध है कि अञ्जनादि संस्कारों के मध्य यथाक्रम एक २ संस्कार का ही प्रति यूप अनुष्ठान होना चाहिये समग्ररूप से नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात्पात्रविवृद्धिः ।९।

पद०-न। वा। शब्दकृतत्वात्। न्यायमात्रम्। इतरत्। अर्थात्। पात्रविवृद्धिः।

पदा०-"न, वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आये हैं (शब्दकृतत्वात्) वाक्यविशेष द्वारा प्राप्त होने के कारण उक्त संस्कारों का प्रत्येक यूप में समग्ररूप से ही अनुष्ठान होना ठीक है, क्योंकि (इतरत्) एक २ का अनुष्ठान (न्यायमात्रं) कल्पना मात्र है और (पात्रविवृद्धिः) जो पात्रान्तर की कल्पना है वह (अर्थात्) अर्थबल से प्राप्त है।

भाष्य—"अध्वर्यु" नामक ऋत्विक् के उपस्थित न होने के कारण यजमान का "परिव्याण" = संस्कार पर्य्यन्त यूप को छोड़कर न जाना कल्पना किया गया है वह निर्मूल होने से कल्पना मात्र है अर्थात् "अनुयाज" नामक होमों के लिये जो पृषदाज्य धारणार्थ पात्रान्तर की कल्पना होती है वह अर्थमूलक होने से सप्रमाणक है क्योंकि यदि पात्रान्तर की कल्पना न कीजाय तो प्रथम मात्र में पृषदाज्य के न रहसकने से अनुयाज होम नहीं होसक्ते और उनका होना आवश्यक है, अतएव उसकी कल्पना निष्प्रमाणक नहीं होसक्ती प्रत्युत सप्रमाणक है परन्तु अध्वर्यु की अनुपस्थिति के कारण यजमान का अनवसर्ग कल्पना करना सर्वथा निष्प्रमाणक है, क्योंकि यूप के यावत्संस्कार हैं वह सम्पूर्ण यजमानकर्तृक हैं अध्वर्युकर्तृक नहीं, यदि अध्वर्युकर्तृक होते तो अध्वर्यु की अनुपस्थिति के कारण यजमान के परिव्याणान्त अनवसर्ग=यूप को छोड़कर न जाने की कल्पना प्रमाणिक मानी जाती परन्तु वह केवल यजमानकर्तृक है, अतएव उक्त कल्पना प्रामाणिक नहीं होसक्ती और उसके प्रामाणिक न होने से उक्त संस्कारों के मध्य एक २ संस्कार का यथाक्रम प्रति यूप अनुष्ठान भी ठीक नहीं, इसलिये एक यूप के अंजनादि परिव्याण पर्य्यन्त सम्पूर्ण संस्कार होजाने पर दूसरे यूप के उक्त संस्कार होने चाहियें, एवं तीसरे चौथे आदि के भी, यही निश्चित सिद्धान्त है।

सं०—अब जिस याग में अनेक पशु दान किये जाते हैं उस याग में प्रत्येक पशु के उद्देश से होतव्य पुरोडाशों के विधान किये तीन २ अवदानों का एक २ करके अनुष्ठान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

पशुगणे तस्य तस्यापवर्जयेत्पश्वेक-

त्वात् । १० ।

पद०—पशुगणे । तस्य । तस्य । अपवर्जयेव । पश्वेकत्वात् ।

पदा०—(पशुगणे) प्रत्येक देय पशु के उद्देश से होतव्य पुरोडाशों के मध्य एक २ पुरोडाश में (तस्य २) यावत् अव-दानों का (अपवर्जयेत्) अनुष्ठान होना चाहिये, क्योंकि (पश्वेकत्वात्) प्रकृति के सदृश प्रत्येक पशु में "पशुत्व" धर्म एक है ।

भाष्य—"अग्नीषोमीय" याग के प्रकरण में "दैवतान्य-वदाय न तावत्येत्र होतव्यं, सौविष्टकृतान्यवद्याति, सौविष्टकृतान्यवधाय न तावन्येव होतव्यम्, ऐडा-न्यवद्याति "=जगत्पिता परमात्मा रूप देवता के उद्देश से हवन करने के लिये अवदान करके उतने का ही हवन न करने लग-जाना चाहिये किन्तु उक्त अवदानों के अनन्तर स्विष्टकृत् होमों के लिये अवदान करना चाहिये और उसके अनन्तर इड़ा भक्षण के लिये अवदान करके होम होना चाहिये, इत्यादि वाक्यों द्वारा दैवत, सौविष्टकृत् तथा ऐड यह तीन अवदान विधान करके पश्चात् परमात्मा देवता के उद्देश से होम विधान किया है उक्त प्रकृति याग में एक ही पशु का दान होने के कारण उदुद्देश से होतव्य पुरोडाश के उक्त तीनों अवदान होकर होम होसक्ता है परन्तु जहां "वाजपेय" आदि यागों में अनेक पशु दान दिये जाते हैं और उनके उद्देश से होतव्य पुरोडाश भी अनेक हैं वहां प्रत्येक पुरोडाश के उक्त तीन २ अवदान करके हवन करने में

अत्यन्त विलम्ब की संभावना से यह सन्देह हुआ कि उक्त प्रकृति याग की भांति "वाजपेय" आदि विकृति यागों में भी प्रत्येक पुरोडाश से तीन २ अवदान करके होम कर्तव्य है किंवा सब पुरोडाशों में से यथाक्रम प्रथम दैवत अवदान पश्चात् सौविष्टकृत अवदान तदनन्तर ऐड अवदान करके होम कर्तव्य है ? इसमें प्रथम-पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जिस प्रकार प्रकृति याग में अवदान होकर होम होता है उसी प्रकार विकृति यागों में भी होना उचित है, क्योंकि "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस चोदक वाक्य से प्राकृत धर्मों की ही विकृति याग में प्राप्ति होती है और प्रकृति याग में उक्त तीनों अवदानों के अनन्तर होमवचन प्राप्त होने से सर्वसम्मत है, इसलिये सिद्ध है कि प्रकृति याग की भांति "वाजपेय" आदि विकृति यागों में प्रति पुरोडाश एकदम तीन २ अवदान होकर होम होना उचित है यथाक्रम एक २ अवदानपूर्वक तीन अवदान पूर्ण होने पर नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

दैवतैर्वैककर्म्यात् । ११ ।

पद०—दैवतैः । वा । ऐककर्म्यात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (दैवतैः) प्रत्येक पुरोडाश से प्रथम यथाक्रम दैवत तदनन्तर सौवि-ष्टकृत पश्चात् ऐड अवदान होकर होम होना चाहिये, क्योंकि (ऐककर्म्यात्) उक्त तीनों अवदान पृथक् २ एक कर्म हैं।

भाष्य—प्रकृति याग में देय पशु के एक होने से उक्त

अवदान एकदम किये जाते हैं परन्तु विकृति यागों में देय पशु अनेक हैं उनके उद्देश से होतव्य पुरोडाश भी अनेक हैं उनमें उक्त तीनों अवदान एकदम करना ठीक नहीं क्योंकि उक्त तीनों उद्देश का भेद होने से पृथक् २ कर्म हैं अर्थात् देवता के उद्देश से जो अवदान किया जाता है उसको "दैवत" स्विष्टकृत् के उद्देश से जो अवदान कियाजाता है उसको "सौविष्टकृत" तथा भक्षण के उद्देश जो अवदान किया जाता है उसको "ऐड" कहते हैं, इस प्रकार तीनों का भेद होने के कारण बिना किसी प्रबल प्रमाण के समुच्चय होना अनुचित है, और जो "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस चोदक वाक्य द्वारा विकृति यागों में प्राप्त प्राकृत धर्मानुसार अनुष्ठान की आवश्यकता कथन कीगई है वह एकदम अवदान में अनुसरणीय नहीं, क्योंकि भिन्न उद्देश वाले अवदानों का साहित्य सर्वथा अयुक्त होने के कारण पूर्ण रीति से उसका बाधक है और प्रकृति याग में "दैवतान्यवदाय" इत्यादि वाक्यविशेष उदाहृत किये गये हैं उनका यह आशय नहीं कि प्रत्येक पुरोडाश में से उक्त तीनों अवदान एकदम करके होम करना चाहिये किन्तु प्रत्येक पुरोडाश में से प्रथम दैवत पश्चात् सौविष्टकृत तदनन्तर ऐड अवदान करके होम करना चाहिये यह आशय है, और वह यथाक्रम एक २ पुरोडाश से प्रथम दैवत पश्चात् सौविष्टकृत, तदनन्तर ऐड अवदान करने से भी चरितार्थ होसक्ता है और इससे प्रकृति याग तथा विकृति याग दोनों की अनुगुणता = समानता भी सिद्ध होजाती है और जब यथाक्रम एक २ अवदान करने से प्रकृति तथा विकृति दोनों की समानता सिद्ध होजाती है तब एक २ पुरोडाश में से विरुद्ध तीन २ अवदानों की कल्पना करना ठीक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकृतियाग में जो उक्त तीनों अवदानों का एकदम अनुष्ठान किया जाता है वह देय पशु के एक होने के कारण है, उक्त वाक्यविशेष के कारण नहीं, यदि वह उक्त वाक्य-विशेष के कारण होता तो अवश्य विकृति याग में भी उसकी अनु-सरणता कीजाती परन्तु विकृति यागों में देय पशु अनेक हैं उनमें प्रकृति की भांति एकदम उक्त तीनों अवदान नहीं होसक्ते और एक २ अवदान के यथाक्रम अनुष्ठान में जो विलम्ब की सम्भा-वना संशय का बीज कथन की है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि सजा-तीय अवदानों के यथाक्रम होने से उलटा अविलम्ब होना सम्भव है और यदि प्रति पुरोडाश उक्त तीनों अवदानों का सह-अनुष्ठान मानाजाय तो तीनों के विजातीय होने से अधिकतर व्यवधान की सम्भावना है सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त विकृति यागों में प्रति पुरोडाश यथाक्रम दैवतादि तीनों अव-दान करके होम कर्तव्य है एकदम नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् । १२ ।

पद०-मन्त्रस्य । च । अर्थवत्त्वात् ।

पदा०-(च) और (मन्त्रस्य) अवदान काल में पठनीय मन्त्र के (अर्थवत्त्वात्) उच्चारण में लाघव रूप अर्थ की प्राप्ति होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥

भाष्य-उक्त तीनों अवदानों के अनुष्ठान काल में "त्वं ह्यग्ने प्रथमोमनोता" इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, यदि दैवत अवदान सम्पूर्ण पुरोडाशों मे करके पश्चात् सौवि-

ष्टकृत आदि दोनों अवदान यथाक्रम किये जांय तो उक्त मन्त्र का उच्चारण केवल तीन ही वार करना पड़ता है और यदि प्रत्येक पुरोडाश से तीन २ अवदान एक वार किये जायं तो जितने पुरोडाश हैं उतनी वार मन्त्र का उच्चारण करना पड़ता है, इसमें पूर्व की अपेक्षा गौरव और इसकी अपेक्षा पूर्व में लाघव है, क्योंकि उसमें चाहे कितने ही पुरोडाश हों उक्त मन्त्र का उच्चारण तीन वार से अधिक नहीं करना पड़ता और जिस पक्ष में लाघव है गौरव युक्त पक्ष की अपेक्षा उसी का आश्रयण श्रेष्ठ तथा युक्त है, इसलिये सिद्ध है कि वाजपेय आदि विकृति यागों में प्रत्येक पुरोडाश से उक्त तीनों अवदानों का समग्र रूप से अनुष्ठान ठीक नहीं किन्तु प्रथम दैवत तत्पश्चात् सौविष्टकृत आदि इस प्रकार यथाक्रम एक २ पुरोडाश से उक्त तीनों अवदानों का अनुष्ठान ठीक है।

सं०—अब व्रीहि आदि अनेक अन्नसाध्य इष्टियों में पुरोडाश के हेतु तण्डुल आदि की निष्पत्ति के लिये एक ही ऊखल का उपयोग कथन करते हैं:—

नानाबीजेष्वेकमुलूखलं विभवात् ।१३।

पद०—नानाबीजेषु। एकम्। उलूखलं। विभवात्।

(नानाबीजेषु) व्रीहि आदि अनेक अन्नसाध्य इष्टियों में (एकम्, उलूखलं) तण्डुल आदि की निष्पत्ति के लिये एक ही ऊखल होना चाहिये, क्योंकि (विभवात्) वह सब अन्नों के लिये पर्य्याप्त है।

भाष्य—"राजसूय" याग के प्रकरण में "अग्नये गृहपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति कृष्णानां व्रीहीणां,

सोमाय वनस्पतये श्यामाकं चरुम् "=बाल बच्चों सहित सम्पूर्ण प्रजा के रक्षक प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से काले धानों का आठ कपालों में पकाया हुआ पुरोडाश दान दे और सम्पूर्ण वनस्पतियों को प्रफुल्लित करने वाले आनन्दस्वरूप परमात्मा के उद्देश से सांवे का चरु दान करे, इत्यादि वाक्यों से कृष्णव्रीहि=काले धान तथा श्यामाक=सांवां आदि अनेक अन्न साध्य "आग्नेयी" आदि इष्टियें विधान की हैं, इनमें जो पुरोडाशादि हवनीय द्रव्यों की सिद्धि के लिये उक्त अन्न कूटकर तण्डुल निकाले जाते हैं उसके साधन "ऊखल" आदि अन्यत्र विधान किये हैं उनका "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस चोदक वाक्य द्वारा उक्त इष्टियों में अतिदेश होता है, अतिदेश से प्राप्त ऊखल में यह सन्देह है कि वह नाना जाति के अन्नों में से तण्डुल=चावल निकालने के लिये एक ही पर्य्याप्त है किंवा जितनी जाति के अन्न हैं उतने ही ऊखल भी होने चाहियें अर्थात् जिस ऊखल में "कृष्ण व्रीहि" को कूट कर तण्डुल निकाले गये हैं वही एक "श्यामाक" आदि अन्नों को कूट कर तण्डुल निकालने के लिये पर्य्याप्त है अथवा उनके लिये दूसरा तीसरा आदि ऊखल होने चाहिये? इसमें प्रथमपक्ष सिद्धान्ती तथा द्वितीयपक्ष पूर्वपक्षी का है, सिद्धान्ती का कथन यह है कि पुरोडाश आदि की सिद्धि के लिये तण्डुल आवश्यक हैं और वह एक ही ऊखल में यथाक्रम व्रीहि आदि अन्न को कूट कर निकाले जासक्ते हैं उनके लिये अनेक ऊखलों का सम्पादन करना व्यर्थ तथा प्रयास मात्र है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त इष्टियों में कृष्णव्रीहि आदि अनेक अन्नों को कूटकर तण्डुल निकालने के लिये एकही ऊखल पर्य्याप्त

है अनेक आवश्यक नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :-

विवृद्धिर्वा नियमादानुपूर्व्यस्य तदर्थत्वात् । १४ ।

पद०—विवृद्धिः । वा । नियमात् । आनुपूर्व्यस्य । तदर्थत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (विवृद्धिः) ऊखलों की वृद्धि होनी चाहिये, क्योंकि (आनुपूर्व्यस्य) पाठक्रम के (नियमात्) नियत होने से (तदर्थत्वात्) उक्त अर्थ की सिद्धि पाई जाती है ।

भाष्य—प्रथम ऊखल में व्रीहि का प्रक्षेप = डालना, पश्चात् अवघात = कूटना, तदनन्तर परावपन = सूप से फटकना, तदनुविवेचन = कणों से तण्डुलों को अलग करना, इस प्रकार प्रकृति याग में तण्डुलों की निष्पत्ति का क्रम कथन किया है और यह क्रम नियत होने से कदापि अन्यथा नहीं होसक्ता, यदि एक ही ऊखल सब अन्नों के लिये मानाजाय तो प्रक्षेप आदि भिन्न २ पदार्थ होने से व्रीहि का प्रक्षेपपूर्वक अवघात होने पर तण्डुल निष्पत्ति से पूर्व श्यामाक का प्रक्षेप पूर्वक अवघात मानना पड़ेगा, क्योंकि तण्डुल निष्पत्ति पर्य्यन्त समुदाय के अनुष्ठान की अपेक्षा एक २ पदार्थ का अनुष्ठान श्रेष्ठ है, पदार्थसमूह के अनुष्ठान को "**काण्डानुसमय**" तथा एक २ पदार्थ के अनुष्ठान को "**पदार्थानुसमय**" कहते हैं, यह पीछे सूचन कियागया है और यथाक्रम एक २ पदार्थ का अनुष्ठान मानने में ऊखल के एक होने से तण्डुल निष्पत्ति में अत्यन्त विलम्ब होजायगा सो ठीक नहीं,

इसलिये सिद्ध है कि उक्त इष्टियों में जितने प्रकार के अन्नों का उपयोग होता है उतने ही ऊखल होने चाहियें अर्थात् नाना वीज इष्टियों में एक ऊखल पर्य्याप्त नहीं किन्तु अनेक ऊखल होने उचित हैं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

एकं वातण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थत्वात्। १५।

पद०—एकं। वा। आतण्डुलभावात्। हन्तेः। तदर्थत्वात्।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (एकं) एक ही ऊखल होना चाहिये, क्योंकि (आतण्डुलभावात्) तण्डुल निष्पत्ति पर्य्यन्त (हन्तेः) "अव" पूर्वक "हन्" धातु का (तदर्थत्वात्) अवघात अर्थ मानागया है।

भाष्य—प्रकृति याग गत "ब्रीहीनवहन्ति" वाक्य में "ब्रीहीन्" पद का धान अर्थ करके "अवहन्ति" पद का प्रक्षेपादि तण्डुल निष्पत्ति पर्य्यन्त अर्थ किया है इससे सिद्ध है कि "अवघात" शब्द का अर्थ केवल "कूटना" नहीं किन्तु "ऊखल" में प्रक्षेप द्वारा तण्डुलनिष्पत्ति है जबकि अवघात शब्द प्रक्षेप से तण्डुनिष्पत्ति पर्य्यन्त अर्थ का वोधक है तब प्रक्षेप आदि को भिन्न पदार्थ नहीं मानसक्ते और उनके भिन्न पदार्थ न होने से काण्डानुसमय रूप से अनुष्ठान की प्रसक्ति नहीं कहसक्ते और नाही उसकी अपेक्षा पदार्थानुसमय की श्रेष्ठता दिखला कर प्रत्येक पदार्थ का भिन्न २ अनुष्ठान निरूपण करसक्ते हैं, क्योंकि प्रक्षेप आदि तण्डुल निष्पत्ति पर्य्यन्त एक पदार्थ होने से स्वतः ही

"पदार्थानुसमय" प्राप्त हैं और उनके प्राप्त होने से अनेक ऊखलों की आवश्यकता भी नहीं है अर्थात् जैसे अनेक ऊखल पक्ष में एक २ पदार्थ का अनुष्ठान होता है वैसेही एक ऊखल पक्ष में भी होसक्ता है और जब एक ऊखल पक्ष में भी होसक्ता है फिर अनेक ऊखल मानने की कोई आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध है कि नाना अन्नसाध्य "आग्नेयी" आदि इष्टियों में अनेक ऊखल अपेक्षित नहीं किन्तु एक ही ऊखल यावदन्नों के लिये पर्य्याप्त है।

सं०-अब "अग्नीषोमीय" पशुयाग में प्रयाज तथा अनुयाज के पात्र का भेद कथन करते हैं:-

विकारेत्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थभेदा-त्स्यात् । १६ ।

पद०-विकारे । तु । अनुयाजानां । पात्रभेदः । अर्थभेदात् । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द अभेद की निवृत्ति के लिये आया है (विकारे) अग्नीषोमीय पशु याग में (अनुयाजानां) अनुयाज तथा प्रयाज के (पात्रभेदः) पात्र का भेद (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (अर्थभेदात्) उक्त दोनों में होतव्य आज्यरूप अर्थ का भेद है।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" रूप प्रकृति याग में प्रयाज तथा अनुयाज दोनों प्रकार के होमों के लिये "उपभृत्" नामक एक ही पात्र में आज्य = घृत रखा जाता है उक्त याग से "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" के अनुसार "अग्नीषोमीय" पशुयाग में प्राप्त उक्त दोनों प्रकार के होमों के लिये आज्य धारणार्थ एक ही पात्र

होना चाहिये किंवा दो पात्र? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है, कि प्रकृति याग में उक्त होमों के साधन आज्य का भेद नहीं, अतएव उसमें पात्रभेद की आवश्यकता नहीं परन्तु अग्नीषोमीय याग में उनके साधन आज्य का भेद है क्योंकि प्रयाज केवल आज्य से और अनुयाज पृषदाज्य से किये जाते हैं दधि मिश्रित आज्य का नाम "पृषदाज्य" है और आज्य का भेद होने से उनके आधार पात्र का भेद होना आवश्यक है अर्थात् केवल आज्य तथा पृषदाज्य दोनों एक पात्र में नहीं रहसक्ते और उनके एक पात्र में न रह सकने से पात्र का भेद अर्थप्राप्त है और वह अर्थप्राप्त होने से सप्रमाणक है निष्प्रमाणक नहीं और जो सप्रमाणक है उसका परित्याग उचित नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "अग्नी-षोमीय" में प्रयाज तथा अनुयाजों के पात्र का भेद है अभेद नहीं।

सं०-अब "उपहोमों" से प्रथम "नारिष्टहोमों" का अनुष्ठान कथन करते है :-

प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्तेस्यान्नह्य-चोदितस्य शेषाम्नानम् । १७ ।

पद०-प्रकृतेः। पूर्वोक्तत्वात्। अपूर्वम्। अन्ते। स्यात्। नहि। अचोदितस्य। शेषाम्नानम्।

पदा०-(प्रकृतेः) प्रकृत "नारिहोमों" को (पूर्वोक्तत्वात्) प्रथम विहित होने से (अपूर्वं) उपहोम (अन्ते) उनके अन्त में (स्यात्) होने चाहियें (हि) क्योंकि (अचोदितस्य) अङ्गी से प्रथम अविहित को (शेषाम्नानं) पूर्वविहित के समान अङ्गता (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य--" अग्निचयन " प्रकरण में अनेक नक्षत्रेष्टियें तथा उनमें " अग्निर्नः पातु " इत्यादि मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक अनेक प्रधान होम विधान करके " सोऽत्रजुहोति, अग्नये स्वाहा, कृत्तिकाभ्यः स्वाहा, अम्बायै स्वाहा " = संसारिक पदार्थों की कामनावाला यजमान " अग्नयेस्वाहा " आदि मन्त्रों से होम करे, इत्यादि वाक्यों से अनेक घृताहुति रूप उपहोम विधान किये हैं और दर्शपूर्णमास रूप प्रकृतियाग मे " नारिष्टहोम " प्राप्त हैं " दशते तनुवो यज्ञ यज्ञियाः " इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करके जो आहुतियें दीजाती हैं उनको " नारिष्टहोम " कहते हैं, उक्त उपहोम तथा नारिष्टहोमों के मध्य कौन प्रथम तथा कौन पश्चात् अनुष्ठेय हैं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि " नारिष्टहोम " प्रकृति याग में विहित होने से क्लृप्तोपकारक तथा उक्त इष्टियों के उत्पत्ति काल में ही अङ्ग-रूप से प्राप्त हैं और " उपहोम " उक्त इष्टियों की उत्पत्ति मे पश्चात् विहित होने से कल्पितोपकारक तथा उत्पत्ति से पश्चात् अङ्गरूप से प्राप्त हैं जिसका अङ्गी पर उपकार प्रथम सिद्ध है उसको " क्लृप्तोपकारक " तथा जिसका उपकार अभी सिद्ध नहीं किन्तु अनुमान किया जाता है उसको " कल्पितोपकारक " कहते हैं, क्लृप्तोपकारक तथा कल्पितोपकारक के मध्य क्लृप्तोप-कारक प्रबल तथा कल्पितोपकारक निर्बल है और प्रबल निर्बल के मध्य प्रबल उपादेय तथा निर्बल हेय सर्वसम्मत है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि विधीयमान हुई नक्षत्रेष्टि अपने सम्पूर्ण

अङ्गों की आकांक्षा करती है उसकी निवृत्त्यर्थ " प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या" यह चोदक वाक्य नारिष्टहोमों को तथा "सोऽन्नजुहोति" यह प्रत्यक्ष वाक्य उपहोमों को अङ्गरूप से बोधन करते हैं परन्तु दोनों के मध्य क्लृप्तोपकारक होने के कारण "नारिष्टहोम" प्रथम तथा कल्पितोपकारक होने के कारण उपहोम पश्चात् बुद्धिस्थ होते हैं और जिस क्रम से जो बुद्धिस्थ होता है उसी क्रम से उसका अनुष्ठान होना उचित है विपरीत क्रम से नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त इष्टियों में प्रथम " नारिष्टहोमों " का और तत्पश्चात् उपहोमों का अनुष्ठान होना ठीक है ॥

सं०–अब उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये " आत्रेय " मुनि के मत से पूर्वपक्ष करते हैं :–

मुख्यानन्तर्य्यमात्रेयः, तेन तुल्यश्रुतित्वादशब्दत्वात्प्राकृतानां व्यवायः स्यात् । १८ ।

पद०–मुख्यानन्तर्य्यम् । आत्रेयः । तेन । तुल्यश्रुतित्वात् । अशब्दत्वात् । प्राकृतानां । व्यवायः । स्यात् ।

पदा०–(मुख्यानन्तर्यं) प्रधान होमों से पीछे तथा नारिष्टहोमों से पूर्व उपहोमों का अनुष्ठान होता है क्योंकि (तेन) प्रधान होमों के समान (तुल्यश्रुतित्वात्) उनका विधान भी प्रत्यक्ष श्रुत है और (प्राकृतानां) नारिष्टहोमों का (व्यवायः) उपहोमों से पीछे (स्यात्) अवश्य अनुष्ठान होना चाहिये क्योंकि (अशब्दत्वात्) वह आनुमानिक हैं प्रत्यक्ष श्रुत नहीं (आत्रेयः) यह " आत्रेय " मुनि का मत है ।

भाष्य-" आत्रेय " मुनि का यह कथन है कि जैसे प्रत्यक्ष विहित होने के कारण "अग्निर्नः पातु" इत्यादि मन्त्रों से प्रधान होमों का नारिष्टहोमों से प्रथम अनुष्ठान होता है वैसेही उपहोमों का भी प्रथम ही अनुष्ठान होना चाहिये, क्योंकि वह भी प्रधान होमों के समान " सोऽत्रजुहोति " इत्यादि वाक्यों से प्रत्यक्ष विहित हैं और नारिष्टहोम क्लृप्तोपकारक होने पर भी उक्त इष्टियों के प्रकरण में प्रत्यक्ष विहित नहीं किन्तु चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त होने से आनुमानिक हैं और प्रत्यक्ष तथा अनुमानिक के मध्य प्रत्यक्ष आदरणीय होता है यह सर्वसम्मत है, इसलिये नारिष्टहोमों से पूर्व उपहोमों का अनुष्ठान होना उचित है पश्चात् नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का " बादरायण " मुनि के मत से समाधान करते हैं :-

अन्ते तु बादरायणस्तेषांप्रधानशब्द-त्वात् । १९ ।

पद०-अन्ते । तु । बादरायणः । तेषां । प्रधानशब्दत्वात् ।

पदा०-" तु " शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (अन्ते) नारिष्टहोमों के पश्चात् उपहोमों का अनुष्ठान होना चाहिये, क्योंकि (तेषां) नारिष्टहोमों का (प्रधानशब्दत्वात्) मुख्य प्रकृतियाग में प्रथम विधान कियागया है (बादरायणः) यह " बादरायण " मुनि का मत है ।

भाष्य-यद्यपि प्रधानहोमों के समान उपहोम भी प्रत्यक्ष विहित हैं तथापि वह नारिष्टहोमों की अपेक्षा आदरणीय नहीं होसक्ते, क्योंकि एक तो वह क्लृप्तोपकारक होने के कारण अङ्ग-

रूप से प्रथम उपस्थित हैं और दूसरे प्रधान प्रकृतियाग में प्रथम विहित होने से परम आदरणीय हैं।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि नारिष्टहोम उक्त इष्टियों में चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त होने से आनुमानिक है तथापि अङ्गाकांक्षा की शान्ति के लिये प्रथम उपस्थित होने के कारण प्रत्यक्ष विहित से अधिक हैं क्योंकि प्रत्यक्ष विहित उपहोम कल्पितोपकारक होने के कारण नारिष्टहोमों की अपेक्षा प्रथम उपस्थित नहीं होसक्ते और जो प्रथम उपस्थित हैं वही प्रथम अनुष्ठेय होसक्ते हैं दूसरे नहीं, इसलिये नारिष्टहोमों का ही उपहोमों से पूर्व अनुष्ठान होना चाहिये यह बादरायण मुनि का मत है।

सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:—

तथाचान्यार्थदर्शनम् । २० ।

पद०—तथा । च । अन्यार्थदर्शनम ।

पदा०—(च) और (तथा) प्रथम उपस्थित के प्रथम अनुष्ठान में (अन्यार्थदर्शनं) अन्यत्र दृष्ट अर्थ भी प्रमाण है।

भाष्य—"आग्नेयं प्रथममग्निर्हि प्रथममवगतः"= अग्नीषोमीय की अपेक्षा "आग्नेय" याग प्रथम होना चाहिये, क्योंकि अग्नीषोम की अपेक्षा अग्नी की उपस्थिति प्रथम होती है इस वाक्य में जो अग्नि के प्रथम उपस्थित होने के कारण उसके उद्देश से होने वाले आग्नेय याग का प्रथम अनुष्ठान विधान किया है वह प्रकृत इष्टियों में प्रथम उपस्थित होने के कारण नारिष्टहोमों के प्रथम अनुष्ठान में प्रमाण है यदि प्रथम उपस्थित प्रथम अनुष्ठान में नियामक न होता तो "आग्नेय" याग का प्रथम अनुष्ठान कदापि विधान न किया जाता परन्तु किया है इससे

स्पष्ट है कि प्रथम उपस्थित का प्रथम ही अनुष्ठान होता है, प्रकृत में क्लृप्तोपकारक होने के कारण नारिष्ठहोम प्रथम उपस्थित है इसलिये सिद्ध है कि उक्त इष्टियों में उनका अनुष्ठान उपहोमों से प्रथम होता है पश्चात् नहीं ।

सं०—अब अभिषेक से पूर्व विदेवनादि क्रियाओं की कर्तव्यता कथन करते हैं :—

कृतदेशात्तु पूर्वेषां स देशः स्यात्तेन प्रत्यक्ष-संयोगान्न्यायमात्रमितरत् । २१ ।

पद०—कृतदेशात् । तु । पूर्वेषां । स । देशः । स्यात् । तेन । प्रत्यक्षसंयोगात् । न्यायमात्रम् । इतरत् ।

पदा०—“तु” शब्द पश्चात् कर्तव्यता की निवृत्ति के लिये आया है (कृतदेशात्) माहेन्द्रस्तोत्र के समीप जिसके देश की कल्पना कीगई है ऐसे अभिषेक से (पूर्वेषां) प्रथम होने वाली विदेवनादि क्रियाओं का भी (स) वही (देश) स्थान (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (तेन) अभिषेक के साथ (प्रत्यक्षसंयोगात्) उनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष है और (इतरत्) अभिषेक से पश्चात् कल्पना करना (न्यायमात्रं) निर्मूल होने के कारण केवल कल्पना मात्र है ।

भाष्य—“राजसूय” यागान्तर्गत “अभिषेचनीय” नामक सोम याग की सन्निधि में “अक्षैर्दीव्यति”=सेना की कुत्रायद आदि क्रीड़ा का अवलोकन करे “शौनःशेपमाख्यापयति” “कस्यनूनं कतमस्यामृतानां” ऋ० १ । ६ । २४ इत्यादि

शौनःशेप संज्ञक सूक्तों का उच्चारण कराये "अभिषिञ्चति"= तदनन्तर अधिकार प्राप्ति के लिये अभिषेक=स्नान करे, इत्यादिकों से विदेवनादि क्रियायें यथाक्रम विधान करके पश्चात् "माहेन्द्रस्तोत्रं प्रत्यभिषिञ्चति"=माहेन्द्र नामक स्तोत्र से पूर्व अभिषेक करे, इस वाक्य द्वारा अभिषेक का माहेन्द्रस्तोत्र के समीप अपकर्ष विधान किया है, जिन ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा महाप्रभु परमैश्वर्य्यवान् परमपिता परमात्मा की स्तुति कीजाती है उसका नाम "माहेन्द्रस्त्रोत्र" है, यह स्तोत्र उक्त सोम याग के मध्य में पढ़ा जाता है और इसी के समीप अभिषेक विधान किया है, इससे यह सन्देह हुआ कि माहेन्द्रस्तोत्र से पूर्व अभिषेक का अपकर्ष होने से तत्पूर्वभावी विदेवनादि का भी अपकर्ष होता है किंवा नहीं अर्थात् जैसे उक्त वाक्यविशेष के कारण माहेन्द्रस्तोत्र से पूर्व अभिषेक कर्तव्य है वैसे पाठक्रम के अनुसार पूर्वभावी होने के कारण विदेवनादि क्रियायें अभिषेक से पूर्व कर्तव्य हैं अथवा नहीं? इस सन्देह की निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि उक्त वाक्यविशेष में केवल अभिषेक का ही अपकर्ष विधान किया है विदेवनादि का नहीं तथापि विदेवनादि क्रियायें उक्त पाठक्रमानुसार अभिषेक से पूर्वभावी प्रत्यक्ष सिद्ध हैं और जैसे श्रुति आदि अनुष्ठान के नियामक हैं वैसे क्रम भी नियामक है और क्रम द्वारा विदेवनादि का अभिषेक से पूर्व अनुष्ठान प्रथम सिद्ध है और जो प्रथम सिद्ध है वह अभिषेक का अपकर्ष होने से भी असिद्ध नहीं होसक्ता, इसलिये जैसे अनपकर्ष दशा में विदेवनादि क्रियाओं का अभिषेक से प्रथम अनुष्ठान होता है वैसे ही अपकर्ष दशा में

होना उचित है अर्थात् "माहेन्द्रस्तोत्रं प्रत्यभिषिञ्चति" इस वाक्य से उक्त सोमयाग के मध्य अभिषेक का अपकर्ष होता है और विदेवनादि अभिषेक से पूर्वभावी उक्त पाठक्रम से प्रत्यक्ष सिद्ध है और जो जिससे पूर्वभावी है उसका उससे पूर्व ही अनुष्ठान होना उचित है अनुचित नहीं, इसलिये सिद्ध है कि विदेवनादि क्रियायें अभिषेक से पूर्व कर्तव्य हैं पश्चात् नहीं।

स०-अब दीक्षणीयेष्टि से पूर्व सावित्र होमों की कर्तव्यता कथन करते हैं :-

प्राकृताच्चपुरस्ताद्यत्। २२।

पद०-प्राकृतात्। च। पुरस्तात्। यत्।

पदा०-(च) और (यत्) जिसका (प्राकृतात्) प्राकृत इष्टि से (पुरस्तात्) पूर्व पाठ किया गया है उसका अनुष्ठान भी पूर्व ही होना चाहिये।

भाष्य-"अग्निचयन" प्रकरण में "सावित्राणि जुहोति" = सावित्र होम करे, इत्यादि वाक्यों से सावित्र होमों का विधान करके पश्चात् "आग्नावैष्णवमेकादशकपालंनिर्वपेत्दीक्षिष्यमाणः" = यज्ञ दीक्षा का लेने वाला पुरुष प्रकाशस्वरूप सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा के उद्देश से एकादश कपालों में पकाये पुरोडाश का प्रदान करे, इत्यादि वाक्यों में "दीक्षणीया" इष्टि विधान की है, उक्त इष्टियें प्रकृति याग में प्रथम विहित होने के कारण "प्राकृत" कहलाती हैं और जो प्राकृत होता है वह वैकृत की अपेक्षा प्रथम बुद्धिस्थ होता है और जो प्रथम बुद्धिस्थ

होता है उसका अनुष्ठान भी प्रथम ही होना उचित है और सावित्र होम विकृति गत होने से वैकृत सर्वसम्मत है इससे यह सन्देह हुआ कि सावित्र होम दीक्षणीयेष्टि से प्रथम कर्तव्य हैं किंवा पश्चात् कर्तव्य हैं? इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि प्राकृत होने के कारण नारिष्ठहोमों की भांति दीक्षणीयेष्टि प्रथम बुद्धिस्थ होती है तथापि उसका सावित्र होमों से पहले अनुष्ठान नहीं होसक्ता, क्योंकि अग्निकाण्ड में सावित्र होमों से पश्चात् दीक्षणीयेष्टि का पाठ किया गया है, यदि वह नारिष्ठहोमों की भांति वैकृत होमों से प्रथम कर्तव्य होती तो उक्त काण्ड में उसका उनसे पश्चात् पाठ न किया जाता परन्तु किया है इसलिये सिद्ध है कि सावित्रहोम दीक्षणीयादि इष्टि से पूर्व कर्तव्य हैं पश्चात् नहीं।

सं०—अत्र "रुक्म" धारण से पूर्व वपनादि याजमान संस्कारों की कर्तव्यता कथन करते हैं:—

सन्निपातश्चेद्यथोक्तमन्ते स्यात् । २३ ।

पद०—सन्निपातः । चेत् । यथोक्तम् । अन्ते । स्यात् ।

पदा०—(चेत्) यदि (सन्निपातः) प्राकृत तथा वैकृत दोनों संस्कारों की इकट्ठी प्राप्ति हो तो (यथोक्तं) प्रत्यक्ष श्रुत वैकृत धर्म का (अन्ते) प्राकृत धर्म से पश्चात् (स्यात्) अनुष्ठान होना चाहिये।

भाष्य—अग्निचयन प्रकरण में "दीक्षणीया" इष्टि से पश्चात् "रुक्ममन्तरं प्रतिमुञ्चतेऽमृतमवमृत्योरन्तर्धत्ते" = जो पुरुष रुक्म को कण्ठ में धारण करता है वह मृत्यु से अपने

अमृत रूप जीवन की रक्षा करता है, इत्यादि वाक्यों से यजमान को रुक्म का धारण विधान किया है, कण्ठ में धारण किया हुआ जो मोटा तथा चौड़ा सा सुवर्ण का आभूषणविशेष छाती पर लटकता रहता है उसका नाम "रुक्म" है, यज्ञानुष्ठान काल में मिट्टी की छोटी सी "ऊखल" समान अङ्गीठी एक शिक्ये में रख और उसमें अग्नि के अङ्गारे डाल कण्ठ में धारण कीजाती है और वह छाती पर लटकती रहती है उससे छाती दाह की रक्षा के लिये उक्त आभूषण दीक्षणीयेष्टि से पीछे धारण कियाजाता है और "प्रकृतिवद् विकृतिःकर्तव्या" इस चोदकवाक्य द्वारा उक्त इष्टि से पश्चात्भावी प्राकृत "वपन" आदि याजमान संस्कार भी प्राप्त हैं, प्रकृति याग में विहित का नाम "प्राकृत" है, रुक्म धारण तथा वपनादि संस्कारों के मध्य किसका अनुष्ठान पूर्व होना चाहिये ? यह सन्देह है, अर्थात् दीक्षणीयेष्टि के अनन्तर वपनादि संस्कार कर्तव्य हैं किंवा रुक्म धारण कर्तव्य है ? यह सन्देह है. इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि सावित्र होमों की भांति प्रत्यक्ष श्रुत होने के कारण रुक्म-धारण प्रथम कर्तव्य प्रतीत होता है तथापि रुक्मधारण के अन-न्तर उक्त संस्कारों का कहीं भी विधान न पाये जाने से रुक्म धारण का प्रथम अनुष्ठान युक्त नहीं अर्थात् जैसे दीक्षणीयेष्टि से पश्चात् उक्त याजमान संस्कारों का पाठ पाया जाता है वैसे रुक्म धारण से पश्चात् उक्त संस्कारों का पाठ नहीं पाया जाता और उसके न पाये जाने से सावित्र होमों का दृष्टान्त तथा उपन्यास भी नहीं होसक्ता. दूसरे प्रकृतियाग में उक्त संस्कार दीक्षणीयेष्टि से पश्चात् प्रत्यक्ष विहित हैं और उक्त चोदकवाक्य से उनकी उक्त

विकृति याग में प्राप्ति स्पष्ट है और उसके स्पष्ट प्राप्त होने से रुक्म धारण की अपेक्षा उनके अनुष्ठान का प्रथम होना भी उचित है।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि उक्त विकृति याग में 'दीक्षणीयेष्टि के अनन्तर रुक्मधारण विधान किया है तथापि उसके अनन्तर वपनादि याजमान संस्कारों का कहीं भी पाठ न होने से वह उनसे पूर्व कदापि अनुष्ठेय नहीं होसक्ता और उक्त संस्कारों का अनुष्ठान दीक्षणीयेष्टि से प्रथम "प्रकृतिवद् विकृतिःकर्तव्या" वाक्य से प्राप्त है और जो प्राप्त है उसका परित्याग विना किसी प्रबल प्रमाण के युक्त नहीं, इसलिये सिद्ध है कि दीक्षणीयेष्टि के अनन्तर रुक्मधारण से प्रथम उक्त याजमान संस्कार कर्तव्य हैं पश्चात् नहीं।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
पञ्चमाध्याये द्वितीयः
पादः

ओ३म्

अथ पञ्चमाध्याये तृतीयःपादः प्रारभ्यते

सं०—अब "अग्नीषोमीय" पशु याग में श्रूयमाण प्रयाजगत एकादश संख्या को सर्व प्रयाजसम्पाद्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

विवृद्धिः कर्मभेदात्पृषदाज्यवत्तस्यतस्यो-पदिश्येत । १ ।

पद०—विवृद्धिः । कर्मभेदात् । पृषदाज्यवत् । तस्य । तस्य । उपदिश्येत ।

पदा०—(पृषदाज्यवत्) जैसे "पृषदाज्येनानुयाजान् यजति" में प्रत्येक अनुयाज के साथ "पृषदाज्य" के सम्बन्ध का विधान है वैसे ही (तस्य २) "एकादश प्रयाजान् यजति" में भी प्रत्येक प्रयाज के साथ (उपदिश्येत) एकादश संख्या के सम्बन्ध का विधान किया गया है, इसलिये (कर्मभेदात्) प्रयाजभेद से (विवृद्धिः) एकादश संख्या की वृद्धि होनी चाहिये ।

भाष्य—"अग्नीषोमीय" पशु याग में "**एकादश प्रयाजान् यजति**"=एकादश प्रयाजों का अनुष्ठान करे, इस वाक्य से जो एकादश प्रयाज विधान किये हैं उनमें श्रूयमाण एकादश संख्या "**प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या**" के अनुसार "दर्शपूर्णमास" रूप प्रकृति याग से प्राप्त पाञ्च प्रयाजों की द्विरावृत्ति=दो बार अनुष्ठान करके पश्चात् आन्तिमप्रयाज की द्विरावृत्ति से पूर्ण करनी

किंवा प्रकृति से प्राप्त प्रत्येक प्रयाज की एकादश २ दो वार आवृत्ति = अनुष्ठान करके उक्त संख्या पूर्ण करनी अर्थात् "दर्शपूर्णमास" रूप प्रकृति याग में "समिधोयजति" इत्यादि वाक्यों से "समिध्" आदि पाञ्च प्रयाज विधान किये हैं और "प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या" इस चोदक वाक्य से उक्त पाञ्चों प्रयाज अग्नीषोमीय पशुयाग में प्राप्त हैं परन्तु उक्त पशु याग में "एकादश प्रयाजान् यजति" वाक्य से एकादश प्रयाज विधान किये हैं, इससे यह सन्देह हुआ कि प्रकृति से प्राप्त उक्त पाञ्च प्रयाजों की द्विरावृत्ति करके पश्चात् अन्तिम प्रयाज की द्विरावृत्ति के अभिप्राय से एकादश प्रयाज विधान किये हैं, अथवा प्रत्येक प्राकृत प्रयाज की एकादश २ दो वार आवृत्ति के अभिप्राय से ? इसमें प्रथमपक्ष सिद्धान्ति और द्वितीयपक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे "पृषदाज्येनानुयाजान् यजति" = पृषदाज्य (दधि मिश्रित घृत) से "अनुयाज" नामक होम करे, इस वाक्य से विधान किये पृषदाज्य का प्रत्येक अनुयाज के साथ सम्बन्ध है वैसे ही "एकादश प्रयाजान् यजति" वाक्य से विधान कीगई एकादश संख्या का भी प्रत्येक प्रयाज के साथ सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध तभी उपपन्न होसक्ता है जब प्रत्येक प्रयाज की एकादश २ आवृत्ति कीजायं और सम्पूर्ण प्रयाज पाञ्च हैं उनके मध्य प्रत्येक प्रयाज की एकादश २ आवृत्ति करने से सब की संख्या पचपन ५५ होजाती है, बस ५५ प्रयाजों का अनुष्ठान ही "एकादश प्रयाजान् यजति" वाक्य में विधान किया गया है जो प्रत्येक की आवृत्ति बिना नहीं होसक्ता,

इसलिये सिद्ध है कि उक्त संख्या की पूर्त्ति के लिये सम्पूर्ण प्रयाजों की एकादश २ दो वार आवृत्ति कर्तव्य है एकवार सबकी आवृत्ति करके पश्चात् अन्तिम प्रयाज की आवृत्ति से एकादश संख्या की पूर्त्ति कर्तव्य नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में पाञ्च प्रयाजों की द्विरावृत्ति करके पश्चात् अन्तिम प्रयाज की द्विरावृत्ति के अभिप्राय से एकादश संख्या का विधान नहीं किया किन्तु प्रत्येक प्रयाज की एकादश २ आवृत्ति के अभिप्राय से किया है और जिस अभिप्राय से जिस का विधान किया गया है उसी के अनुसार उसकी पूर्त्ति होनी आवश्यक है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त उदाहृत वाक्य में कथन कीगई एकादश संख्या सर्वप्रयाजसम्पाद्य नहीं किन्तु प्रत्येक प्रयाजसम्पाद्य है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

अपिवा सर्वसंख्यत्वाद्विकारः प्रतीयेत।२।

पद०-अपि। वा। सर्वसंख्यत्वात्। विकारः। प्रतीयेत।

पदा०-"अपि, वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आये हैं (विकारः) एकादश संख्या पूर्त्ति के लिये सब प्रयाजों की द्विरावृत्ति होकर पश्चात् अन्तिम प्रयाज की द्विरावृत्ति (प्रतीयेत) होनी चाहिये, क्योंकि (सर्वसंख्यत्वात्) उक्त संख्या सब प्रयाजों की विधान कीगई है।

भाष्य-उक्त उदाहृत वाक्य में "एकादश प्रयाजान्" पद का प्रयोग किया है जिसका ११ प्रयाज अर्थ होता है प्रत्येक प्रयाज ११ नहीं, यदि प्रत्येक प्रयाज ११ अर्थ होता तो अवश्य

प्रत्येक प्रयाज की एकादश २ आवृत्ति करके ५५ संख्या पूर्ण की जाती परन्तु ११ प्रयाज अर्थ होने से समुदायगत एकादश संख्या प्रतीत होती है प्रत्येक गत नहीं, और समुदायगत संख्यापूर्त्ति के लिये द्विरावृत्ति करके अन्तिम प्रयाज की पुनः द्विरावृत्ति करना ठीक है अर्थात् जैसे "पृषदाज्य" प्रत्येक अनुयाज अन्वयी है वैसे एकादश संख्या प्रत्येक प्रयाज अन्वयी नहीं होसक्ती, क्योंकि वह गुण होने के कारण एक व्यक्ति में एक ही रहसक्ती है एकादश नहीं और जो पृषदाज्य द्रव्य है उसका प्रत्येक अनुयाज के साथ साधन रूप से सम्बन्ध होसक्ता है, इसलिये प्रषदाज्य की भांति एकादश संख्या का प्रत्येक प्रयाज में अन्वय कल्पना करना सर्वथा अयुक्त है और उसके अयुक्त होने से सिद्ध है कि उक्त संख्या प्रत्येक प्रयाज सम्पाद्य नहीं किन्तु सर्वप्रयाज सम्पाद्य है।

सं०–अत्र "उपसत्" नामक होम गत श्रूयमाण षट् संख्या पूर्त्ति के लिये प्रत्येक "उपसत्" की स्व २ स्थान में द्विरावृत्ति कथन करते हैं:–

स्वस्थानात्तुविवृध्येरन् कृतानुपूर्व्यत्वात् ।३।

पद०–स्वस्थानात् । तु । विवृध्येरन् । कृतानुपूर्व्यत्वात् ।

पदा०–"तु" शब्द समुदायावृत्ति के निराकरणार्थ आया है (स्वस्थानात्) स्व २ स्थान में (विवृध्येरन्) प्रत्येक उपसद् की द्विरावृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि (कृतानुपूर्व्यत्वात्) प्रकृति याग में उनके अनुष्ठान का क्रम नियत किया गया है ॥

भाष्य–"अग्निचयन" प्रकरण में "षडुपसदः" = छे "उपसत्" नामक होम होने चाहियें, इस वाक्य से षट् "उपसत्" नामक होम विधान किये हैं, दीक्षादिन से लेकर सोमाभिषव दिन

पर्य्यन्त जो मध्य में होम होते हैं उनका नाम " उपसत् " होम है, और प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम याग में " प्रथमां कृत्वा मध्यमा कर्तव्या तत उत्तमा " = दीक्षादिन के अनन्तर प्रथम उपसत् को करके द्वितीय दिन में मध्यमा को और तदनन्तर तृतीय दिन में अन्तिम उपसत् को करे, इस वाक्य से यथाक्रम तीन उक्त होम विधान किये हैं, अग्निचयन में चोदक वाक्य से प्राप्त उक्त " उपसद् " होमों की षट् संख्या को समुदाय की आवृत्ति से पूरा करना चाहिये किंवा प्रत्येक उपसत् की आवृत्ति से अर्थात् प्रकृति याग से उक्त होम तीन २ प्राप्त हैं और अग्निचयन में वह षट् कर्तव्य हैं परन्तु वह आवृत्ति किये विना छे नहीं होसक्ते और आवृत्ति दो प्रकार की होती है एक समुदायावृत्ति दूसरी प्रत्येकावृत्ति, उक्त दोनों के मध्य कौन आवृत्ति से अग्निचयन में उक्त होमों की षट् संख्या पूर्ण करना चाहिये? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि पूर्वाधिकरणानुसार समुदायावृत्ति से भी षट् संख्या पूर्ण होसक्ती है तथापि समुदायावृत्ति से उनके नियत क्रम का बाध होजाने के कारण वह युक्त प्रतीत नहीं होती अर्थात् प्रथम दिन में प्रथम उपसत्, द्वितीय दिन में द्वितीय तथा तृतीय दिन में तृतीय उपसत्, इस प्रकार उक्त होमों का क्रम नियत है यदि समुदायावृत्ति पक्ष माने तो एक बार यथाक्रम तीनों का अनुष्ठान करके जब दो बारा अनुष्ठान आरम्भ किया जायगा तो प्रथम दिन में होने वाला उपसत् प्रथम नहीं रहेगा किन्तु तीन के पश्चात् होने के कारण चौथा होजायगा सो ठीक नहीं, क्योंकि उसके चौथे होजाने से " प्रथम दिन में प्रथम उपसत् " इस नियत क्रम का बाध होजाता है, परन्तु प्रत्येकावृत्ति

पक्ष में यह दोष नहीं, क्योंकि "प्रथम दिन में प्रथम उपसत् की द्वितीय दिन में द्वितीय उपसत् की तथा तृतीय दिन में तृतीय उपसत् की द्विरावृत्ति होने में स्व २ स्थान का अतिक्रम नहीं होता और जिस पक्ष के स्वीकार करने में नियत क्रम का बाध नहीं होता और विहित षट् संख्या भी पूर्ण होजाती है उसी का स्वीकार ठीक है अन्य का नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त होमों की षट्संख्या पूर्त्ति के लिये स्व २ स्थान में प्रत्येक उपसत् की आवृत्ति कर्तव्य है समुदाय की नहीं ॥

सं०—अब आगन्तुक मन्त्रों का सामिधेनियों के अन्त में निवेश कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

सामिध्यमानवतीं सिमिद्धवतींश्चान्तरेण-धाय्याःस्युर्द्यावापृथिव्योरन्तरालेस-मर्हणात् । ४ ।

पद०—सामिध्यमानवतीं । सिमिद्धवतीं । च । अन्तरेण । धाय्याः स्युः । द्यावापृथिव्योः । अन्तराले । समर्हणात् ।

पदा०—(धाय्याः) आगन्तुक मन्त्रों का (सामिध्यमानवतीं) "समिध्यमान" पदवाली (च) तथा (समिध्यवतीं) "समिध्य" पदवाली दोनों सामिधेनीयों के (अन्तरेण) मध्य में (स्युः) निवेश होना चाहिये, क्योंकि (द्यावापृथिव्योः) वाक्यशेष में द्यावापृथिवी शब्द से उक्त दोनों सामिधेनीयों का अनुवाद करके (अन्तराले) मध्य में (समर्हणात्) "धाय्या" नाम से आगन्तुक मन्त्रों का कथन किया है ।

भाष्य—"दर्शपूर्णमास" याग में "समिधेनियों" का प्रकरण चलाकर "एकविंशतिमनुब्रूयात्प्रतिष्ठा कामस्य"=प्रतिष्ठा की कामना वाले पुरुष के लिये २१ समिधेनियों का उच्चारण करे, इस वाक्य से प्रतिष्ठाकाम पुरुष के लिये २१ समिधेनियों का उच्चारण विधान किया है परन्तु जिन मन्त्रों की "सामिधेनी" संज्ञा है वह सब ११ हैं और प्रथम तथा अन्तिम सामिधेनी का "त्रिःप्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्"=तीन वार यह तथा तीन वार अन्तिम सामिधेनी का उच्चारण करे, इस वाक्य के अनुसार तीन २ वार उच्चारण करने से १५ होजाती हैं, इन १५ सामिधेनीयों में जो ६ मन्त्र ऊपर से मिलाकर २१ संख्या पूर्ण कीजाती हैं उनको "आगन्तुक" कहते हैं, उक्त आगन्तुक मन्त्रों का निवेश सामिधेनीयों के मध्य में होना चाहिये किंवा अन्त में? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "इयं वै समिध्यमानवती. असौ समिध्यवती, यदन्तरा तद्धाय्या"=यह द्युलोक "समिध्यमानवती" सामिधेनी तथा यह पृथिवी लोक "समिध्यवती" समिधेनी है और उक्त दोनों का जो मध्य है वह "धाय्या" नामक मन्त्र हैं, इस वाक्यशेष में "समिध्यमान" पद वाली तथा "समिध्य" पद वाली दो सामिधेनियों के मध्य में "धाय्या" नामक मन्त्रों का स्थान कथन किया है और "धीयन्ते = निधीयन्ते = उपरितो निवेश्यन्ते इति धाय्याः"=जो ऊपर से मिलाये जावे हैं

उनको "धाय्या" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से "धाय्या" नाम आगन्तुक मन्त्रों का है, और उनका मध्य में निवेश उक्त वाक्य-शेष से स्पष्ट है, इसलिये सिद्ध है कि आगन्तुक मन्त्रों का सामिधेनियों के मध्य में निवेश होता है अन्त में नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

तच्छब्दो वा । ५ ।

पद०-तच्छब्दः । वा ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (तच्छब्दः) उक्त वाक्यशेष में जो "धाय्या" पद आया है वह सम्पूर्ण आगन्तुक मन्त्रों का नाम नहीं किन्तु "पृथुपाजा अमर्त्यः" इत्यादि दो मन्त्रों का नाम है।

भाष्य-यदि उक्त वाक्यशेष में "धाय्या" शब्द यौगिक होता तो अवश्य उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार वह सम्पूर्ण आगन्तुक मन्त्रों का वाचक होता और उनका उक्त वाक्यानुसार समिधेनियों के मध्य में निवेश मानाजाता, धातु तथा प्रत्यय के योग=सम्बन्ध द्वारा अर्थ के बोधक पद का नाम "यौगिक" है परन्तु उक्त पद यौगिक नहीं किन्तु "पृथुपाजवत्यौ धाय्ये"="पृथुपाज" शब्द वाले दो मन्त्रों का नाम "धाय्या" है, इस वाक्य के अनुसार "पृथुपाजाअमर्त्यः" ऋ० ३।१।२८ इत्यादि दो मन्त्रों में रूढ़ि है, धातु प्रत्यय के योग विना सङ्केतमात्र से अर्थ के बोधक पद को "रूढ़ि"

कहते हैं, और उक्त दोनों मन्त्रों में रूढ़ि होने के कारण वह सम्पूर्ण आगन्तुक मन्त्रों का कदापि बोधक नहीं होसक्ता. और उसके बोधक न होने मे उक्त वाक्यानुसार "धाय्या" नामक "पृथुपाजाअमर्त्यः" इत्यादि दो आगन्तुक मन्त्रों का सामिधेनियों के मध्य में निवेश होने पर भी सम्पूर्ण आगन्तुक मन्त्रों का निवेश नहीं होसक्ता और उक्त धाय्या मन्त्रों की भांति यावत् आगन्तुक मन्त्रों के मध्य निवेश में कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता और विना प्रमाण मध्य में निवेश मानना अनुचित है और विहित सामिधेनियों के उच्चारणानन्तर आगन्तुक मन्त्रों का उच्चारण युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है क्योंकि यह लोक सिद्ध बात है कि निमन्त्रित पुरुषों के अनन्तर ही अनिमन्त्रित पुरुष सभादि बृहदधिवेशनों में बैठाये जाते हैं, १५ सामिधेनियें विहित होने के कारण निमन्त्रित तथा अविहित होने के कारण आगन्तुक मन्त्र अनिमन्त्रित पुरुषों के समान हैं और जो जिसके समान है उसका वैसाही विनियोग होना ठीक है, इसलिये सिद्ध है कि आगन्तुक मन्त्रों का सामिधेनियों के मध्य में निवेश होना ठीक नहीं किन्तु अन्त में निवेश होना चाहिये यही ठीक है।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :–

उष्णिक्ककुभोरन्तेदर्शनात् । ६ ।

पद०—उष्णिक्ककुभोः । अन्ते । दर्शनात् ।

पदा०—(उष्णिक्ककुभोः) "धाय्या" नामक उष्णिक् तथा ककुभ छन्दवाले दोनों मन्त्रों के (अन्ते) अन्त में (दर्शनात्) अधाय्या मन्त्र का निवेश पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य–" त्रैधातवीया " नामक इष्टि में " उष्णिक्ककुभौ धाय्ये " = " प्रभो अग्ने " इस उष्णिक छन्द वाले तथा " प्रहोत्रे पूर्व्यं वचः " इस ककुभ छन्द वाले दोनों मन्त्रों की " धाय्या " संज्ञा विधान करके " त्रीवत्यापरिदधाति " = " त्री " शब्द वाले मन्त्र से आच्छादन करे, इस वाक्य से "अग्नेत्रोते वाजिन" इस अधाय्या संज्ञक मन्त्र का अन्त में विनिवेश किया है, यदि उक्त वाक्य में " धाय्या " पद रूढ़ि न होता किन्तु यौगिक होता तो " अग्नेत्रीतेवाजिन " मन्त्र का अन्त में निवेश न किया जाता, क्योंकि योगवृत्ति से उक्त मन्त्र की भी " धाय्या " संज्ञा निर्विवाद सिद्ध है परन्तु निवेश किया है, इसलिये सिद्ध है कि यावत् आगन्तुक मन्त्रों की संज्ञा " धाय्या " नहीं और उसके न होने से उनका सामिधेनियों के मध्य में निवेश होना भी ठीक नहीं किन्तु अन्त में निवेश होना ही ठीक है।

सं०–अब विहित संख्यापूर्णार्थ आगन्तुक मन्त्रों का " बहिष्पवमान " स्तोत्र के अन्त में निवेश कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

स्तोमविवृद्धौ बहिष्पवमाने पुरस्तात्पर्य्यासादागन्तवः स्युस्तथाहि दृष्टं द्वादशाहे ।७।

पद०–स्तोमविवृद्धौ । बहिष्पवमाने । पुरस्तात् । पर्य्यासात् । आगन्तवः । स्युः । तथा । हि । दृष्टं । द्वादशाहे ।

पदा०–(बहिष्पवमाने) " बहिष्पवमान " नामक स्तोत्र में (स्तोमविवृद्धौ) आगन्तुक मन्त्रों से वृद्धि के लिये (आगन्तवः)

आगन्तुक मन्त्रों का (पर्य्यासात्) पर्य्यास से (पुरस्तात्) पूर्व (स्युः) निवेश होना चाहिये (हि) क्योंकि (द्वादशाहे) "द्वादशाह" नामक याग में (तथा) आगन्तुक मन्त्रों का पर्य्यास से पूर्व ही (दृष्टं) निवेश देखा जाता है ॥

भाष्य–"ज्योतिष्टोम" नाम प्रकृति याग में "बहिष्पवमान नामक स्तोत्र गाया जाता है, इसमें तीन २ मन्त्रों के तीन त्रिक अर्थात् सब नौ मन्त्र होते हैं उनमें "उपास्मै गायतानरः" इत्यादि तीन मन्त्र प्रथम त्रिक "दविद्युतत्यारुचा" इत्यादि तीन मन्त्र द्वितीय त्रिक तथा "पवमानस्य" इत्यादि तीन मंत्र तृतीय त्रिक कहलाते हैं, प्रथम त्रिक का नाम "स्तोत्रीयः" द्वितीय त्रिक का नाम "अनूरूप" तथा तृतीय त्रिक का नाम "पर्य्यास" है, उक्त तीनों त्रिक वाले "बहिष्पवमान स्तोत्र का "अतिरात्र" नामक विकृति याग में "प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या" के अनुसार अतिदेश होता है और "एकविंशेनातिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत"=सन्तान की कामना वाले पुरुष के लिये अतिरात्र याग में २१ मन्त्रों वाले अर्थात् सात त्रिक वाले "बहिष्पवमान" स्तोत्र का गान करे, "त्रिणवेनौजस्कामम्"=तेज की कामना वाले पुरुष के लिये २७ मन्त्रों वाले अर्थात् ९ त्रिक वाले "बहिष्पवमान" स्तोत्र का गान करे, "त्रयस्त्रिंशेनप्रतिष्ठाकामम्"=प्रतिष्ठा की कामना वाले पुरुष के लिये तेतीस मन्त्रों वाले अर्थात् ११ त्रिक वाले

" वहिष्पवमान " स्तोत्र का गान करे, इत्यादि वाक्यों से उक्त विकृति याग में सप्त, नौ तथा ग्यारह त्रिक वाला " वहिष्पवमान " विधान किया है परन्तु वह उक्त विहित ७। ९। ११। त्रिक वाला तभी होसक्ता है जब प्रकृति याग से प्राप्त उक्त स्तोत्र में आगन्तुक मन्त्रों के यथाक्रम चार, छे तथा आठ त्रिकों का निवेश किया जाय, इसमें उक्त चार आदि त्रिकों का निवेश कहां होना चाहिये अर्थात् आगन्तुक मन्त्रों के ४ आदि त्रिकों का निवेश उक्त स्तोत्र के मध्य में होना चाहिये किंवा अन्त में? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि " द्वादशाह " याग में " **स्तोत्रीयानूरूपौ तृचौ भवतः, वृषण्वन्तस्तृचा भवन्ति तृच उत्तमः पर्य्यासः** " = वहिष्पवमान स्तोत्र में " स्तोत्रीय " तथा " अनूरूप " संज्ञक जो दो त्रिक हैं उनके मध्य में " वृषण्वत् " शब्द वाले आगन्तुक मन्त्र तथा अन्त में " पर्य्यास " नामक तृतीय त्रिक होता है, इत्यादि वाक्यों से आगन्तुक मन्त्रों के त्रिकों का स्तोत्रीय तथा अनूरूप--त्रिकों के मध्य में निवेश पायाजाता है और अतिरात्र याग भी द्वादशाह के समान है, इसलिये इसमें भी आगन्तुक त्रिकों का निवेश मध्य में ही होना उचित है अन्त में नहीं।

सं०—अब " पर्य्यास " शब्द का स्वयं पारिभाषिक अर्थ कथन करते हैं :

पर्य्यास इति चान्ताख्या । ८ ।

पद०—पर्य्यासः । इति । च । अन्ताख्या ।

पदा०-(च) और (पर्य्यासः) पर्य्यास (इति) यह (अन्ताख्या) बहिष्पवमान स्तोत्र के अन्तिम त्रिक की संज्ञा है।

भाष्य-"बहिष्पवमान" स्तोत्र में जो अन्तिम "त्रिक" है उसकी संज्ञा "पर्य्यास" है॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

अन्ते वा तदुक्तम्। ९।

पद०-अन्ते। वा। तत्। उक्तम्।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (अन्ते) आगन्तुक मन्त्रों के ४ आदि त्रिकों का बहिष्पवमान स्तोत्र के अन्त में निवेश होता है (तत्) और यह (उक्तं) पीछे निर्णय किया गया है।

भाष्य-आगन्तुक मन्त्रों का निवेश अन्त में होता है यह पीछे भले प्रकार वर्णन किया गया है, अब उसके विरुद्ध मध्य में निवेश की कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि आगन्तुक त्रिकों का मध्य में निवेश नहीं होता किन्तु अन्त में होता है।

सं०-अब "दृष्टंद्वादशाहे" का समाधान करते हैं:-

वचनात्तु द्वादशाहे। १०।

पद०-वचनात्। तु। द्वादशाहे।

पदा०-(द्वादशाहे) "द्वादशाह" याग में जो आगन्तुक त्रिकों का स्तोत्रीय तथा अनुरूप नामक प्रथम द्वितीय त्रिकों के मध्य निवेश होता है वह (वचनात्) वाक्यविशेष के बल से होता है (तु) कल्पना मात्र से नहीं।

भाष्य–और जो यह कथन किया गया है कि जैसे "द्वादशाह" याग में प्रथम तथा द्वितीय दोनों त्रिकों के मध्य आगन्तुक त्रिकों का निवेश होता है वैसेही "अतिरात्र" याग में भी होना चाहिये क्योंकि वह दोनों याग होने से समान है, सो ठीक नहीं, क्योंकि "द्वादशाह" याग में जो प्रथम द्वितीय दोनों त्रिकों के मध्य आगन्तुक त्रिकों का निवेश होता है वह वाक्यविशेष के बल से होता है, यदि द्वादशाह की भांति "अतिरात्र" याग के विषय में भी आगन्तुक त्रिकों के निवेश का विधायक कोई वाक्य-विशेष होता तो अवश्य "अतिरात्र" याग में भी प्रथम तथा द्वितीय त्रिकों के मध्य आगन्तुक त्रिकों के निवेश की कल्पना कीजाती परन्तु कोई वाक्यविशेष नहीं मिलता और उसके न मिलने से केवल तर्क द्वारा कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि द्वादशाह की भांति "अतिरात्र" याग में प्रथम तथा द्वितीय त्रिकों के मध्य आगन्तुक त्रिकों का निवेश नहीं होता किन्तु "पर्य्यास" नामक त्रिक के अन्त में होता है।

सं०–अब द्वादशाह की भांति अतिरात्र याग में आगन्तुक त्रिकों का निवेश न होने में युक्ति कथन करते हैं:–

अतद्विकारश्च । ११ ।

पद०–अतद्विकारः । च ।

पदा०–(च) और (अतद्विकारः) "द्वादशाह" याग की विकृति न होने से भी "अतिरात्र" याग में उक्त याग की भांति निवेश नहीं होसक्ता।

भाष्य–यदि "अतिरात्र" याग द्वादशाह याग की विकृति होता तो अवश्य उसमें उक्त याग की भांति आगन्तुक मन्त्रों के

त्रिकों का निवेश होता परन्तु वह उसकी विकृति नहीं किन्तु ज्योतिष्टोम की विकृति है और ज्योतिष्टोम में आगन्तुक त्रिकों के निवेश का विधायक कोई वाक्यविशेष नहीं है जिसके बल से मध्य-निवेश की कल्पना कीजाय और बिना प्रमाण कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "अतिरात्र" याग में द्वादशाह की भांति आगन्तुक त्रिकों का निवेश नहीं होता ।

सं०–अब द्वादशाह याग की विकृति अहीन, सत्रादि यागों में "वृषण्वत्" शब्द वाले मन्त्रों को छोड़कर शेष आगन्तुक मन्त्रों का अन्त में ही निवेश कथन करते हैं :–

तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् । १२ ।

पद०–तद्विकारे । अपि । अपूर्वत्वात् ।

पदा०–(तद्विकारे) द्वादशाह याग की विकृति अहीन, सत्रादि यागों में (अपि) भी "वृषण्वत्" शब्द वाले मन्त्रों से भिन्न मन्त्रों का मध्य में निवेश नहीं होसक्ता, क्योंकि (अपूर्वत्वात्) वह वाक्य-विशेष विहित नहीं हैं ।

भाष्य–अतिरात्र याग की तो कथा ही क्या द्वादशाह याग की विकृति अहीन, सत्रादि नामक यागों में भी उन आगन्तुक मन्त्रों का मध्य में निवेश नहीं होसक्ता जिनका उक्त वाक्यविशेष में विधान नहीं कियागया है अर्थात् उक्त वाक्यविशेष में केवल "वृषण्वत्" शब्द वाले आगन्तुक मन्त्रों का मध्य में निवेश विधान किया है सब आगन्तुक मन्त्रों का नहीं और जिनका विधान नहीं किया उनका अतिदेश द्वादशाह की विकृति अहीन, सत्रादि नामक यागों में ही नहीं होता तो अतिरात्र नामक याग में कैसे होसक्ता है जो उसकी विकृति भी नहीं है, इसलिये द्वादशाह

की भांति अतिरात्र याग में आगन्तुक मन्त्रों के निवेश की कल्पना करना ठीक नहीं और उसके ठीक न होने से सिद्ध है कि अतिरात्र याग में आगन्तुक मन्त्रों का निवेश "वहिष्पवमान" स्तोत्र के अन्त में होता है मध्य में नहीं।

सं०–अब आगन्तुक सामों का मध्य में निवेश कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:–

अन्तेतूत्तरयोर्दध्यात्। १३।

पद०–अन्ते। तु। उत्तरयोः। दध्यात्।

पदा०–"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (उत्तरयोः) माध्यन्दिन पवमान तथा आर्भव पवमान सामों के आधार प्रथम तथा द्वितीय त्रिक को छोड़कर (अन्ते) अन्तिम त्रिक में आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिये।

भाष्य–"अतिरात्र" याग में जो "वहिष्पवमान" स्तोत्र गाया जाता है उसके तीन त्रिक होते हैं यह पीछे कथन कियागया है, उक्त स्तोत्र में साम वृद्धि के लिये जो आगन्तुक सामों का निवेश किया जाता है वह अन्तिम त्रिक में होना चाहिये किंवा मध्य में? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि आगन्तुक साम भी आगन्तुक मन्त्रों के समान है और आगन्तुक मन्त्रों का अन्त में निवेश निर्णीत है, इसलिये आगन्तुक सामों का निवेश भी उक्त स्तोत्र पठित तीनों त्रिकों के मध्य अन्तिम मे त्रिक में ही होना चाहिये मध्य में नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:–

गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सुवचनात्। १४।

पद०-गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु । वचनात् ।

पदा०-(गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु) गायत्री, बृहती तथा अनुष्टुप् छन्द वाले मन्त्रों में आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिये, क्योंकि (वचनात्) वाक्यविशेष से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-यदि आगन्तुक सामों के निवेश का विधायक कोई वाक्यविशेष न होता तो अवश्य आगन्तुक मन्त्रों की भांति उनका भी अन्त में ही निवेश किया जाता, परन्तु " त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री बृहती अनुष्टुप् च, अत्र ह्येवा वपन्ति, अतएवोद्वपन्ति "=गायत्री, बृहती तथा अनुष्टुप् यह तीनों छन्द यज्ञ के उदर हैं, इसलिये स्तोत्र में सामों की वृद्धि के लिये इन्हीं तीनों में आगन्तुक सामों का निवेश और इसके लिये इन्हीं तीनों से पूर्व स्थित सामों का निकास होता है, इस वाक्यविशेष द्वारा गायत्री, बृहती तथा अनुष्टुप् छन्द वाले मन्त्रों में आगन्तुक सामों के निवेश का विधान पाया जाता है और उसके पाये जाने से अन्य कोई कल्पना करना ठीक नहीं, माध्यन्दिन पवमान में "उच्चातेजातमन्धसः" इत्यादि तीन मन्त्र और आर्भव पवमान में "स्वादिष्ठया" इत्यादि तीन मन्त्र गायत्री छन्द वाले हैं, इसलिये इन्हीं में आगन्तुक सामों का निवेश होता है अन्तिम त्रिक में नहीं।

सं०-अब ग्रहों तथा इष्टकाओं को याग और अग्नि का शेष कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेषः स्यात् । १६ ।

पद०—ग्रहेष्टकम् । औपानुवाक्यं । सवनचितिशेषः । स्यात् ।

पदा०—(औपानुवाक्यं) अनारभ्य पठित (ग्रहेष्टकम्) ग्रह तथा इष्टकायें (सवनचितिशेषः) सवन तथा चयन का शेष (स्यात्) हैं ।

भाष्य—"अदाभ्यं गृह्णाति, अंशुं गृह्णाति" = "अदाभ्य" तथा "अंशु" नामक ग्रहविशेषों का ग्रहण करे, इत्यादि वाक्यों से अदाभ्य तथा अंशु यह दो ग्रह और "चित्रिणीरुपदधाति, वज्रिणीरुपदधाति" = जिस कुण्डविशेष में अग्नि रखी जाती है उसके बनाने को "चयन" वा "चिति" कहते हैं अर्थात् ईटों की चिनावट का नाम "चिति" वा "चयन" है, यह चयन पंक्तिवार होता है यह सर्वानुभव सिद्ध है, उक्त कुण्ड के बनाने काल में चित्रिणी तथा वज्रिणी नामक इष्टका = ईटें लगावे, इत्यादि वाक्यों से चित्रिणी आदि इष्टका विधान की हैं उक्त ग्रह यागान्तःपाती प्रातः आदि सवनों के अङ्ग हैं किंवा याग के तथा चित्रिणी आदि इष्टकायें चिति का अङ्ग है किंवा अग्नि का ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त ग्रहों का ग्रहण सवननिष्पत्ति तथा इष्टकाओं का उपधान चितिनिष्पत्ति के लिये विधान किया है याग तथा अग्निनिष्पत्ति के लिये नहीं, और जिसकी निष्पत्ति के लिये जिनका विधान किया गया है उसी का अङ्ग उनको होना चाहिये अन्य का नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त दोनों ग्रहसवन का तथा उक्त इष्टका चिति का अङ्ग है याग तथा अग्नि का नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

क्रत्वग्निशेषो वा चोदितत्वादचोदना तु पूर्वस्य । १६ ।

पद०-क्रत्वग्निशेषः । वा । चोदितत्वात् । अचोदना । तु । पूर्वस्य ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (क्रत्वग्निशेषः) उक्त ग्रह याग का तथा इष्टका में अग्नि का शेष=अङ्ग है, क्योंकि (चोदितत्वात्) याग तथा अग्नि की अङ्गरूपता से उनका विधान पाया जाता है (तु) और (पूर्वस्य) सवन तथा चिति की अङ्गता का (अचोदना) विधान नहीं पायाजाता।

भाष्य-यद्यपि ग्रह तथा इष्टकायें सवन और चिति निष्पत्ति के लिये विधान कीगई हैं तथापि सवन तथा चिति दोनों फलवान् नहीं और अनारभ्य पठित का फलवाले के साथ अङ्गतया सम्बन्ध होना उचित है फल वाला याग तथा अग्नि है दूसरे "यो अदाभ्यं गृहीत्वा सोमा यजते"=जो "अदाभ्य" ग्रह को पकड़कर सोम याग करता है, इत्यादि वाक्यों से "अदाभ्य" तथा "अंशु" ग्रह का याग के साथ और "य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते"=जो पुरुष ऐसा जानकर अग्नि का चयन =स्थापन करता है, इत्यादि वाक्यों से इष्टकाओं का अग्नि के साथ साक्षात् सम्बन्ध पायाजाता है और जिनका जिनके साथ साक्षात् सम्बन्ध विधान पायाजाता है उनको उन्हीं का अङ्ग होना उचित है, सवन तथा चिति के साथ जो ग्रह तथा इष्टकाओं का सम्बन्ध है वह याग तथा अग्नि के द्वारा है साक्षात् नहीं, अतएव वह अङ्गता का प्रयोजक भी नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध है कि "अदाभ्य" तथा

"अंशु" ग्रह याग का और "चित्रिणी" आदि इष्टकायें अग्नि का शेष = अङ्ग है, सवन तथा चिति का नहीं ॥

सं०—अत्र चित्रिणी आदि इष्टकाओं का मध्यम चिति में उपधान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

अन्ते स्युरव्यवायात् । १७ ।

पद०—अन्ते । स्युः । अव्यवायात् ।

पदा०—(अन्ते) चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान अन्तिम चिति में (स्युः) होना चाहिये, क्योंकि (अव्यवायात्) ऐसा होने से प्रकरण पठित इष्टकाओं का परस्पर व्यवधान नहीं होता ।

भाष्य—अप्रकरणपठित ब्राह्मण वाक्य से जिनका विधान किया गया है ऐसी अग्नि की अङ्गभूत पूर्वोक्त चित्रिणी आदि इष्टकाओं का अन्तिम चिति में उपधान होना चाहिये किंवा मध्यम चिति में ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जिस कुण्ड की निष्पत्ति के लिये इष्टकाओं का चयन होता है उसमें पाञ्च चिति होती हैं, यदि अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं का मध्यम चिति में उपधान किया जाय तो प्रकरण पठित इष्टकाओं के उपधान का परस्पर व्यवधान होजाता है और व्यवधान होने से उनके क्रम का भङ्ग होजाता है और यदि चार चितियों में प्रकरण पठित इष्टकाओं का उपधान करके अन्तिम चिति में अप्रकरण पठितों का उपधान कियाजाय तो उक्त क्रम भङ्ग नहीं होता और यथासंभव क्लृप्तक्रम का भङ्ग न होना ही उचित है और वह तभी होसक्ता है जब कि अप्रकरण पठित इष्टकाओं का मध्यम चिति में उपधान न कियाजाय किन्तु अन्तिम चिति में कियाजाय.

इसलिये सिद्ध है कि अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं का मध्यम चिति में उपधान नहीं होता किन्तु अन्तिम चिति में होता है ॥

सं०—अब उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग कथन करते हैं :-

लिङ्गदर्शनाच्च । १८ ।

पद०—लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"आवपनं वा उत्तमाचितिः अन्या इष्टका उपदधाति" = अन्तिम चिति निराश्रित इष्टकाओं का स्थान है इसलिये उसमें निराश्रित इष्टकाओं को लगाये, इस वाक्य में जो निराश्रित इष्टकाओं का अन्तिम चिति स्थान कथन किया है वह अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं के अन्तिम चिति में उपधान का अङ्ग है क्योंकि उसमें निराश्रितों का अन्तिम चिति स्थान स्पष्ट है, निराश्रित तथा अप्रकरण पठित यह दोनों समान हैं, इसलिये सिद्ध है कि अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं का अन्तिम चिति में उपधान होता है मध्यम चिति में नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

मध्यमायान्तु वचनाद् ब्राह्मणवत्यः । १९ ।

पद०—मध्यमायां । तु । वचनात् । ब्राह्मणवत्यः ।

पदा०—" तु " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (ब्राह्मणवत्यः) अप्रकरण पठित ब्राह्मण वाक्य से जिनका

विधान किया गया है ऐसी चित्रिणी आदि इष्टकाओं का (मध्यमायां) मध्यम चिति में उपधान होना चाहिये, क्योंकि (वचनात्) वाक्यविशेष से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य-यदि उक्त इष्टकाओं के उपधान का विधायक कोई वाक्यविशेष न होता तो अवश्य प्रकरण पठित इष्टकाओं के क्रम संरक्षणार्थ उक्त लिङ्गानुसार अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं का अन्तिम चिति में उपधान स्वीकार किया जाता परन्तु "**यां कां च ब्राह्मणवतीमिष्टकामभिजानीयात् तां मध्यमायां चितौ**"=जिस इष्टि को जाने कि यह अप्रकरण पठित ब्राह्मण वाक्य से विहित है उसका मध्यम चिति में उपधान करे, इस वाक्यविशेष से अप्रकरण पठित यावत् इष्टकाओं का मध्यम चिति में उपधान सिद्ध है और जो सिद्ध है उसी का स्वीकार उचित है और वाक्यविशेष विहित होने से प्रकरण पठित इष्टकाओं के क्रम का अङ्ग भी कोई दोष नहीं और उक्त लिङ्ग भी वाक्यविशेष विहित से अन्य स्थल में चरितार्थ है, अतएव उसका अनुसरण भी अकिञ्चित्कर है और उक्त वाक्य की अपेक्षा उक्त इष्टकाओं के अन्तिम चिति में उपधान का नियामक कोई प्रबल प्रमाण भी नहीं मिलता, इसलिये सिद्ध है कि उक्त चित्रिणी आदि इष्टकाओं का मध्यम चिति में ही उपधान होना ठीक है अन्तिम चिति में नहीं ।

सं०-अब "लोकंपृणा" नामक इष्टकाओं से पूर्व उक्त चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान कथन करते हैं :-

प्राग् लोकंपृणायास्तस्याः सम्पूर्णार्थ-

त्वात् । २० ।

पद०-प्राग् । लोकंपृणायाः । तस्याः । सम्पूर्णार्थत्वात् ।

पदा०-(लोकंपृणायाः) "लोकंपृणा" नामक इष्टकाओं से (प्राग्) प्रथम चित्रिणी आदि का मध्यम चिति में उपधान होना चाहिये, क्योंकि (तस्याः) "लोकंपृणा" (सम्पूर्णार्थत्वात्) केवल छिद्र पूर्ण करने के लिये है ।

भाष्य-"चित्रिणीरुपदधाति, वज्रिणीरुपदधाति, भूतेष्टका उपदधाति"=चित्रिणी, वज्रिणी तथा भूतेष्टका का मध्यम चिति में उपधान करे, इत्यादि वाक्यों से जो अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान कथन किया है वह प्रकरण पठित इष्टकाओं से अन्त में होने वाली "लोकंपृणा" नामक इष्टका से पूर्व होना चाहिये किंवा पश्चात्? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि कुण्ड की भीत चिनने काल में जो ईंटों के मध्य छिद्र रहजाते हैं उनके पूरणार्थ "लोकंपृणा" है अन्य प्रयोजनार्थ नहीं, जैसाकि कहा है कि "यदेवास्योनं यच्छिद्रं तदेतया परिपूरयति"=इष्टकाओं का उपधान करने से जो कुछ न्यूनता अथवा छिद्र रहजाता है उसकी पूर्त्ति लोकंपृणा से होनी चाहिये यदि लोकंपृणा से पूर्व चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान न किया जाय किन्तु पश्चात् कियाजाय तो न्यूनता तथा छिद्र की पूर्त्ति नहीं होसक्ती क्योंकि उसके पूर्ण करने वाली "लोकंपृणा" का पहले ही उपधान होचुका है और यदि चित्रिणी आदि का

उपधान लोकंपृणा से पूर्व कियाजाय तो न्यूनता तथा छिद्रों की पूर्ति लोकंपृणा से होसक्ती है और उसके होने से उक्त वाक्य भी चरितार्थ होजाता है अन्यथा नहीं, इसलिये सिद्ध है कि चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान लोकंपृणा से पूर्व होना चाहिये पश्चात् नहीं।

सं०—अब पवमानेष्टियों संस्कृत अग्नि में अग्निहोत्रादि कर्मों की कर्तव्यता कथन करते हैं:—

संस्कृते कर्म संस्काराणां तदर्थत्वात्। २१।

पद०—संस्कृते। कर्म। संस्काराणां। तदर्थत्वात्।

पदा०—(संस्कृते) पवमानेष्टि रूप संस्कारों से युक्त अग्नि में (कर्म) अग्निहोत्रादि कर्म कर्तव्य हैं, क्योंकि (संस्काराणां) उक्त संस्कार (तदर्थत्वात्) उक्त कर्मों की कर्तव्यतार्थ ही विधान किये गये हैं।

भाष्य—अग्न्याधान के अनन्तर "द्वादशसुरात्रिष्वनुनिर्वपेत्" = द्वादश रात्रि पर्य्यन्त पवमानेष्टियें करे, इत्यादि वाक्यों से विहित संस्कार रूप पवमानेष्टियें कीजाती हैं, अग्निहोत्रादि कर्म उक्त इष्टियों से पूर्व कर्तव्य हैं किंवा पश्चात् त्रयोदश दिन से लेकर कर्तव्य हैं अर्थात् अग्न्याधान के अनन्तर ही अग्निहोत्रादि कर्म कर्तव्य हैं अथवा अग्न्याधान के अनन्तर पवमानेष्टि रूप संस्कारों से संस्कृत अग्नि में कर्तव्य हैं? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि केवल आधानमात्र से अग्नि वैदिक कर्मों के अनुष्ठानार्ह नहीं होती और उसके अनर्ह होने

से उसमें उक्त कर्मों की कर्तव्यता निष्फल है और आधान की गई अग्नि मात्र को ही यदि अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठानार्ह माना जाय तो आधान के अनन्तर जो पवमानेष्टियों का विधान किया है वह सर्वथा अनुपपन्न होजाता है सो ठीक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त इष्टियों का विधान अग्नि को वैदिक कर्मों के अनुष्ठानार्ह बनाने के लिये कियागया है जब उक्त इष्टियों से अग्नि संस्कृत होजाती है तब उसमें अनुष्ठान किये उक्त वैदिक कर्म प्रभूत फल के जनक होते हैं अर्थात् जैसे मनुष्य स्नानादि संस्कारों से संस्कृत हुआ सन्ध्यावन्दनादि वैदिक कर्म के अनुष्ठानार्ह होजाता है वैसे ही आधान कीगई अग्नि भी उक्त इष्टि रूप संस्कार से संस्कृत हुई वैदिक कर्मों के अनुष्ठानार्ह होजाती है और स्नानादि संस्कार हीन पुरुष की भांति उक्त इष्टिरूप संस्कारों से हीन नहीं, इसलिये सिद्ध है कि आधान के अनन्तर पवमानेष्टि रूप संस्कारों से संस्कृत अग्नि में ही अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म कर्तव्य हैं असंस्कृत में नहीं ॥

सं०-ननु, जैसे अग्निहोत्रादि कर्म पवमानेष्टियों के अनन्तर कर्तव्य हैं वैसे ही आहिताग्निकर्तृक व्रत भी अनन्तर ही कर्तव्य होने चाहियें, अब इस आशङ्का का समाधान करते हैं :-

अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात् । २२ ।

पद०-अनन्तरं । व्रतं । तद्भूतत्वात् ।

पदा०-(व्रतं) आहिताग्निकर्तृक व्रत (अनन्तरं) आधानानन्तर कर्तव्य हैं, क्योंकि (तद्भूतत्वात्) उनका आधान मात्र से सम्बन्ध है ।

भाष्य-"आहिताग्निर्नक्लिन्नंदार्वभ्यादध्यात्"= आहिताग्नि में पुरुष गीली लकड़ी न डाले, इत्यादि वाक्यों से जो गीली लकड़ियों का न डालनादि व्रत विधान किये हैं वह आहिताग्नि पुरुषमात्र से सम्बन्ध रखती है और जिस पुरुष ने अग्नि का आधान यथाविधि किया है उसका नाम "आहिताग्नि" है, यदि उक्त व्रतों का सम्बन्ध अग्नि के साथ होता तो अवश्य वही पवमानेष्टियों के अनन्तर ही कर्तव्य होते परन्तु उनका सम्बन्ध आहिताग्नि पुरुष के साथ है और पुरुष आधान दिन से ही आहिताग्नि होजाता है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त व्रत अग्निहोत्रादि कर्म की भांति पवमानेष्टियों से पश्चात् कर्तव्य नहीं किन्तु उनसे पूर्व तथा आधान से पश्चात् कर्तव्य हैं।

सं०-अब पवमानेष्टियों से पूर्व अग्निहोत्रादि कर्मों की कर्तव्यता का पूर्वपक्ष करते हैं:-

पूर्वञ्च लिङ्गदर्शनात् ॥ २३ ॥

पद०-पूर्व। च। लिङ्गदर्शनात्।

पदा०-"च" शब्द "तु" शब्दार्थक होने से पूर्वपक्ष के लिये आया है (पूर्व) अग्निहोत्रादि कर्म पवमानेष्टियों के पूर्व कर्तव्य हैं क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"अग्निंवैसृष्टमग्निहोत्रेणानुद्रवन्ति"=आधान से उत्पन्न हुई अग्नि के पीछे अग्निहोत्र के द्वारा जाते हैं, इस वाक्य में जो अग्निहोत्र द्वारा आधान कीगई अग्नि के पीछे पुरुषों का जाना कथन किया है वह आधान के अनन्तर अग्निहोत्रादि कर्मों की कर्तव्यता में लिङ्ग है, यदि उक्त कर्म पवमानेष्टियों के अनन्तर

कर्तव्य होते तो अग्निहोत्र द्वारा पुरुषों का आधानानन्तर ही अग्नि के पीछे जाना कथन न किया जाता परन्तु किया है इसलिये सिद्ध है कि उक्त कर्म पवमानेष्टियों के अनन्तर कर्तव्य नहीं किन्तु उनसे पूर्व आधानानन्तर कर्तव्य हैं॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अर्थवादो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् । २४ ।

पद०-अर्थवादः । वा । अर्थस्य । विद्यमानत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (अर्थवादः) उक्त वाक्य अर्थवाद है क्योंकि (अर्थस्य) उसका स्तुत्यर्थ (विद्यमानत्वात्) विधान कियागया है।

भाष्य-उक्त वाक्य आधान के अनन्तर नित्याग्निहोत्रादि कर्मों की कर्तव्यता का मापक नहीं किन्तु पवमानेष्टियों की भांति आधान के अङ्गभूत "तूष्णीं होम" का स्तावक अर्थवाद है, क्योंकि "ब्रह्मवादिनो मीमांसन्ते होतव्यं, अग्निहोत्रं न-होतव्यं, यद्यजुषा जुहुयात्, अयथापूर्वमाहुती जुहुयात्, यदि न जुहुयात् अग्निःपरापतेत्, तूष्णीमेव होतव्यम्"=वेदवादी विचार करते हैं कि आधानान्तर होम करना चाहिये परन्तु अग्निहोत्र न कराना चाहिये जो याजुष मन्त्रों से होम कियाजाता है वह पवमानेष्टियों के उत्तर काल में होने वाले अग्निहोत्र से विरुद्ध है, यदि हवन न कियाजाय तो अग्नि-तिरस्कृत होजाती है, इसलिये तूष्णीं=विना मन्त्रोच्चारण किये होम करना चाहिये, इत्यादि वाक्यों से नित्य अग्निहोत्रादि के

अतिरिक्त तूष्णी अग्निहोत्र का विधान पायाजाता है और उक्त अर्थवाद वाक्य में इसी तूष्णी होम की स्तुति कीगई है और यह होम पवमानेष्टियों की भांति आन्याधान का अङ्ग होने से आधानान्तर होसक्ता है परन्तु इससे नित्याग्निहोत्रादि कर्मों की पवमानेष्टियों से पूर्व कर्तव्यता प्राप्त नहीं होती और प्राप्त न होने से कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि अग्निहोत्रादि कर्म पवमानेष्टियों के अनन्तर ही होने चाहियें पूर्व नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ की सिद्धि में युक्ति कथन करते हैं:-

न्यायविप्रतिषेधाच्च । २५ ।

पद०-न्यायविप्रतिषेधात् । च ।

पदा०-(च) और (न्यायविप्रतिषेधात्) उक्त "ब्रह्मवादिनोमीमांसन्ते" वाक्य में नित्याग्निहोत्रादि कर्मों की कर्तव्यता का निषेध पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"**ब्रह्मवादिनो मीमांसन्ते**" वाक्य में जो "**अग्निहोत्रं न होतव्यं**" से आधानानन्तर नित्य अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान का निषेध किया है इससे स्पष्ट है कि उक्त अर्थवाद वाक्य में नित्य अग्निहोत्र को छोड़कर किसी अन्य हवन की प्रशंसा पूर्वक प्राप्ति कथन कीगई है, क्योंकि उसमें नित्य अग्निहोत्र की प्राप्ति माननेसे विधि तथा निषेध दोनों का परस्पर विरोध होजाता है, दूसरे "**अग्निहोत्रनहोतव्यं**" इस निषेध वाक्य में "अग्निहोत्र" का निषेध स्पष्ट रूप से किया है और इससे पूर्ववर्ती वाक्य में केवल "होतव्य" से हवन विधान करके अन्त

में पुनः "तूष्णीं होतव्यं" से पूर्वविहित हवन की "तूष्णीहोम" संज्ञा कथन की है इन दोनों के पर्य्यालोचन से यह निःसन्देह बुद्धिस्थ होजाता है कि उक्त अर्थवाद वाक्य में जिस होम की प्रशंसा की गई है वह नित्याग्निहोत्र नहीं किन्तु "तूष्णी होम" है और वह भी पवमानेष्टियों की भांति आधान का अङ्ग है और अङ्ग होने से उसका उक्त इष्टियों से पूर्व अनुष्ठान होना उचित है अनुचित नहीं, इसलिये सिद्ध है कि नित्य अग्निहोत्रादि कर्म पवमानेष्टि रूप संस्कारों से संस्कृत अग्नि में अनुष्ठेय है असंस्कृत में नहीं ॥

सं०–अब "अग्निचित्" पुरुषकर्तृक व्रतों का याग के अनन्तर अनुष्ठान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

सञ्चिते त्वग्निचिद्युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य । २६ ।

पद०–सञ्चिते । तु । अग्निचिद्युक्तं । प्रापणात् । निमित्तस्य ।

पदा०–"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (अग्निचिद्युक्तं) "अग्निचित्" पद वाले वाक्य से विधान किये व्रत (सञ्चिते) अग्नि का चयन होजाने पर कर्तव्य हैं क्योंकि (निमित्तस्य) उनका निमित्त चयन (प्रापणात्) प्राप्त है ।

भाष्य– "**अग्निचिद्वर्षति न धावेत् न स्त्रियमुपेयात्**"=अग्निचित् पुरुष वर्षा में न दौड़े तथा स्त्री का संग न करे, इत्यादि वाक्यों से जो अग्निचित्पुरुषकर्तृक "वर्षा में अधावन" आदि व्रत विधान किये हैं वह चयन मात्र के निष्पन्न होजाने पर कर्तव्य हैं किंवा चयनानन्तर होने वाले याग की

निष्पत्ति के अनन्तर ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त व्रत विधायक वाक्य में "अग्निचित्" पद का प्रयोग किया है उसके प्रयोग करने से चयन ही उक्त व्रतों का निमित्त प्रतीत होता है क्योंकि "योऽग्निंचितवान् सोऽग्निचित्"=जिसने अग्नि का चयन किया हो उसको "अग्निचित्" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार अग्नि का चयन करने वाला ही "अग्निचित्" कहलाता है, चयनानन्तर यागानुष्ठायी नहीं, यदि उक्त वाक्य में उक्त व्रतों के अनुष्ठान का निमित्त याग कथन किया होता अथवा किसी पद के प्रयोग से पाया जाता तो अवश्य याग निष्पत्ति के अनन्तर उक्त व्रतों के अनुष्ठान की कल्पना कीजाती परन्तु कथन नहीं किया और न पाया जाता है और चयन रूप निमित्त स्पष्ट रूप से उपलब्ध होरहा है और निमित्त के उपलब्ध होने से नैमित्तिक का होना आवश्यक है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त व्रतों का अनुष्ठान अग्निचयन के अनन्तर ही कर्तव्य है यागानन्तर नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात्। २७।

पद०—क्रत्वन्ते। वा। प्रयोगवचनाभावात्।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (क्रत्वन्ते) याग के अनन्तर उक्त व्रत कर्तव्य हैं क्योंकि (प्रयोगवचनाभावात्) चयन के अनन्तर अनुष्ठान का बोधक कोई वाक्य नहीं पाया जाता।

भाष्य—याग में उपयोग के लिये अग्नि का चयन रूप संस्कार किया जाता है और वह तभी सफल होसक्ता है जब किया जाय और याग के किये जाने पर ही पुरुष को "अग्नि-चित्" कहसक्ते हैं अन्यथा नहीं अर्थात् जिस "अग्निचित्" प्रयोग के बल से चयनानन्तर व्रतों का अनुष्ठान कथन किया है उसका अर्थ अग्निचयन करने वाला नहीं किन्तु "अग्नौचेः" अष्टा० ३।२।९१=चयन कीगई अग्नि में याग का अनुष्ठान होजाने पर "चिञ्" धातु से "कर्ता" अर्थ में "क्विप्" प्रत्यय हो, इस पाणिनि सूत्र के अनुसार चयनसाध्य याग करने वाला है जिससे याग के अनन्तर उक्त व्रतों की कर्तव्यता स्पष्ट है और कोई वाक्यविशेष चयनानन्तर व्रतों के अनुष्ठान का बोधक उपलब्ध नहीं होता जिसके सहारे चयननिष्पत्ति के पश्चात् उक्त व्रतों का अनुष्ठान कल्पना कियाजाय और यागानन्तर अनुष्ठान का कल्पक "अग्निचित्" प्रयोग ही पर्य्याप्त है प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त व्रतों का अनुष्ठान चयनानन्तर कर्तव्य नहीं किन्तु चयनानन्तर भावी याग निष्पत्ति के अनन्तर कर्तव्य है।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :—

अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात्। २८।

पद०—अग्नेः। कर्मत्वनिर्देशात्।

पदा०—(अग्नेः) और अग्नि का (कर्मत्वनिर्देशात्) कर्म-कारक द्वारा कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—"य एवं विद्वान् अग्निंचिनुते" = जो इस

प्रकार जानकर अग्नि का चयन करता है, इस अग्निचयन विधायक वाक्य में "अग्नि" का कर्मकारक द्वितीया विभक्ति से निर्देश किया है और "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" अष्टा० १।४।४९=कर्त्ता को जो अत्यन्त इष्ट हो उसकी कर्म संज्ञा होती है, और "कर्मणि द्वितीया" अष्टा०२।३।२= कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है, इत्यादि सूत्रों से "ईप्सिततम"=अत्यन्त इष्ट पदार्थ की कर्मकारक संज्ञा तथा कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति सिद्ध है, और जिस अग्नि का उक्त कर्म विभक्ति से निर्देश कियागया है वह चयन मात्र से ईप्सिततम नहीं होसक्ती किन्तु चयनसाध्य याग निष्पत्ति का साधन होने से होसक्ती है और और जिसकी निष्पत्ति का साधन होने से वह ईप्सिततम होसक्ती है उसी की अपेक्षा उसका कर्म विभक्ति से निर्देश कल्पना करना उचित है, चयन क्रिया की अपेक्षा नहीं, इसलिये सिद्ध है कि चयन साध्य याग के अनन्तर उक्त व्रतों की कर्तव्यता "अग्निचिद् वर्षति न धावेत्" आदि वाक्यों से विधान कीगई है चयन निष्पत्ति के अनन्तर नहीं, अतएव उक्त व्रत यागानन्तर ही कर्तव्य हैं पूर्व नहीं।

सं०—अब "दीक्षणीय" इष्टिमात्र को दीक्षासिद्धि का हेतु कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

परेणावेदनाद्दीक्षितः स्यात् सर्वैर्दीक्षाभिसम्बन्धात् ॥ २९ ॥

पद०—परेण । आवेदनात् । दीक्षितः । स्यात् । सर्वैः । दीक्षाभिसम्बन्धात् ।

पदा०—(परेण) " अध्वर्यु " नाम ऋत्विक् के (आवेदनात्) ज्नाने से पीछे (दीक्षितः) दीक्षित व्यवहार (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (सर्वैः)दीक्षाविधायक वाक्यों से इष्टि, दण्ड आदि सम्पूर्ण पदार्थों के साथ (दीक्षाभिसम्बन्धात्) दीक्षा का सम्बन्ध पाया जाता है ।

भाष्य—" आग्नावैष्णवमेकादशकपालंनिर्वपेद्दीक्षिष्यमाणः "=याग की दीक्षा लेने वाला पुरुष प्रकाशस्वरूप सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा के उद्देश से ग्यारह कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का प्रदान करे, " दण्डेन दीक्षयति, मेखलया दीक्षयति, कृष्णाजिनेन दीक्षयति "=दण्ड, मेखला=तड़ागी तथा कृष्णाजिन = काले कम्बल से दीक्षित करे, इत्यादि वाक्यों से इष्टि आदि दीक्षा के निमित्त विधान करके पश्चात् " अदीक्षिष्टायं ब्राह्मणः " = भो यज्ञ में ऋत्विजों तथा अन्य पुरुषों सावधान होकर सुनो यह वैदिक कर्म के अनुष्ठान के लिये दीक्षा को प्राप्त हुआ, इस प्रकार अध्वर्यु का यज्ञोपस्थित सब पुरुषों के प्रति आवेदन = निवेदन कथन किया है, इसमें इष्टि, दण्ड आदि सम्पूर्ण दीक्षा का निमित्त हैं किंवा केवल इष्टि निमित्त है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि " दीक्षित " इस प्रकार का व्यवहार अध्वर्यु के अवेदन से पश्चात् होता है और अध्वर्यु का आवेदन इष्टि आदि सम्पूर्ण पदार्थों के अनन्तर सर्वसम्मत है

और उसके सर्वसम्मत होने से जैसे दीक्षा का निमित्त "दीक्षणीयेष्टि" सिद्ध है वैसे ही दण्डादि भी दीक्षा के निमित्त सिद्ध होते हैं; क्योंकि इष्टि की भांति उनका भी "दीक्षति" क्रिया के साथ सम्बन्ध है और सबका सम्बन्ध समान होने पर एक को निमित्त तथा अन्य को अनिमित्त नहीं मान सक्के, दीक्षणीयेष्टि रूप क्रिया ही एक समर्थ है दण्डादिक नहीं, क्योंकि वह द्रव्य है और द्रव्य को क्रिया साधनत्व होने पर भी संस्कार रूप धर्म साधनता सिद्ध नहीं और उक्त क्रियानिष्ठ धर्म की उत्पादकता "दीक्षिष्यमाणः" इस प्रयोग से स्पष्ट है, इसमें विशेष वक्तव्य की अवश्यकता नहीं, और जो दण्डादि की दीक्षा के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है वह उपलक्षणता के अभिप्राय से है क्योंकि दण्डादि के देखने से झट विदित होजाता है कि यह दीक्षित है और उपलक्षण होने से वह दीक्षा रूप धर्म के हेतु नहीं होसक्के और आवेदन केवल पूर्वसिद्ध का अनुवादक है उत्पादक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि दीक्षा की सिद्धि का हेतु केवल उक्त इष्टि है दण्डादिक नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :—

समाख्यानञ्चतद्वत् । ३० ।

पद०—समाख्यानं । च । तद्वत् ।

पदा०—(च) और (समाख्यानं) "दीक्षणीया" इस समाख्या से भी (तद्वत्) उक्त इष्टि दीक्षा की हेतु सिद्ध होती है।

भाष्य—उक्त इष्टि की "दीक्षणीया" समाख्या तभी होसक्ती है जब उसको दीक्षासिद्धि का हेतु माना जाय अन्यथा नहीं, और उक्त इष्टि की "दीक्षणीया" समाख्या सर्वसम्मत है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त इष्टि ही दीक्षा का निमित्त है दण्डादिक नहीं।

सं०-अब काम्य यागों के यथाक्रम अनुष्ठान का अनियम कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

अङ्गवत् क्रतूनामानुपूर्व्यम् । ३१ ।

पद०-अङ्गवत् । क्रतूनाम् । आनुपूर्व्यम् ।

पदा०-(अङ्गवत्) जैसे "प्रयाज" आदि अङ्गकर्मों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार होता है वैसे ही (क्रतूनां) काम्ययागों का अनुष्ठान भी (आनुपूर्व्यं) यथापाठक्रम होना चाहिये।

भाष्य-"ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकामः"=परमैश्वर्य्यवान् प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से ग्यारह कपालों में पकाये पुरोडाश का निर्वाप करे, इत्यादि वाक्यों से यथाक्रम अनेक "काम्ययाग" विधान किये हैं, फल की कामना रखकर जो याग किया जाता है उसको "काम्य याग" कहते हैं, उक्त याग जिस क्रम से विधान किये गये हैं उसी क्रम से अनुष्ठेय हैं किंवा अपनी इच्छानुसार जिसका चाहे प्रथम अनुष्ठान करे चाहे पश्चात् यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि पाठक्रम अनुष्ठान क्रम का हेतु है जैसाकि प्रयाजों के अनुष्ठान विषय में निर्णय किया गया है, उक्त हेतु को छोड़कर यथाकाम अनुष्ठान की कल्पना करनी ठीक नहीं अर्थात् जैसे "प्रयाजों" का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार होता है यथाकाम नहीं वैसे ही काम्य यागों का अनुष्ठान भी होना चाहिये, क्योंकि यागत्व धर्म दोनों में समान है और उक्त धर्म के समान होने से अनुष्ठानक्रम के वैषम्य की कल्पना करना अनुचित है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त काम्य यागों

का अनुष्ठान यथाकाम = अपनी इच्छानुसार नहीं होना चाहिये किन्तु प्रयाजों की भांति पाठक्रमानुसार होना ठीक है ॥

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

नवाऽसम्बन्धात् । ३२ ।

पद०–न । वा । असम्बन्धात् ।

पदा०–" न, वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आये हैं (असम्बन्धात्) उक्त यागों का परस्पर कोई सम्बन्ध न होने से पाठक्रमानुसार अनुष्ठान नहीं होसक्ता ।

भाष्य–" प्रयाज " नामक यागों का परस्पर सम्बन्ध है क्योंकि वह सब के सब एक फल वाले तथा एक याग का अङ्ग हैं और जिनका परस्पर एक फल तथा एक याग सम्बन्ध है उनका पाठक्रमानुसार ही अनुष्ठान होना उचित है परन्तु उक्त काम्य यागों का कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं, क्योंकि फल का भेद होने के कारण वह प्रत्येक स्वतन्त्र याग है और जो परस्पर सम्बन्ध हीन स्वतन्त्र याग हैं उनका पाठक्रमानुसार अनुष्ठान नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध है कि उक्त काम्य यागों का अनुष्ठान अपनी इच्छानुसार होना ठीक है पाठक्रमानुसार नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ की सिद्धि में और हेतु कथन करते हैं :–

काम्यत्वाच्च । ३३ ।

पद०–काम्यत्वात् । च ।

पदा०–(च) और (काम्यत्वात्) काम्य याग होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य–जो काम्य याग होता है उसके अनुष्ठान में अपनी इच्छा कारण होती है और काम्य फल अनन्त हैं और अनुष्ठाता

पुरुषों की रुचि भी विलक्षण हैं एक जिस फल की इच्छा करता है दूसरा उसकी नहीं करता किन्तु दूसरे को करता है, यदि पाठक्रम को अनुष्ठानक्रम का कारण माना जाय तो जिस फल की इच्छा पुरुष को नहीं है वह याग भी उसको बलात् करना पड़ेगा, सो ठीक नहीं, क्योंकि इसमें पुरुष के स्वतन्त्रकर्तृत्व का विध्वंस होजाता है, इसलिये सिद्ध है कि काम्य यागों के अनुष्ठान में अपनी इच्छा नियामक है जिसको चाहे पूर्व जिसको चाहे पश्चात् करे, पाठक्रम के अनुसार अनुष्ठानक्रम आवश्यक नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

आनर्थक्यान्नेतिचेत् । ३४ ।

पद०—आनर्थक्यात् । न । इति । चेत् ।

पदा०—(न) काम्य यागों का अपनी इच्छानुसार अनुष्ठान ठीक नहीं, क्योंकि (आनर्थक्यात्) ऐसा होने से पाठक्रम निरर्थक होजाता है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य—यदि पाठक्रम को छोड़कर अपनी इच्छानुसार उक्त काम्य यागों का अनुष्ठान कियाजाय तो पाठक्रम सर्वथा निरर्थक = निष्फल होजाता है सो ठीक नहीं, क्योंकि यदि वह निष्फल होता तो कदापि उसका उल्लेख न किया जाता परन्तु किया है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त काम्य यागों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार होना उचित है यथाकाम = अपनी इच्छानुसार नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

स्याद् विद्यार्थत्वाद् यथा परेषु सर्व-स्वारात् । ३५ ।

पद०—स्यात् । विद्यार्थत्वात् । यथा । परेषु । सर्वस्वारात् ।

पदा०—(यथा) जैसे (परेषु) नित्य यागों में (सर्वस्वारात्) "सर्वस्वार" होम ज्ञानार्थ होने से सफल है वैसेही (विद्यार्थत्वात्) उक्त पाठक्रम भी ज्ञानार्थ होने से (स्यात्) सफल है ।

भाष्य—उक्त काम्य यागों का जो पाठक्रम है वह ज्ञानार्थ होने से सार्थक है निरर्थक नहीं अर्थात् जैसे नित्य यागों में "सर्वस्वार" संज्ञक होमों का पाठक्रम अनुष्ठानक्रम का नियामक नहीं किन्तु केवल उक्त होमों के ज्ञान का प्रयोजक है वैसेही उक्त काम्य यागों का पाठक्रम भी ज्ञान मात्र का ही प्रयोजक है अनुष्ठान क्रम का प्रयोजक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त यागों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार नहीं किन्तु अपनी इच्छानुसार होना चाहिये ।

सं०—अब सब यागों से पूर्व "अग्निष्टोम" याग का अनुष्ठान कथन करते हैं :—

य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् । ३६ ।

पद०—य, एतेन, इति । अग्निष्टोमः । प्रकरणात् ।

पदा०—(य, एतेन, इति) "य, एतेन" इस वाक्य में "एतेन" शब्द से (अग्निष्टोमः) अग्निष्टोम का ग्रहण है क्योंकि (प्रकरणात्) उसका प्रकरण है ।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग की प्रथम संस्था अग्निष्टोम याग के

प्रकरण में "एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानांयज्ज्योतिष्टोमः, य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत गर्तपत्यमेव हि तज्जीर्येत प्रवामीयेत" = सब यागों से प्रथम याग ज्योतिष्टोम है, जो इसका अनुष्ठान न करके दूसरे का अनुष्ठान करता है वह सब निष्फल जाता और स्वयं अपमृत्यु को प्राप्त होजाता है, इत्यादि वाक्य पढ़े हैं, इनमें "एतेन" शब्द से सम्पूर्ण ज्योतिष्टोम याग का ग्रहण है किंवा उसकी एक संस्था "अग्निष्टोम" याग का? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि उपक्रम में "ज्योतिष्टोम" का उपन्यास होने के कारण "एतेन" शब्द से सम्पूर्ण ज्योतिष्टोम का ग्रहण प्रतीत होता है तथापि उक्त शब्द से उसका ग्रहण ठीक नहीं किन्तु अग्निष्टोम का ग्रहण ही ठीक है, क्योंकि उक्त वाक्य अग्निष्टोम के प्रकरण में पढ़ेगये हैं और जो वाक्य जिस याग के प्रकरण में पढ़ेगये हैं उनमें उसी याग का ग्रहण होना ठीक है अन्य का नहीं, और जो उपक्रम में ज्योतिष्टोम का उपन्यास किया है वह भी अग्निष्टोम के अभिप्राय से ही किया है क्योंकि अग्निष्टोम नित्य याग होने के कारण "ज्योतिष्टोम" का निजरूप है और अत्यग्निष्टोम आदि अनित्य होने के कारण उक्त याग का निजरूप नहीं और जो जिसका निजरूप है वह उसके नाम से उपन्यास कियाजासक्ता है और अवयव में अवयवी का प्रयोग सर्वसम्मत भी है, अतएव "एतेन" से अग्निष्टोम का ही ग्रहण ठीक है सम्पूर्ण ज्योतिष्टोम का नहीं, इसलिये सिद्ध है कि अग्निष्टोम ही सब यागों से प्रथम याग है और उसी का अनुष्ठान सब यागों से प्रथम कर्तव्य है सम्पूर्ण ज्योतिष्टोम का नहीं अर्थात् अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र,

आप्तोर्याम तथा वाजपेय, यह सातों याग ज्योतिष्टोम की सात संस्था हैं इन्हीं सातों को सम्पूर्ण "ज्योतिष्टोम" कहते हैं इनमें अग्नि-ष्टोम नित्य याग और शेष छे काम्ययाग होने के कारण अनित्य याग हैं, उक्त वाक्यों में जो सब यागों से प्रथम याग तथा उसका अनुष्ठान न करके अन्य के अनुष्ठान का निषेध किया है वह केवल "अग्निष्टोम" है शेष छे नहीं, इसलिये सब यागों से प्रथम अग्नि-ष्टोम ही अनुष्ठेय है यही निश्चित सिद्धान्त है ।

सं०-अब उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग कथन करते हैं :-

लिङ्गाच्च । ३८ ।

पद०-लिङ्गात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-उक्त उदाहृत वाक्यों के शेष में "यस्य नवति-शतं स्तोत्रीयाः"=उक्त याग की १९० स्तोत्रीया हैं, यह वाक्य पढ़ा है जो ऋचायें याग में गाई जाती हैं उनका नाम "स्तोत्रीया" है, उक्त वाक्यशेष में जो स्तोत्रीया ऋचाओं की १९० संख्या कथन की है वह "एतेन" शब्द से अग्निष्टोम याग के ग्रहण में लिङ्ग है, क्योंकि उसके बिना अन्य किसी याग में १९० स्तोत्रीया नहीं होतीं यदि "एतेन" शब्द से सम्पूर्ण ज्योतिष्टोम का ग्रहण इष्ट होता तो स्तोत्रीया ऋचाओं की संख्या १९० न कथन कीजाती परन्तु कथन की है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्यों में "एतेन" शब्द से अग्निष्टोम का ग्रहण है और वही सब यागों से प्रथम अनुष्ठेय है ।

स्तोत्रीया ऋचाओं की उक्त संख्या इस प्रकार है "बहिष्पवमान" स्तोत्र में त्रिवृत्त होने के कारण पञ्चदश स्तोत्रीया वाले चार "आज्य" स्तोत्रों में ६० माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र में १५, सप्तदश स्तोत्रीया ऋचा वाले चार "पृष्ठ" स्तोत्रों में ६८ आर्भवपवमान में १७ यज्ञा यज्ञीय में २१।

सं०—अब "ज्योतिष्टोम" याग के सम्पूर्ण विकृति यागों को "अग्निष्टोम" पूर्वकता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

अथान्येनेति संस्थानां सन्निधानात्। ३६

पद०—अथान्येन। इति। संस्थानां। सन्निधानात्।

पदा०—"अथ, अन्येन" "य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन" (इति) इस वाक्य में "अन्य" शब्द से (संस्थानां) ज्योतिष्टोम याग की अत्यग्निष्टोम" आदि शेष छे संस्थाओं का ग्रहण है, क्योंकि (सन्निधानात्) वही अग्निष्टोम की समीपवर्तिनी हैं।

भाष्य—"य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत" इस वाक्य में अग्निष्टोम का अनुष्ठान किये विना जो अन्य याग के अनुष्ठान का निषेध किया है वह अन्य याग कौन हैं क्या "अत्यग्निष्टोमादि" शेष छे संस्थारूप याग हैं किंवा ज्योतिष्टोम के विकृति अविकृति रूप सम्पूर्ण याग हैं अर्थात् उक्त निषेध वाक्य में "अन्य" शब्द से "अत्यग्निष्टोम" आदि छे संस्थाओं का ग्रहण है अथवा उक्त छे संस्था सहित एकाह, अहीन, सत्र आदि सम्पूर्ण यागों का ग्रहण है, या यों कहो कि अग्निष्टोम से पूर्व अत्यग्निष्टोमादि छे यागों का ही अनुष्ठान न करे यद्वा एकाह, अहीन तथा सत्र आदि विकृति यागों का भी न करे? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और

द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "एतद् घटान्यं घटमानय" = इस घट से अन्य = भिन्न जो घट है उसको लाओ, इस वाक्य में जैसे भिन्न अर्थ के वाची "अन्य" शब्द के पूर्व घट के समीपवर्ती घटान्तर का ग्रहण होता है असमीपवर्ती का नहीं वैसे ही "य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन-यजेत" वाक्य में भी "अन्येन" शब्द से अग्निष्टोम के समीप-वर्ती यागों का ग्रहण होना चाहिये समीपासमीपवर्ती सम्पूर्ण यागों का नहीं, अत्यग्निष्टोम आदि छे याग समीपवर्ती तथा एकाह, अहीन, सत्र याग विकृति होने से असमीपवर्ती हैं और समीपवर्ती का ही ग्रहण होने से "सन्निहितासन्निहितयोः सन्निहित सम्बन्धोबलीयान्" = समीपवर्ती तथा असमीपवर्ती दोनों के मध्य समीपवर्ती का सम्बन्ध बली होता है, यह न्याय भी सङ्गत होजाता है, इसलिये सिद्ध है कि "अन्येन" शब्द से "अत्य-ग्निष्टोम" आदि संस्थारूप छे यागों का ही ग्रहण है विकृति आवि-कृति रूप सम्पूर्ण यागों का नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

तत्प्रकृतेर्वाऽऽपत्तिविहारौ हि न तुल्येषू-पपद्येते । ४० ।

पद०-तत्प्रकृतेः । वा । आपत्तिविहारौ । हि । न । तुल्येषु । उपपद्येते ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (तत्प्रकृतेः) "अन्येन" शब्द से अत्यग्निष्टोमादि छे संस्था

सहित "एकाह" आदि सम्पूर्ण यागों का ग्रहण है (हि) क्योंकि (तुल्येषु) केवल छे संस्थाओं का ग्रहण होने से (आपत्तिविहारौ) आपत्ति तथा विहार दोनों (न, उपपद्येते) उपपन्न नहीं होसक्ते ।

भाष्य–यदि "अन्येन" शब्द से केवल छे संस्थाओं का ही ग्रहण किया जाय तो "प्रजापतिर्वा अग्निष्टोमः उत्तराग्नेकाहान सृजत ते सृष्टा अब्रुवन्न वै प्रभवाम इति, तेभ्यः स्वातन्त्र्यं प्रयाच्छत्तथा ते प्राभवन्"=अग्निष्टोम प्रजापति है उसने "एकाह" आदि यागों को उत्पन्न किया, उन्होंने उत्पन्न होकर कहा हम समर्थ नहीं हैं प्रजापति ने उनको सामर्थ्य दी तब वह समर्थ हुए, इस वाक्य से कथन कीगई आपत्ति=स्वातन्त्र्य प्राप्ति तथा "यथा वा अग्नेर्जाता अन्येऽग्नयो विह्रियन्ते, एवं वा एतस्माद् यज्ञादन्ये क्रतवो विह्रियन्ते"=जैसे अग्नि से उत्पन्न हुईं अग्नियें स्वतन्त्रतापूर्वक विहार करती हैं वैसेही अग्निष्टोम से उत्पन्न हुए अन्य याग भी स्वतन्त्रतापूर्वक विहार करते हैं, इस वाक्य से कथन किया गया विहार=भ्रमण उपपन्न नहीं होसक्ता, क्योंकि उक्त संस्था याग प्रथम ही स्वतन्त्र हैं और स्वतन्त्र होने से स्वतन्त्रतापूर्वक विहारी हैं उनमें स्वतन्त्रता का प्रदान तथा स्वतन्त्रतापूर्वक विहार का कथन निष्प्रयोजन है और उक्त वाक्यों में "एकाह" आदि की अग्निष्टोम से उत्पत्ति स्पष्ट रूप से लिखी है जिसका भाव स्पष्ट है कि "अन्येन" शब्द से केवल छे संस्था का ही ग्रहण नहीं किन्तु "एकाह" आदि विकृति यागों का भी है अन्यथा "अथान्ये-

न यजेत" वाक्य के आगे उक्त आपत्ति तथा विहार के कथन का क्या प्रयोजन होसक्ता है अर्थात् यदि "अन्येन" शब्द से छे संस्थाओं का ग्रहण ही अभीष्ट होता तो उसके आगे के वाक्यों में एकाहादि विकृति यागों की उत्पत्ति कथन करके आपत्ति तथा विहार निरूपण न किया जाता क्योंकि वह "अत्यग्निष्टोम" आदि संस्थाओं के ग्रहण पक्ष में सर्वथा असम्बद्ध होजाता है परन्तु निरूपण किया है, इसलिये सिद्ध है कि "अन्येन" शब्द से केवल संस्थाओं का ग्रहण नहीं किन्तु संस्था सहित एकाह आदि सम्पूर्ण यागों का ग्रहण है।

तात्पर्य्य यह है कि "अन्येन" शब्द का अर्थ अग्निष्टोम से भिन्न है अग्निष्टोम से भिन्न अग्निष्टोमसमीपवर्ती नहीं यदि ऐसा होता तो अवश्य उक्त शब्द से छे संस्थाओं का ही ग्रहण होता परन्तु जब उक्त शब्द का अर्थ भिन्न मात्र है तो फिर केवल छे संस्थाओं का ही ग्रहण कैसे होसक्ता है और अग्निष्टोम की सम्बन्धी जैसे उक्त छे संस्था हैं वैसेही एकाह आदि याग भी सम्बन्धी हैं और दोनों के समान रूप से सम्बन्धी होने पर केवल छे संस्था का ग्रहण सर्वथा असङ्गत है, और जो यह कथन किया है कि संस्था समीपवर्तिनी है सो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में अन्य शब्द से समीपवर्ती का ग्रहण है, इसका अभिधायक कोई शब्द उपलब्ध नहीं जिससे अन्य शब्द का संकोच करके केवल छे संस्थाओं का ही ग्रहण किया जाय, हां यह अवश्य माननीय बात है कि अग्निष्टोम प्रथम उपस्थित होने के कारण "अन्येन" शब्द से तत्सम्बन्धी अन्य मात्र का ग्रहण होना उचित है समीपासमीपवर्ती नहीं और जो "एद्धरान्यं घट-

मानय "का उदाहरण दिया है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उससे समीपवर्ती का अनयन=लाना नहीं पाया जाता किन्तु सम्बन्धी का पायाजाता है, इसलिये सिद्ध है कि जैसे "अग्निष्टोम" का प्रथम अनुष्ठान किये बिना अत्यग्निष्टोम आदि छे याग अननुष्ठेय हैं वैसेही "अन्येन" शब्द से गृहीत होने के कारण "एकाह" आदि विकृतियाग भी अननुष्ठेय हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

प्रशंसा वा विहरणाभावात् । ४१ ।

पद०-प्रशंसा । वा । विहरणाभावात् ।

पदा०-"वा" शब्द आशङ्का के अभिप्राय से आया है (प्रशंसा) उक्त वाक्यों में जो आपत्ति तथा विहार कथन किया है वह अग्निष्टोम की प्रशंसा के लिये किया है एकाह आदि के ग्रहणार्थ नहीं क्योंकि (विहरणाभावात्) विकृति होने के कारण एकाह आदि में आपत्ति तथा विहार नहीं बन सक्ते।

भाष्य-उक्त वाक्यों में जो आपत्ति तथा विहार कथन किया है वह एकाह आदि के ग्रहणार्थ नहीं किन्तु अग्निष्टोम की प्रशंसार्थ किया है अर्थात् अग्निष्टोम ऐसा प्रशंसनीय याग है कि जिससे अन्य याग उत्पन्न होते और स्वतन्त्रता पाते तथा विहार करते हैं यह उक्त वाक्यों का आशय है, क्योंकि एकाह आदि विकृति होने के कारण सर्वथा प्रकृति याग के अधीन हैं और जो अधीन हैं वह स्वतन्त्र तथा उसमें स्वतन्त्रतापूर्वक विहार कैसे होसक्ता है कदापि नहीं, इसलिये सिद्ध है, कि "अन्येन" शब्द से केवल

" अत्यग्निष्टोम " आदि छे यागों का ही ग्रहण है अन्य का नहीं ।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

विधिप्रत्ययाद्वा नह्यकस्मात् प्रशंसा स्यात् । ४२ ।

पद०—विधिप्रत्ययात् । वा । न । हि । अकस्मात् । प्रशंसा । स्यात् ।

पदा०—" वा " शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्त्यर्थ आया है (विधिप्रत्ययात्) चोदक वाक्य द्वारा प्राकृत धर्मों का विकृति यागों में अतिदेश रूप प्रत्यय होने से आपत्ति तथा विहार का कथन ठीक है (हि) क्योंकि (अकस्मात्) धर्म प्राप्ति के बिना (प्रशंसा) प्रशंसा भी (न, स्यात्) उपपन्न नहीं होसक्ती ।

भाष्य—यद्यपि उक्त वाक्य अग्निष्टोम का प्रशंसक है तथापि " एकाह " आदि विकृति यागों में " प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या " इस चोदक वाक्य द्वारा प्राकृत धर्मों का अतिदेश माने बिना उक्त प्रशंसा भी नहीं बन सक्ती और अतिदेश मानें तो एकाह आदि भी अग्निष्टोम के सम्बन्धी सिद्ध हैं और सम्बन्धी होने से " अन्येन " शब्द द्वारा उनका ग्रहण होना भी युक्त होसक्ता है अयुक्त नहीं, इसलिये सिद्ध है कि " अन्येन " शब्द से अत्यग्निष्टोम " आदि सहित " एकाह " आदि सब यागों का ग्रहण है और सबका ग्रहण होने से स्पष्ट है कि अग्निष्टोम का अनुष्ठान किये बिना इनका अनुष्ठान नहीं होसक्ता, अतएव तदनुष्ठानपूर्वक ही सबका अनुष्ठान कर्तव्य है ॥

सं०-अब उक्त "अन्येन" शब्द से एक स्तोमक तथा अनेक-स्तोमक सब यागों का ग्रहण कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

एकस्तोमे वा क्रतुसंयोगात् । ४३ ।

पद०-एकस्तोमे । वा । क्रतुसंयोगात् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (एकस्तोमे) "अन्येन" शब्द से एकस्तोम वाले याग का ग्रहण है, क्योंकि (क्रतुसंयोगात्) अर्थवाद वाक्य से एक ही प्राकृत स्तोम का विकृति यागों के साथ व्याप्ति रूप सम्बन्ध द्वारा प्रकाश करना पाया जाता है ।

भाष्य-उक्त वाक्यस्थ "अन्येन" शब्द से अग्निष्टोम सम्बन्धी "एकाह" आदि पर्यन्त सब यागों का ग्रहण है यह पीछे निरूपण किया गया, अब उक्त सब यागों के मध्य कई याग एक स्तोम वाले तथा कई एक अनेक स्तोम वाले हैं, स्तोत्र विशेष का नाम "स्तोम" है, अन्य शब्द से एकस्तोमक=एक स्तोत्र वालों का ग्रहण है किंवा अनेक स्तोमक = अनेकस्तोत्र वालों का ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय-पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "यो वैत्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते सतं दीपयति, यः पञ्चदशः, स,तं, यः सप्तदशःसतं, य एकविंशःसतम्" = अग्निष्टोम याग में त्रिवृत, पञ्चदश, सप्तदश तथा एकविंश यह चार स्तोम हैं,

नव ऋचा वाले स्तोत्र का नाम "त्रिवृत्" पञ्चदश वाले का नाम "पञ्चदश" सप्तदश वाले का "सप्तदश" तथा एकविंश मन्त्रों वाले का नाम "एकविंश" है, इनके मध्य "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या" इस चोदक वाक्य द्वारा जब त्रिवृत् स्तोम विकृति याग में प्राप्त होता है तब वह उसको व्याप्त करके प्रकाशता है, एवं पञ्चदश, सप्तदश तथा एकविंश प्राप्त हुआ विकृति याग को व्याप्त कर प्रकाश करता है, इस अर्थवाद वाक्य में एक २ स्तोम का विकृति याग में व्याप्ति रूप सम्बन्ध द्वारा प्रकाश कथन किया है, इससे स्तोमान्तर की निवृत्ति स्पष्ट रूप से पाई जाती है, और स्तोमान्तर की निवृत्ति पाये जाने से यह स्फुट होजाता है कि यदि "अन्येन" शब्द से एक स्तोमक अनेक स्तोमक सब यागों का ग्रहण अभिष्ट होता तो उक्त अर्थवाद वाक्य में एक ही स्तोम से विकृति याग का व्याप्तिपूर्वक प्रकाश करना न कथन किया जाता परन्तु कथन किया है, इसलिये सिद्ध है कि "अन्येन" शब्द से "एकस्तोमक" यागों काही ग्रहण है एक स्तोमक तथा अनेक स्तोमक सब यागों का नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

सर्वेषां वा चोदनाविशेषात् प्रशंसा स्तोमानाम् । ४४ ।

पद०—सर्वेषां । वा । चोदनाविशेषात् । प्रशंसा । स्तोमानाम् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है

(सर्वेषां) अन्येन शब्द से एक स्तोमक अनेक स्तोमक सब यागों का ग्रहण है, क्योंकि (चोदनाविशेषात्) वह सब अन्य शब्द के वाच्य हैं और (प्रशंसा, स्तोमानां) जो एक २ स्तोम का विकृति याग को व्याप्ति रूप सम्बन्ध द्वारा प्रकाशित करना लिखा है वह स्तोमों की स्तुति है ।

भाष्य-"अग्निष्टोम" याग से भिन्न एकस्तोमक अनेक स्तोमक जितने याग हैं वह सब "अन्य" शब्द का वाच्य हैं उनके मध्य अनेकस्तोमक को छोड़कर एकस्तोमक का ग्रहण करना उचित नहीं, क्योंकि शब्दशक्ति का सङ्कोच बिना किसी पुष्कल प्रमाण के नहीं होसक्ता, और जो अर्थवाद वाक्य में एक स्तोम का विकृति याग को व्याप्ति रूप सम्बन्ध द्वारा प्रकाश करना कथन किया है वह स्तोमों की स्तुति मात्र है अर्थात् अग्निष्टोम में जो स्तोम गाये जाते हैं वह ऐसे प्रभाव शाली हैं कि उनके मध्य एक २ विकृति याग में चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त हुआ सम्पूर्ण याग का प्रकाश करता है और उसके स्तुति मात्र होने से यह कदापि सिद्ध नहीं होसक्ता कि "अन्येन" शब्द से एक स्तोमक यागों का ही ग्रहण है ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त अर्थवाद वाक्य में एक २ स्तोम का याग को सर्व रूप से प्रकाश न करना कथन है जिससे स्तोम का प्रभाव मात्र पाया जाता है "अन्येन" शब्द से एक स्तोमक याग का ग्रहण नहीं और उसके न पाये जाने से "अन्य" शब्द के अर्थ सङ्कोच भी युक्त नहीं, इसलिये सिद्ध है कि "अन्येन" शब्द से एक स्तोमक अनेक स्तोमक सब यागों

का ग्रहण है और वह सब "अग्निष्टोम" से पश्चात् और अग्निष्टोम इन सब से पूर्व नियमेन अनुष्ठेय हैं विपरीत नहीं।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
पञ्चमाध्याये
तृतीयःपादः

ओ३म्

अथ पञ्चमाध्याये चतुर्थपादः प्रारभ्यते

सं०—अब पाठक्रम की अपेक्षा श्रौतक्रम तथा आर्थिकक्रम को बलवान् कथन करते हैं :-

क्रमकोपोऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थ-परत्वाच्च । १ ।

पद०—क्रमकोपः । अर्थशब्दाभ्यां । श्रुतिविशेषात् । अर्थ-परत्वात् । च ।

पदा०—(अर्थशब्दाभ्यां) अर्थक्रम तथा श्रौतक्रम से (क्रमकोपः) पाठक्रम का बाध होजाता है, क्योंकि (श्रुतिविशेषात्) श्रुतिविशेष (च) तथा (अर्थपरत्वात्) अर्थ से प्राप्त होने के कारण वह दोनों प्रबल हैं ।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग में "ऐन्द्रवायव" आदि दश "ग्रह" = पात्रविशेष पढ़े हैं उनके मध्य "आश्विन" नामक ग्रह का पाठ तृतीयस्थान में किया है और "आश्विनोदशमोगृह्यते" = दशवें आश्विन ग्रह का ग्रहण करे, इस वाक्य में साक्षात् "दशम" शब्द से उसका दशमस्थान कथन किया है तथा "अग्निहोत्रं जुहोति" = अग्निहोत्र करे, इस वाक्य से अग्निहोत्र होम का विधान करके पश्चात् "यवागूं पचति" = लापसी पकाये, इस

वाक्य से उक्त होम के साधन लापसी द्रव्य का पाक विधान किया है, इससे यह सन्देह हुआ कि पाठक्रमानुसार आश्विन ग्रह का तृतीय स्थान है किंवा श्रौतक्रमानुसार दशम पाठक्रमानुसार अग्नि-होत्र प्रथम कर्तव्य है अथवा अर्थक्रमानुसार यवागू पाक? इस सन्देह की निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि पाठ साक्षात् क्रम का बोधक नहीं किन्तु अन्यथानुपपत्ति से क्रम का कल्पक है और उक्त वाक्यस्थ "दशमः" यह श्रुति साक्षात् क्रम का बोधक है, कल्पक तथा साक्षात् बोधक दोनों के मध्य साक्षात् बोधक प्रबल होता है और उसके प्रबल होने से तद् बोधित क्रम भी पाठ कल्पित क्रम की अपेक्षा प्रबल है और प्रबल से निर्बल का बाध सर्वसम्मत है तथा यद्यपि होम का विधान करके पश्चात् यवागू पाक विधान किया है तथापि यवागू पाक के बिना अग्निहोत्र होम नहीं होसक्ता क्योंकि वह उसका साधन है, अतएव अर्थ से यवागू पाक अग्निहोत्र से प्रथम कर्तव्य सिद्ध होता है अर्थात् पाठक्रम से यवागू पाक की अपेक्षा अग्निहोत्र होम प्रथम प्राप्त होने पर भी अर्थक्रम से अग्निहोत्र की अपेक्षा यवागू पाक प्रथम प्राप्त है और पाठक्रम तथा अर्थक्रम दोनों के मध्य अर्थक्रम प्रबल सर्व-सम्मत है और जो प्रबल होता है उससे निर्बल का बाध होना आवश्यक है, इसलिये सिद्ध है कि पाठक्रम की अपेक्षा श्रौतक्रम तथा आर्थिक क्रम बलवान् होने के कारण पाठक्रम के बाध द्वारा आश्विन ग्रह का दशम स्थान में ग्रहण तथा अग्निहोत्र होम से पूर्व यवागूपाक कर्तव्य है।

सं०—अब "प्रवृत्तिक्रम" से "प्रदानक्रम = मुख्यक्रम" की प्रबल अथवा मुख्यक्रमानुसार आग्नेय पुरोडाश के "अवदान"

आदि धर्मों का प्रथम अनुष्ठान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

अवदानाभिघारणासादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या स्यात् । २ ।

पद०—अवदानाभिघारणासादनेषु । आनुपूर्व्यं । प्रवृत्त्या । स्यात् ।

पदा०—(अवदानाभिघारणासादनेषु) अवदान, अभिघारण तथा आसादन इन तीनों में (आनुपूर्व्यं) क्रम का अवधारण (प्रवृत्त्या) प्रवृत्तिक्रमानुसार (स्यात्) होना चाहिये ।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में प्रथम ऐन्द्र याग सम्बन्धी सांनाय्य=दधि पयः के वत्सापाकरण दोहनादि धर्म कथन करके पश्चात् आग्नेय याग सम्बन्धी पुरोडाश के निर्वाप, अवघात आदि धर्म कथन किये हैं और जिस क्रम से उक्त धर्म कथन किये हैं उसी क्रम से उक्त धर्मों के अनुष्ठान प्रवृत्त होते हैं अर्थात् प्रथम सांनाय्य धर्मों के अनुष्ठान की और पश्चात् पुरोडाश धर्मों के अनुष्ठान की प्रवृत्ति होती है, सांनाय्य तथा पुरोडाश निष्पन्न होजाने पर हवन के लिये अवदान, अभिघारण तथा आसादन कर्तव्य हैं, होतव्य भागविशेष के करने का नाम "अवदान" अवदान किये गये भाग पर घृत डालने का नाम "अभिघारण" और पश्चात् वेदि में आहवनीय अग्नि के समीप उक्त भागविशेष को लेजाकर रखने का नाम "आसादन" है, जिस क्रम से वत्सापाकरणादि धर्मों के अनुष्ठान की प्रवृत्ति हुई

है उसी प्रवृत्ति क्रम से अवदान आदि कर्तव्य हैं किंवा विपरीत क्रम से अर्थात् प्रथम सांनाय्य का अवदान, अभिधारण तथा आसादन करके पश्चात् पुरोडाश का अवदान, अभिघारण तथा आसादन कर्तव्य है अथवा प्रथम पुरोडाश के अवदान आदि करके पश्चात् सांनाय्य के अवदानादि कर्तव्य हैं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है पूर्व पक्षी का कथन यह है कि जिस क्रम से धर्मों के अनुष्ठान की प्रवृत्ति हुई है उसी प्रवृत्ति क्रम से अवदान आदि का भी अनुष्ठान होना चाहिये क्योंकि यदि अवदान आदि का उक्त क्रम विवक्षित न होता तो प्रथम सांनाय्य के धर्मों का विधान न किया जाता किन्तु पुरोडाश के धर्मों का कियाजाता परन्तु पुरोडाश के धर्मों का विधान न करके सांनाय्य के धर्मों का प्रथम विधान किया है, इसलिये सिद्ध है कि अवदान आदि भी प्रथम सांनाय्य के ही कर्तव्य हैं पुरोडाश के नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् । ३ ।

पद०—यथाप्रदानं । वा । तदर्थत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (यथाप्रदानं) प्रदान क्रमानुसार अवदान आदि धर्मों का अनुष्ठान होना चाहिये, क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह प्रदान के लिये ही विधान किये गये हैं ।

भाष्य—"सांनाय्य" याग से पूर्व "आग्नेय" याग अनुष्ठेय है यह याज्यानुवाक्य मन्त्रों से सिद्ध है और आग्नेय याग प्रथम अनुष्ठेय होने से उसमें हवि का प्रदान भी प्रथम ही होना

उचित है, क्योंकि यागान्तःपाती यावत् पदार्थों के मध्य "प्रदान" ही एक मुख्य पदार्थ है और वस्तुगत्या प्रदान ही याग शब्द का वाच्य है और प्रदान के प्रथम होने से प्रदेय पुरोडाश के अवदानादि धर्मों का अनुष्ठान भी प्रथम होना ठीक है, क्योंकि उनके बिना प्रदान नहीं होसक्ता और जो प्रवृत्तिक्रमानुसार अवदान आदि का अनुष्ठान कथन किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि मुख्य क्रम की अपेक्षा प्रवृत्ति क्रम निर्बल है और प्रबल से निर्बल का बाध सर्वानुभव सिद्ध है उसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं और वत्सापाकरणादि सांनाय्य धर्मों का प्रथम अनुष्ठान होने पर भी अवदान आदि धर्मों का प्रथम अनुष्ठान होना असंभव है, क्योंकि जिस "ऐन्द्र" याग में उनका उपयोग है वह आग्नेय याग से पश्चात् अनुष्ठेय है पूर्व नहीं और आग्नेय याग की समाप्ति पर्य्यन्त अवदान आदि करके होतव्य भागविशेष को रख छोड़ना अनुचित है इसलिये सिद्ध है कि मुख्यक्रमानुसार आग्नेय पुरोडाश के "अवदान" आदि प्रथम कर्तव्य हैं सांनाय्य के नहीं।

सं०–अब उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग कथन करते हैं :–

लिङ्गदर्शनाच्च ।४।

पद०–लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०–(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य–"सवै ध्रुवामग्रेऽभिघारयति ततो हि प्रथममाज्यभागौ यक्ष्यन् भवति" = जब अग्नीषोमीय आज्य भाग का प्रदान प्रथम करना चाहता है तब प्रथम "ध्रुवा" पात्रस्थ घृत का अभिघारण करे, इस वाक्य में जो अग्नीषोमीय

आज्य भाग के प्रथम प्रदान को ध्रुवा पात्रस्थ घृत के प्रथम अभि-घारण का निमित्त कथन किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है यदि प्रदानक्रम अभिघारण का निमित्त न होता तो उक्त वाक्य में उसको निमित्त कथन न कियाजाता परन्तु कथन किया है इससे स्पष्ट है कि प्रदानक्रम भी धर्मों के अनुष्ठानक्रम का निमित्त है और जब प्रदानक्रम भी धर्मानुष्ठानक्रम का निमित्त है तो आग्नेय पुरोडाश का प्रथम प्रदान भी अवदान आदि धर्मों के प्रथम अनुष्ठान में अवश्य निमित्त होना चाहिये, इसलिये सिद्ध है कि आग्नेय पुरोडाश का अवदान, अभिघारण तथा आसा-दन प्रथम कर्तव्य है और तदनन्तर प्रदान होकर पश्चात् ऐन्द्र सांनाय्य का अवदान, अभिघारण तथा आसादन कर्तव्य है।

सं०—अब अग्न्याधान के अनन्तर नियम से ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

वचनादिष्टिपूर्वत्वम् । ५ ।

पद०—वचनात् । इष्टिपूर्वत्वम् ।

पदा०—(इष्टिपूर्वत्वं) दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर नियम से ज्योतिष्टोम कर्तव्य है, क्योंकि (वचनात्) वाक्यविशेष से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग नियम से दर्शपूर्णमास याग के अन-न्तर कर्तव्य है किंवा अग्न्याधान के अनन्तर? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजेत" = दर्शपूर्णमास याग करके ज्योतिष्टोम याग करे, इस वाक्यविशेष में जो "इष्ट्वा" यह क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग किया है इससे दर्श-

पूर्णमास के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है क्योंकि "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" अष्टा० ३।४।२१ = जिन दो धातुओं के अर्थों का कर्त्ता एक है उनके मध्य पूर्वकाल में होनेवाली धातु से "क्त्वा" प्रत्यय हो, इस सूत्र के अनुसार उक्त प्रत्यय पूर्वकाल में होता है यदि दर्श-पूर्णमास याग के अनन्तर नियम से ज्योतिष्टोम याग कर्तव्य न होता तो उक्त प्रत्यय का प्रयोग न किया जाता और नाहीं दर्श-पूर्णमास तथा ज्योतिष्टोम याग का एक कर्ता कथन किया जाता, यह सर्वानुभव सिद्ध है कि जिन दो क्रियाओं का कर्ता एक है वह अवश्य एक दूसरी के आगे पीछे होने वाली हैं ऐसा कदापि नहीं होसक्ता कि एक कर्त्ता वाली होकर भी आगे पीछे होने वाली नहों उक्त प्रत्यय का प्रयोग करने से दर्शपूर्णमास तथा ज्योतिष्टोम दोनों एक कर्तृक स्पष्ट हैं और उनके स्पष्ट होने से परस्पर नियम से आनन्तर्य्य भी आवश्यक है, इसलिये सिद्ध है कि ज्योतिष्टोम याग नियम से दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर कर्तव्य है आधान के अनन्तर नहीं ॥

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

सोमश्चैकेषामग्न्याधेयस्यर्तुनक्षत्राति-क्रमवचनात्तदन्तेनानर्थकं हि स्यात् । ६ ।

पद०—सोमः । च । एकेषाम् । अग्न्याधेयस्य । ऋतुनक्षत्रा-तिक्रमवचनात् । तदन्तेन । अनर्थकं । हि । स्यात् ।

पदा०—"च" शब्द "तु" शब्द के अर्थ में आने से उक्त पूर्वपक्ष के निराकरण का सूचक है (सोमः) ज्योतिष्टोम याग

नियम से दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर नहीं किन्तु अग्न्याधान के अनन्तर होना चाहिये, क्योंकि (एकेषां) कई एक शाखाओं में उसकी कर्तव्यता के लिये (अग्न्याधेयस्य) अग्न्याधान सम्बन्धी (ऋतुनक्षत्रातिक्रमवचनात्) ऋतु तथा नक्षत्र के अतिक्रम का अभिधायक वाक्यविशेष पाया जाता है (हि) यदि (तदन्तेन) अग्न्याधान के अनन्तर न मानकर दर्शपूर्णमास के अनन्तर ही उक्त याग की कर्तव्यता मानी जाय तो (अनर्थकं) उक्त अति-क्रम का अभिधायक वाक्य निरर्थक (स्यात्) होजाता है ॥

भाष्य–" दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा " वाक्य से यह नहीं पाया जाता कि ज्योतिष्टोम याग नियम से दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर कर्तव्य है किन्तु दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर ज्योतिष्टोम किया जाय तो कोई हानि नहीं, परन्तु अग्न्याधान के अनन्तर वह अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि " सोमेनयक्ष्य-माणोऽग्नीनादधीत नर्तून्सूर्क्षेत् नच नक्षत्रम् " = सोम याग का अनुष्ठान करनेवाला प्रथम अग्न्याधान करे और अग्न्या-धान के लिये ऋतु तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा न करे, इस वाक्य विशेष में उसके अनुष्ठानार्थ ऋतु तथा नक्षत्र का अतिक्रम कथन करके नियम से अग्न्याधान का विधान किया है, यदि ज्योतिष्टोम याग अग्न्याधान के अनन्तर नियम से कर्तव्य न होता तो इस प्रकार अग्न्याधान में अपेक्षित वसन्त आदि ऋतुओं तथा कृत्ति-कादि नक्षत्रों का अतिक्रम करके अग्न्याधान का विधान न किया जाता अर्थात् अग्न्याधान के लिये " वसन्तब्राह्मणोऽग्नीना दधीत " = वसंत ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे, इत्यादि वाक्यों से वसन्त आदि ऋतु और "कृत्तिकास्वग्नीनादधीत" = कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करे, इत्यादि वाक्यों से कृत्तिकादि

नक्षत्र विधान किये हैं परन्तु उक्त वाक्यविशेष में यह कथन किया है कि सोमयाग के अनुष्ठान की इच्छा होने पर वसन्तादि ऋतुयें तथा कृत्तिकादि नक्षत्र विद्यमान हों अथवा नहों उनकी परवाह न करके अग्न्याधान करले, इस कथन से यह बात स्फुट होजाती है कि ज्योतिष्टोम याग से पूर्व अग्न्याधान अवश्य कर्तव्य है, या यों कहो कि ज्योतिष्टोम याग नियम से अग्न्याधान के अनन्तर कर्तव्य है, यदि उक्त याग दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर नियम से कर्तव्य होता तो अग्न्याधान के ऋतु, नक्षत्रों के अतिक्रम का अभिधान न किया जाता, क्योंकि दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर कर्तव्य होने से उनके अतिक्रम का अभिधान निरर्थक होजाता है।

तात्पर्य्य यह है कि दर्शपूर्णमास याग के लिये अग्न्याधान अवश्य अपेक्षित है और दर्शपूर्णमास के अनन्तर अवश्य अनुष्ठेय होने से ज्योतिष्टोम के लिये अग्न्याधान के ऋतु तथा नक्षत्रों के अतिक्रम का अभिधान आवश्यक नहीं और नाहीं अग्न्याधान अपेक्षित है परन्तु उक्त वाक्य में अतिक्रम कथन किया है, इस-लिये सिद्ध है कि ज्योतिष्टोम याग नियम से अग्न्याधान के अनन्तर कर्तव्य है दर्शपूर्णमास के अनन्तर नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :—

तदर्थवचनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वम् ।७।

पद०—तदर्थवचनात् । च । न । अविशेषात् । तदर्थत्वम् ।

पदा०—(च) और (तदर्थवचनात्) अग्न्याधान को ज्योति-ष्टोम के लिये कथन करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है, यदि अग्न्याधान तथा ज्योतिष्टोम का नियम से आनन्तर्य्य न मानें तो (अविशेषात्) अग्न्याधान को कर्ममात्र के प्रति समान होने

से (तदर्थत्वं) ज्योतिष्टोमार्थता का अभिधायक वचन (न) उपपन्न नहीं होसक्ता ।

भाष्य—अग्निहोत्रादि जितने वैदिक कर्म हैं सबके लिये अग्न्याधान आवश्यक है, क्योंकि अग्न्याधान के बिना कोई वैदिक कर्म नहीं होसक्ता, यदि ज्योतिष्टोम याग को नियम से अग्न्याधानान्तर भावी न माना जाय तो उक्त वाक्यविशेष द्वारा उसके विशेषरूप से विधान का आम्नान नहीं होसक्ता, क्योंकि वह स्वतः ही प्राप्त है अर्थात् प्रत्येक वैदिक कर्म के लिये जो अग्न्याधान अपेक्षित है वह वसन्त आदि ऋतुओं तथा कृत्तिकादि नक्षत्रों में होने वाला है परन्तु ज्योतिष्टोम के लिये जो अग्न्याधान कथन किया है उसमें ऋतु तथा नक्षत्रों का कोई बन्धन नहीं, इससे स्पष्ट है कि सामान्य रूप से प्राप्त होने पर भी जो विशेष रूप से विधान किया है इससे अग्न्याधान तथा ज्योतिष्टोम याग का परस्पर कोई विशेष सम्बन्ध अवश्य है और वह सम्बन्धविशेष नियत आनन्तर्य्य रूप होना चाहिये, क्योंकि इसके बिना और कोई सम्बन्ध नहीं बनसक्ता और आनन्तर्य्य रूप सम्बन्ध के बनने में कोई बाधक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि ज्योतिष्टोम याग नियम से अग्न्याधान के अनन्तर अनुष्ठेय है दर्शपूर्णमास के अनन्तर नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :—

अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां कालनिर्देशादानन्तर्य्याद्विशङ्कास्यात् ।८।

पद०—अयक्ष्यमाणस्य । च । पवमानहविषां । कालनिर्देशात् । आनन्तर्य्यात् । विशङ्का । स्यात् ।

पदा०-(च) और (अयक्ष्यमाणस्य) अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग न करने वाले पुरुष के प्रति (पवमानहविषां) पवमान हवियों की कर्त्तव्यतार्थ (कालनिर्देशात्) काल का कथन करने से भी (आनन्तर्य्यात्) अग्न्याधान के अनन्तर (विशङ्का) उक्त याग की निःशङ्क कर्त्तव्यता (स्यात्) सिद्ध होती है।

भाष्य-यदि अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग कर्त्तव्य न होता, या यों कहो कि अग्न्याधान तथा ज्योतिष्टोम याग का परस्पर पूर्वापरी भाव न होता तो अग्न्याधान करके उक्त याग न करने वाले पुरुष का "यः सोमेनायक्ष्यमाणोऽग्निमादधीत स पुरासंवत्सरात्पवमान हवींष्यपि निर्वपेत्"=जो पुरुष अग्न्याधान करके ज्योतिष्टोम याग न करे वह एक वर्ष पर्य्यन्त पवमान नाम हवियों का अनुष्ठान करे, इत्यादि वाक्यों से एक वर्ष पर्य्यन्त पवमान हवियों की कर्तव्यता न विधान कीजाती परन्तु की है इससे स्पष्ट है कि अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग न करने से जो नियम भङ्ग रूप अपराध होता है उसकी निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त रूप से उक्त हवियों का विधान किया है और जिसका अनुष्ठान न करने से उक्त हवियें विधान कीगई हैं उसका अनुष्ठान अग्न्याधान के अनन्तर स्वयं प्राप्त है और जो प्राप्त है उसका मानना भी आवश्यक है, इसलिये सिद्ध है कि अग्न्याधान तथा ज्योतिष्टोम याग का परस्पर पूर्वापरीभाव है दर्शपूर्णमास तथा ज्योतिष्टोम याग का नहीं, या यों कहो कि ज्योतिष्टोम याग अग्न्याधान के अनन्तर नियम से कर्तव्य है दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर नहीं।

सं०-अब उक्त विचार का फलभूत अर्थ कथन करते हैं:-

इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् ।९।

पद०–इष्टिः । अयक्ष्यमाणस्य । तादर्थ्ये । सोमपूर्वत्वम् ।

पदा०–(अयक्ष्यमाणस्य) अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग न करने वाले के लिये (इष्टिः) दर्शपूर्णमास याग अवश्य कर्तव्य है और (तादर्थ्ये) ज्योतिष्टोम याग के निमित्त से अग्न्याधान करने पर तो (सोमपूर्वत्वं) ज्योतिष्टोम याग अवश्य कर्तव्य है ।

भाष्य–" ज्योतिष्टोम " याग की कामना से अग्न्याधान करने पर दर्शपूर्णमास याग से पूर्व उक्त याग और उक्त याग की कामना बिना अग्न्याधान करने पर उक्त याग से पूर्व दर्शपूर्णमास याग अवश्य कर्तव्य है अर्थात् अग्न्याधान को क्वचित् ज्योतिष्टोम पूर्वता क्वचित् दर्शपूर्णमास को पूर्वता है, या यों कहो कि क्वचित् अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग और क्वचित् दर्शपूर्णमास याग कर्तव्य है

सं०–अत्र दर्शपूर्णमास याग से ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के पूर्व होने का अनियम कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

उत्कर्षाद् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् । १० ।

पद०–उत्कर्षात् । ब्राह्मणस्य । सोमः । स्यात् ।

पदा०–(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण का (सोमः) ज्योतिष्टोम याग (स्यात्) दर्शपूर्णमास याग से पूर्व होना चाहिये, क्योंकि (उत्कर्षात्) ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर उक्त याग की कर्तव्यता का विधान पाया जाता है ।

भाष्य–ब्राह्मणकर्तृक सोम याग को दर्शपूर्णमास याग से पूर्व होने का नियम है अथवा नहीं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है. पूर्वपक्षी का कथन यह है कि " आग्नेयोवैब्राह्मणोदेवतया. स सोमेनेष्ठ्वा

अग्नीषोमीयो भवति यदेवादः पौर्णमासं हविः तत्त-
र्ह्यनु निर्वपेत् तर्ह्युभयदेवतो भवति "= ब्राह्मण अग्नि
देवता वाला है, जब ज्योतिष्टोम याग करता है, तब वह अग्नी-
षोमीय होजाता है जो यह पौर्णमास हवि है ज्योतिष्टोम याग के
अनन्तर इसका प्रदान करे, इससे यह ब्राह्मअग्नि तथा सोम दो
देवता वाला होता है, इस अर्थवाद वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के
पश्चात् पौर्णमास हविः के प्रदान का विधान किया है और पौर्ण-
मास शब्द "दर्श" का उपलक्षण है इससे ज्योतिष्टोम याग के
अनन्तर दर्शपूर्णमास याग की कर्तव्यता विस्पष्ट है और जो विस्पष्ट
है उसका परित्याग उचित नहीं, इसलिये सिद्ध है कि ब्राह्मण-
कर्तृक ज्योतिष्टोम याग से पीछे दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान का
नियम है, या यों कहो कि ब्राह्मण को ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर
नियम से दर्शपूर्णमास याग अनुष्ठेय है अथवा दर्शपूर्णमास याग
से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के पूर्व होने का नियम है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष की दृढ़ता के लिये आशङ्का करते हैं:—

पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् । ११ ।

पद०—पौर्णमासी । वा । श्रुतिसंयोगात् ।

पदा०—"वा" शब्द आशङ्का के लिये आया है (पौर्ण-
मासी) ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर केवल पौर्णमास याग कर्तव्य
है, क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) उक्त अर्थवाद वाक्य में केवल "पौर्ण-
मास" शब्द का सम्बन्ध पायाजाता है।

भाष्य—यदि उक्त अर्थवाद वाक्य में दर्शपूर्णमास शब्द का
सम्बन्ध होता तो अवश्य ज्योतिष्टोम के अनन्तर उक्त दोनों यागों

की कर्तव्यता का विधान मानाजाता परन्तु उक्त अर्थवाद वाक्य में केवल "पौर्णमास" शब्द का सम्बन्ध है जिससे ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर पूर्णमास याग की कतव्यता पाई जाती है दर्श की नहीं और जिसकी कर्तव्यता उक्त अर्थवाद वाक्य से साक्षात् नहीं पाईजाती उसकी कर्तव्यता सिद्धि के लिये पौर्णमास शब्द को दर्शयाग का उपलक्षण मानना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि केवल पूर्णमास याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता का नियम है दर्श तथा पूर्णमास दोनों से पूर्व नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:—

सर्वस्यवैककर्म्यत्वात् । १२ ।

पद०—सर्वस्य । वा । एककर्म्यत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (सर्वस्य) उक्त वाक्य में "पौर्णमास" शब्द से दर्श तथा पूर्णमास दोनों का ग्रहण है, क्योंकि (एककर्म्यत्वात्) वह दोनों मिलकर एक कर्म है।

भाष्य—उक्त अर्थवाद वाक्य में पौर्णमास शब्द से दर्श का ग्रहण तब न होता जब वह दोनों एक कर्म न होते जब वह दोनों मिलकर एककर्म हैं और एक ही फल के जनक हैं तब एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण क्यों नहीं होसक्ता, और "नामैकदेशग्रहणञ्च"=नाम के एकदेश का ग्रहण सम्पूर्ण नाम का ग्राहक होता है, इस वाक्य के अनुसार पौर्णमास के ग्रहण से दर्श का भी ग्रहण होसक्ता है, जैसाकि "देवदत्त" यह एक नाम है उसमें "दत्त" के ग्रहण से "देव" का और "देव" के ग्रहण से "दत्त" का ग्रहण होता है और महाभाष्य में इस प्रकार के उदाहरण

बहुत दिये हैं, जब एक के ग्रहण से तत्सम्बन्धी दूसरे का ग्रहण प्रामाणिक है तब उक्त वाक्य में श्रुत पौर्णमास शब्द से भी दर्श का ग्रहण होसक्ता है इसमें कोई दोष नहीं, इसलिये सिद्ध है कि दर्शपूर्णमास दोनों यागों से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का नियम है केवल पूर्णमास याग से पूर्व का नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष में और आशङ्का करते हैं:—

स्याद् वा विधिस्तदर्थेन । १३ ।

पद०—स्यात् । वा । विधिः । तदर्थेन ।

पदा०—"वा" शब्द आशङ्का के लिये आया है (तदर्थेन) उक्त अर्थवाद वाक्य "पौर्णमास" शब्द से दर्शपूर्णमास याग का अभिधायक नहीं किन्तु ज्योतिष्टोम याग के अङ्ग किसी अपूर्व कर्म का (विधिः) विधायक (स्यात्) है।

भाष्य—उक्त अर्थवाद वाक्य में जो "पौर्णमास" पद आया है वह दर्श पूर्णमास याग का वाचक नहीं किन्तु "पौर्णमास" नामक किसी अन्य अपूर्व कर्म का वाचक है और "निर्वपेत्" शब्द से उसका विधान स्पष्ट है अर्थात् उक्त वाक्य ज्योतिष्टोम याग के अङ्ग पौर्णमास नामक किसी अपूर्व कर्म का विधायक है, अतएव उसमें आये "पौर्णमास" शब्द से "दर्शपूर्णमास" याग का ग्रहण नहीं होसक्ता और उसका ग्रहण न होने के कारण उससे पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का नियम भी नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध है कि दर्शपूर्णमास याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का कोई नियम नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का पूर्वपक्षी समाधान करता है:—

प्रकरणात्तु कालः स्यात् । १४ ।

पद०-प्रकरणात् । तु । कालः । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द उक्त आशङ्का के निराकरणार्थ आया है (कालः) उक्त अर्थवादवाक्य में ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् दर्श पूर्णमास याग के अनुष्ठानार्थ आनन्तर्य्य रूप काल का (स्यात्) विधान मानना ठीक है, क्योंकि (प्रकरणात्) वह दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित है ।

भाष्य-यदि उक्त अर्थवाद वाक्य दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित न होता तो अवश्य "पौर्णमास" शब्द से किसी अपूर्व कर्म का ग्रहण किया जाता परन्तु उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पढ़ा है और जो वाक्य जिस के प्रकरण में पढ़ा है उसमें उसी का निरूपण तथा ग्रहण होना समञ्जस प्रतीत होता है अन्य का नहीं, क्योंकि ज्योतिष्टोम याग के अङ्ग "पौर्णमास" नामक किसी अपूर्व कर्म का विधान अभीष्ट होता तो दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में उसके विधान की आवश्यकता न थी किन्तु ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में उसका विधान होता परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे स्पष्ट है कि उक्त अर्थवाक्य में पौर्णमास शब्द से कोई अपूर्व कर्म अभिप्रेत नहीं किन्तु दर्शपूर्णमास कर्म अभिप्रेत है और जब उक्त कर्म अभिप्रेत है तो उससे पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का नियम भी होसक्ता है, क्योंकि उक्त अर्थवाद वाक्य से उसका यथोक्त अनुष्ठान स्पष्ट है अस्पष्ट नहीं, इसलिये सिद्ध है कि दर्शपूर्णमास याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का नियम है, या यों कहो कि दर्शपूर्णमास याग से ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के पूर्व होने का नियम है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान न करते हुए मध्य में ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् । १५ ।

पद०-स्वकाले । स्यात् । अविप्रतिषेधात् ।

पदा०-(स्वकाले) ज्योतिष्टोम याग अपने काल में (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (अविप्रतिषेधात्) प्रधान होने के कारण उसके काल का बाध नहीं होसक्ता ।

भाष्य-"सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्नीनादधीत नर्तून्सूक्षेत् नच नक्षत्रम्"=सोम याग का अनुष्ठान करने वाला प्रथम अग्न्याधान करे और अग्न्याधान के लिये ऋतु तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा न करे, इस वाक्य में आधान काल का बाध कथन किया है किंवा ज्योतिष्टोम काल का? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि अग्न्याधान अङ्गकर्म तथा ज्योतिष्टोम याग प्रधान कर्म है अङ्ग तथा प्रधान दोनों के मध्य अङ्ग काल के बाध की कल्पना करना श्रेष्ठ है क्योंकि उक्त कल्पना करने से "गुणेत्वन्याय्य कल्पना"=अन्याय्य कल्पना गुणभूत पदार्थ में होती है, यह न्याय भी सङ्गत होजाता है और उक्त वाक्य में स्पष्ट कथन किया है कि अग्न्याधान के लिये ऋतु तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा न करे, जब उक्त वाक्य में स्पष्ट रूप से अग्न्याधान सम्बन्धी ऋतु तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा का निषेध है तब अग्न्याधान के काल का बाध मानने में कोई दोष नहीं आता और जिसके मानने में कोई दोष नहीं

आता उसका मानना आवश्यक है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में अग्न्याधान के काल का बाध कथन किया है ज्योतिष्टोम याग के काल का नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अपनयो वाऽऽधानस्य सर्वकालत्वात् । १६ ।

पद०-अपनयः । वा । आधानस्य । सर्वकालत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (अपनयः) उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध कथन किया है अग्न्याधान के काल का नहीं, क्योंकि (आधानस्य) उसके काल का बाध (सर्वकालत्वात्) सर्वदा प्राप्त है।

भाष्य-"अप्राप्तेऽर्थेशास्त्रमर्थवत्"=अप्राप्त अर्थ के बोधन करने से शास्त्र सार्थक होता है, यदि वह प्राप्त अर्थ का बोधन करे तो अप्रमाण होजाता है, अग्न्याधान के काल का बाध "यदैवैनं यज्ञ उपनमेदथा दधीत"=जब इसको ज्योतिष्टोम याग करने की इच्छा हो तभी अग्न्याधान करले, इत्यादि वाक्यों से सर्वदा प्राप्त है और जो वाक्यान्तर से सर्वदा प्राप्त है उसकी प्राप्ति की उक्त वाक्य से कल्पना करना अयुक्त तथा निरर्थक है, और "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत"=प्रति वसन्तऋतु ज्योतिष्टोम याग करे, इत्यादि वाक्यों से ज्योतिष्टोम याग का काल प्राप्त है परन्तु उसका बाध किसी वाक्यान्तर से प्राप्त नहीं है, इससे विदित होता है कि उक्त वाक्य में ऋतु तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा के निषेध द्वारा उक्त याग के काल का हां बाध कथन किया है क्योंकि पूर्व अप्राप्त होने के कारण उसके कथन से उक्त वाक्य सार्थक होजाता है और जो यह कथन किया है कि उक्त

वाक्य में अग्न्याधान के ऋतु, काल तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा का निषेध है सो ठीक है तथापि उक्त निषेध का तात्पर्य्य ज्योतिष्टोम याग के काल निषेध में है अग्न्याधान के काल तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा का निषेध अनुवाद मात्र है इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में अग्न्याधान के काल का बाध कथन नहीं किया किन्तु ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध कथन किया है ।

सं०—अब प्रथम उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

पौर्णमास्यूर्ध्वं सोमात् ब्राह्मणस्य वचनात् । १७ ।

पद०—पौर्णमासी । ऊर्ध्वं । सोमात् । ब्राह्मणस्य । वचनात् ।

पदा०—(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मणकर्तृक (सोमात्) ज्योतिष्टोम याग से (ऊर्ध्वं) पीछे (पौर्णमासी) पूर्णमास याग का नियम से अनुष्ठान होना चाहिये, क्योंकि (वचनात्) " आग्नेयो वै ब्राह्मणः " इस वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य—" **आग्नेयो वै ब्राह्मणः** " इस पूर्व उदाहृत वाक्य में केवल " पौर्णमास " शब्द का प्रयोग किया है उसको दर्श-पूर्णमास याग का वाचक किंवा उपलक्षण मानने में श्रुत की हानि तथा अश्रुत की कल्पना रूप दोष आजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि केवल पूर्णमास याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता का नियम है दर्शपूर्णमास से पूर्व का नहीं ॥

सं०—अब " पौर्णमास " याग से भी केवल अग्नीषोमीय याग की विवक्षा कथन करते हैं :—

एकं वा शब्दसामर्थ्यात्प्राक्कृत्स्न-विधानम् । १८ ।

पद०—एकं । वा । शब्दसामर्थ्यात् । प्राक् । कृत्स्नविधानम् ।

पदा०—"वा" शब्द "आग्नेय" आदि यागों की व्यावृत्ति के लिये आया है (एकं) "पूर्णमास" संज्ञक केवल एक "अग्नीषोमीय" याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग कर्तव्य है पूर्णमास संज्ञक याग मात्र से नहीं, क्योंकि (शब्दसामर्थ्यात्) शब्दसामर्थ्य से ऐसा ही पाया जाता है, इसलिये (प्राक्) ज्योतिष्टोम से पूर्व (कृत्स्नविधानं) "अग्नीषोमीय" को छोड़कर और सब दर्शपूर्णमास संज्ञक याग कर्तव्य हैं।

भाष्य—शब्दशक्ति का ग्राहक जैसे वृद्ध व्यवहार तथा आप्तोपदेश है वैसे ही प्रसिद्ध पद का सन्निधान भी शब्द शक्ति का ग्राहक है "आग्नेयो वै ब्राह्मणः" इस पूर्वोक्त वाक्य में प्रथम "स सोमेनेष्ट्वाऽग्नीषोमीयो भवति" इस अंश मे प्रसिद्ध "अग्नीषोमीय" का उपन्यास करके पश्चात् "यदेवादः पौर्णमासं हविः" इस अंश से "पौर्णमास" हवि का उपन्यास किया है इससे स्पष्ट है कि यद्यपि "आग्नेय, उपांशु तथा अग्नीषोमीय" यह तीन याग पौर्णमास शब्द का वाच्य हैं तथापि यहां अग्नीषोमीय के सन्निधान से अग्नीषोमीय का ही ग्रहण है तीनों का नहीं, और उक्त शब्द से तीनों का ग्रहण न होने के कारण सम्पूर्ण पूर्णमास से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता माननी ठीक नहीं किन्तु शास्त्र

सामर्थ्य से प्राप्त केवल " अग्नीषोमीय " ही से पूर्व उक्त याग की कर्तव्यता माननी ठीक है, इसलिये सिद्ध है कि एक अग्नीषोमीय को छोड़कर दर्शपूर्णमास संज्ञक अन्य किसी याग से पूर्व अथवा पश्चात् ब्राह्मण आदि कर्तृक ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता का नियम नहीं ॥

सं०-अब " अग्नीषोमीय " याग मे अग्नीषोमीयपुरोडाश याग का ग्रहण कथन करते हैं :-

पुरोडाशस्त्वनिर्देशे तद्युक्ते देवता-भावात् । १६ ।

पद०-पुरोडाशः । तु । अनिर्देशे । तद्युक्ते । देवताभावात् ।

पदा०-" तु " शब्द आज्य याग की व्यावृत्ति के लिये आया है (तद्युक्ते) " अग्नीषोमीय " पदयुक्त उक्त वाक्य में (अनिर्देशे) याग भेद का कथन न होने से (पुरोडाशः) पुरोडाश याग का ही ग्रहण उचित है क्योंकि (देवताभावात्) उसमें देवता का सम्बन्ध विद्यमान है ।

भाष्य-पुरोडाश याग तथा आज्ययाग भेद से अग्नीषोमीय याग दो प्रकार का होता है "आग्नेयो वै ब्राह्मणः" इस उक्त वाक्य में अग्नीषोमीय याग से पुरोडाश याग का ग्रहण है किंवा आज्य याग का ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि आज्य याग की अपेक्षा पुरोडाश याग प्रथम उपस्थित है और अग्नि तथा सोम दोनों देवताओं का उसमें सद्भाव भी है, इसलिये नामविशेष का कथन न होने पर भी उक्त वाक्य मे अग्नीषोमीय याग से पुरोडाश याग का ही ग्रहण है

आज्य याग का नहीं ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

आज्यमपीतिचेत् । २० ।

पद०—आज्यम् । अपि । इति । चेत् ।

पदा०—(आज्यं) उक्त वाक्य में अग्नीषोमीय याग से आज्य याग का ग्रहण है (चेत) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य—जैसे पुरोडाश याग अग्नीषोमीय है वैसेही आज्य याग भी अग्नीषोमीय है, दोनों के समान होने पर केवल पुरोडाश याग का ग्रहण अयुक्त है और अग्नीषोमीय शब्द से दोनों की उपस्थिति भी समान रूप से होसक्ती है, इसलिये उक्त वाक्य में अग्नीषोमीय याग से आज्य याग का ही ग्रहण मानना उचित है पुरोडाश याग का नहीं ॥

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

नमिश्रदेवतात्वादैन्द्राग्नवत् । २१ ।

पद०—न । मिश्रदेवतात्वात् । ऐन्द्राग्नवत् ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (ऐन्द्राग्नवत्) जैसे ऐन्द्राग्न याग मिश्रदेवताक है वैसेही (मिश्रदेवतात्वात्) आज्य याग भी मिश्रदेवताक है ।

भाष्य—यदि आज्य याग केवल अग्नीषोमीय ही होता तो अवश्य पुरोडाश याग के समान उसका ग्रहण होता परन्तु वह ऐन्द्राग्न याग की भांति अग्नीषोमीय प्राजापत्य तथा वैष्णव भेद से अनेक प्रकार का होने के कारण मिश्रदेवताक है, जिसमे अनेक

देवता मिले हुए हों उसको "मिश्रदेवताक" कहते हैं और पुरोडाश याग इससे विपरीत अर्थात् अमिश्रदेवताक है मिश्रदेवताक तथा अमिश्रदेवताक दोनों के मध्य अमिश्रदेवताक श्रेष्ठ होता है और जो श्रेष्ठ है उसी का ग्रहण उचित है दूसरे का नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में अग्नीषोमीय याग से आज्य याग का ग्रहण नहीं किन्तु पुरोडाश याग का ग्रहण है ॥

सं०—अब "ऐन्द्राग्न" आदि विकृति यागों को एकाहः साध्यता कथन करते हैं :—

विकृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा विकृतिःतयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।२२।

पद०—विकृतेः । प्रकृतिकालत्वात् । सद्यस्काला । उत्तरा । विकृतिः । तयोः । प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।

पदा०—(उत्तरा, विकृतिः) प्रकृतियाग के अनन्तर होने वाले "ऐन्द्राग्न" आदि विकृति याग (सद्यस्काला) एकाहः साध्य होने चाहियें, क्योंकि (विकृतेः) विकृति यागों को (प्रकृतिकालत्वात्) प्रकृतिकालता का नियम है और (तयोः) प्राकृत द्व्यहः तथा एकाहः दोनों कालों के मध्य (प्रत्यक्षशिष्टत्वात्) प्रत्यक्षोपदिष्ट होने से एकाहः काल प्रबल है ।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग के "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः"=पुत्र की कामना वाला पुरुष परमैश्वर्यवान् प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से एकादश कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का प्रदान करे "सौर्य्यंचरुं निर्वपेत्

ब्रह्मवर्चसकामः " = ब्रह्मतेज की कामना वाला पुरुष जगदुत्पादक परम पिता परमात्मा के उद्देश से चरु का निर्वाप करे, इत्यादि वाक्यों मे " ऐन्द्राग्न " आदि अनेक विकृति याग विधान किये हैं वह सब एकाहः साध्य एक दिन में होने वाले हैं किंवा द्व्यहःसाध्य दो दिन में होने वाले है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि " **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** " इस चोदक वाक्य से प्राकृत सम्पूर्ण धर्मों को विकृति में प्राप्ति होती है और " पर्व में अग्न्यन्वाधान, इध्म तथा वर्हिः का सम्पादन और प्रतिपत् में प्रधान इष्टि, इस प्रकार प्रकृति याग में द्व्यहः साध्यता देखी है उसी के अनुसार विकृति यागों को भी द्व्यहः साध्य होना चाहिये तथापि य इष्ट्या **पशुना सोमेन वाऽऽग्रयणेन वा यक्ष्यमाणः सोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वा यजेत** " = जो पुरुष दर्शपूर्णमास याग, पशुयाग, ज्योतिष्टोम याग अथवा आग्रयण याग करना चाहे वह अमावास्या अथवा पौर्णमासी में करे, इस वाक्यविशेष से एकाहः साध्यता का विधान पाये जाने से उसका बाध होजाता है अर्थात् उक्त विकृति यागों में " प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या " के अनुसार प्राप्त होने से द्व्यहः साध्यता आनुमानिक और उक्त वाक्य से साक्षात् विहित होने के कारण एकाहः साध्यता प्रत्यक्षोपदिष्ट है और आनुमानिक तथा प्रत्यक्षोपदिष्ट दोनों के मध्य प्रत्यक्षोपदिष्ट प्रबल होता है और प्रबल से निर्बल का बाध सर्वसम्मत है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त विकृति याग एकाहः साध्य है द्व्यहः साध्य नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :-

द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् । २३ ।

पद०-द्वैयहकाल्ये । तु । यथान्यायम् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष के अभिप्राय मे आया है (द्वैयहकाल्ये) उक्त विकृति यागों का द्व्यहः साध्य होने मे (यथान्यायं) "प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या" इस न्याय का अतिक्रमण नहीं होता।

भाष्य-दर्शपूर्णमास रूप प्रकृति याग को पूर्वोक्त रीति से द्व्यहः साध्य देखा है यदि उक्त विकृति यागों को भी द्व्यहः साध्य मानाजाय तो "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" यह न्याय सङ्गत होजाता है अन्यथा इसका अतिक्रमण करना पड़ेगा सो ठीक नहीं अर्थात् विकृति यागों में सम्पूर्ण प्राकृत धर्मों का अनुष्ठान होता है, द्व्यहः काल भी प्राकृत है और उक्त चोदक वाक्य से विकृति यागों में प्राप्त है और जो यथा न्याय प्राप्त है उसका अनुष्ठान होना आवश्यक है अननुष्ठान ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त विकृति याग भी द्व्यहः साध्य हैं एकाहः साध्य नहीं ॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

वचनाद्वैककाल्यं स्यात् । २४ ।

पद०-वचनात् । वा । ऐककाल्यं । स्यात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (ऐककाल्यं) उक्त विकृति याग एकाहः साध्य (स्यात्) हैं क्योंकि (वचनात्) उक्त वाक्यविशेष से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-यद्यपि द्व्यहःकाल प्राकृत धर्म होने के कारण उक्त चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त है तथापि उक्त वाक्यविशेष से एकाहः

काल प्रत्यक्ष प्राप्त होने के कारण वह अनुष्ठेय नहीं होसक्ता, क्योंकि वह चोदक के प्राप्त होने के कारण प्रत्यक्षोपादिष्ट की अपेक्षा निर्बल है और निर्बल तथा प्रबल दोनों के मध्य प्रबल का ही अनुष्ठान होना ठीक है निर्बल का नहीं, इसलिये सिद्ध है कि ऐन्द्राग्न आदि विकृति याग एकाहः साध्य हैं द्व्यहःसाध्य नहीं, यहां एकाहः से तात्पर्य्य अमावास्या तथा पूर्णमासी का है।

सं०—अब सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकृति यागों का ज्योतिष्टोम याग से पश्चात् अनुष्ठान कथन करते हैं :—

सांनाय्याग्नीषोमीयविकारा ऊर्ध्वं सोमात् प्रकृतिवत् । २५ ।

पद०—सांनाय्याग्नीषोमीयविकाराः । ऊर्ध्वं । सोमात् । प्रकृतिवत् ।

पदा०—(प्रकृतिवत्) जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय दोनों याग ज्योतिष्टोम से पश्चात् होते हैं वैसेही (सांनाय्याग्नीषोमीयविकाराः) उक्त दोनों याग के विकृति याग भी (ऊर्ध्वं) पीछे (स्यात्) होने चाहियें।

भाष्य—"**वैश्वदेव्यामिक्षा**" =सर्व दिव्य शक्ति सम्पन्न परमात्मा के उद्देश से आमिक्षा का प्रदान करे, इत्यादि वाक्यों से विधान किये सांनाय्य विकार तथा "**अग्नीषोमीयमेकादश कपालं निर्वपेत्**" =प्रकाश और सोमस्वरूप परमात्मा के उद्देश से एकादश कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का प्रदान करे, इत्यादि वाक्यों से विधान किये अग्नीषोमीय विकार याग इस अधिकरण का विषय हैं उक्त याग अपने प्रकृति याग की

भांति ज्योतिष्टोम याग से पश्चात् कर्तव्य हैं किंवा पूर्व ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की है कि विकृति याग को प्रकृति याग की भांति होना आवश्यक है क्योंकि वह उसकी भांति अनुष्ठेय न होने से उसका विकार नहीं होसक्ता और विना किसी प्रबल प्रमाण के विकारों को अपने प्रकृति याग से विपरीत अनुष्ठेय होना असंभव है और प्रकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम याग से पीछे सर्वसम्मत है, इस लिये सिद्ध है कि सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय यागों के विकृति यागों का अनुष्ठान भी ज्योतिष्टोम याग से पीछे ही कर्तव्य है पूर्व नहीं ।

सं०-अब ज्योतिष्टोम के विकृति यागों का अनुष्ठान दर्शपूर्णमास याग से पश्चात् कथन करते हैं :-

तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम् । २६ ।

पद०-तथा । सोमविकाराः । दर्शपूर्णमासाभ्याम् ।

पदा०-(तथा) जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम याग से पीछे होता है वैसेही (सोमविकाराः) ज्योतिष्टोम याग के विकृति यागों का अनुष्ठान (दर्शपूर्णमासाभ्यां) दर्शपूर्णमास याग से पीछे होना चाहिये ।

भाष्य-"गवा यजेत"=गौ नामक याग करे, इत्यादि वाक्यों से विहित गौ आदि नामक ज्योतिष्टोम याग के विकार इस अधिकरण के विषय हैं उक्त याग दर्शपूर्णमास याग से पूर्व कर्तव्य हैं किंवा पश्चात् ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस

प्रकार कीगई है कि यद्यपि ज्योतिष्टोम याग दर्शपूर्णमास याग से पूर्व अनुष्ठेय है तथापि उसका पूर्व अनुष्ठान वाक्य सिद्ध नहीं किन्तु अर्थ सिद्ध है जैसाकि पीछे निरूपण किया गया है और "प्रकृति-वद् विकृतिः कर्तव्या" से वाक्यसिद्ध की प्राप्ति होती है अर्थ सिद्ध की नहीं यह नियम है, और उसकी प्राप्ति न होने से अपने प्रकृति याग की भांति उक्त विकृति यागों का दर्शपूर्णमास-याग से पूर्व अनुष्ठान होना असंभव है और पश्चात् अनुष्ठान सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकारों की भांति स्वतः सिद्ध है और जो स्वतःसिद्ध है उसका परित्याग ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम याग से पश्चात् कर्तव्य है वैसे ही ज्योतिष्टोम याग के विकृति यागों का अनुष्ठान दर्शपूर्णमास याग से पश्चात् कर्तव्य है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
मीमांसार्य्यभाष्ये
पञ्चमाध्याये
चतुर्थःपादः
समाप्तः

अग्नीषोमीयो भवति यदेवादः पौर्णमासं हविः तत्तर्ह्यनु निर्वपेत् तर्ह्युभयदेवतो भवति "=ब्राह्मण अग्नि देवता वाला है, जब ज्योतिष्टोम याग करता है, तब वह अग्नीषोमीय होजाता है जो यह पौर्णमास हवि है ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर इसका प्रदान करे, इससे यह ब्राह्मअग्नि तथा सोम दो देवता वाला होता है, इस अर्थवाद वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् पौर्णमास हविः के प्रदान का विधान किया है और पौर्णमास शब्द "दर्श" का उपलक्षण है इससे ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर दर्शपूर्णमास याग की कर्तव्यता विस्पष्ट है और जो विस्पष्ट है उसका परित्याग उचित नहीं, इसलिये सिद्ध है कि ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग से पीछे दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान का नियम है, या यों कहो कि ब्राह्मण को ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर नियम से दर्शपूर्णमास याग अनुष्ठेय है अथवा दर्शपूर्णमास याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के पूर्व होने का नियम है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष की दृढ़ता के लिये आशङ्का करते हैं:—

पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् । ११ ।

पद०—पौर्णमासी । वा । श्रुतिसंयोगात् ।

पदा०—"वा" शब्द आशङ्का के लिये आया है (पौर्णमासी) ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर केवल पौर्णमास याग कर्तव्य है, क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) उक्त अर्थवाद वाक्य में केवल "पौर्णमास" शब्द का सम्बन्ध पायाजाता है।

भाष्य—यदि उक्त अर्थवाद वाक्य में दर्शपूर्णमास शब्द का सम्बन्ध होता तो अवश्य ज्योतिष्टोम के अनन्तर उक्त दोनों यागों

की कर्तव्यता का विधान मानाजाता परन्तु उक्त अर्थवाद वाक्य में केवल "पौर्णमास" शब्द का सम्बन्ध है जिससे ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर पूर्णमास याग की कर्तव्यता पाई जाती है दर्श की नहीं और जिसकी कर्तव्यता उक्त अर्थवाद वाक्य से साक्षात् नहीं पाईजाती उसकी कर्तव्यता सिद्धि के लिये पौर्णमास शब्द को दर्शयाग का उपलक्षण मानना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि केवल पूर्णमास याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता का नियम है दर्श तथा पूर्णमास दोनों से पूर्व नहीं।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:-

सर्वस्यवैककर्म्यत्वात् । १२ ।

पद०-सर्वस्य । वा । एककर्म्यत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (सर्वस्य) उक्त वाक्य में "पौर्णमास" शब्द से दर्श तथा पूर्णमास दोनों का ग्रहण है, क्योंकि (एककर्म्यत्वात्) वह दोनों मिलकर एक कर्म है।

भाष्य-उक्त अर्थवाद वाक्य में पौर्णमास शब्द से दर्श का ग्रहण तब न होता जब वह दोनों एक कर्म न होते जब वह दोनों मिलकर एककर्म हैं और एक ही फल के जनक हैं तब एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण क्यों नहीं होसक्ता, और "नामैकदशग्रहणञ्च"=नाम के एकदेश का ग्रहण सम्पूर्ण नाम का ग्राहक होता है, इस वाक्य के अनुसार पौर्णमास के ग्रहण से दर्श का भी ग्रहण होसक्ता है, जैसाकि "देवदत्त" यह एक नाम है उसमें "दत्त" के ग्रहण से "देव" का और "देव" के ग्रहण से "दत्त" का ग्रहण होता है और महाभाष्य में इस प्रकार के उदाहरण

बहुत दिये हैं, जब एक के ग्रहण से तत्सम्बन्धी दूसरे का ग्रहण प्रामाणिक है तब उक्त वाक्य में श्रुत पौर्णमास शब्द से भी दर्श का ग्रहण होसक्ता है इसमें कोई दोष नहीं, इसलिये सिद्ध है कि दर्शपूर्णमास दोनों यागों से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का नियम है केवल पूर्णमास याग से पूर्व का नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष में और आशङ्का करते हैं :—

स्याद् वा विधिस्तदर्थेन । १३ ।

पद०—स्यात् । वा । विधिः । तदर्थेन ।

पदा०—"वा" शब्द आशङ्का के लिये आया है (तदर्थेन) उक्त अर्थवाद वाक्य "पौर्णमास" शब्द से दर्शपूर्णमास याग का अभिधायक नहीं किन्तु ज्योतिष्टोम याग के अङ्ग किसी अपूर्व कर्म का (विधिः) विधायक (स्यात्) है।

भाष्य—उक्त अर्थवाद वाक्य में जो "पौर्णमास" पद आया है वह दर्श पूर्णमास याग का वाचक नहीं किन्तु "पौर्णमास" नामक किसी अन्य अपूर्व कर्म का वाचक है और "निर्वपेत्" शब्द से उसका विधान स्पष्ट है अर्थात् उक्त वाक्य ज्योतिष्टोम याग के अङ्ग पौर्णमास नामक किसी अपूर्व कर्म का विधायक है, अतएव उसमें आये "पौर्णमास" शब्द से "दर्शपूर्णमास" याग का ग्रहण नहीं होसक्ता और उसका ग्रहण न होने के कारण उससे पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का नियम भी नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध है कि दर्शपूर्णमास याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का कोई नियम नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का पूर्वपक्षी समाधान करता है :—

प्रकरणात्तु कालः स्यात् । १४ ।

पद०—प्रकरणात् । तु । कालः । स्यात् ।

पदा०—" तु " शब्द उक्त आशङ्का के निराकरणार्थ आया है (कालः) उक्त अर्थवादवाक्य में ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् दर्श पूर्णमास याग के अनुष्ठानार्थ आनन्तर्य्य रूप काल का (स्यात्) विधान मानना ठीक है, क्योंकि (प्रकरणात्) वह दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित है ।

भाष्य—यदि उक्त अर्थवाद वाक्य दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित न होता तो अवश्य " पौर्णमास " शब्द से किसी अपूर्व कर्म का ग्रहण किया जाता परन्तु उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पढ़ा है और जो वाक्य जिस के प्रकरण में पढ़ा है उसमें उसी का निरूपण तथा ग्रहण होना समञ्जस प्रतीत होता है अन्य का नहीं, क्योंकि ज्योतिष्टोम याग के अङ्ग " पौर्णमास " नामक किसी अपूर्व कर्म का विधान अभीष्ट होता तो दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में उसके विधान की आवश्यकता न थी किन्तु ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में उसका विधान होता परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे स्पष्ट है कि उक्त अर्थवाक्य में पौर्णमास शब्द से कोई अपूर्व कर्म अभिप्रेत नहीं किन्तु दर्शपूर्णमास कर्म अभिप्रेत है और जब उक्त कर्म अभिप्रेत है तो उससे पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का नियम भी होसक्ता है, क्योंकि उक्त अर्थवाद वाक्य से उसका यथोक्त अनुष्ठान स्पष्ट है अस्पष्ट नहीं, इसलिये सिद्ध है कि दर्शपूर्णमास याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान का नियम है, या यों कहो कि दर्शपूर्णमास याग से ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के पूर्व होने का नियम है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान न करते हुए मध्य में ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् । १५ ।

पद०-स्वकाले । स्यात् । अविप्रतिषेधात् ।

पदा०-(स्वकाले) ज्योतिष्टोम याग अपने काल में (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (अविप्रतिषेधात्) प्रधान होने के कारण उसके काल का बाध नहीं होसक्ता ।

भाष्य-"सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्नीनादधीत नर्तून्सूक्षेत् नच नक्षत्रम्"=सोम याग का अनुष्ठान करने वाला प्रथम अग्न्याधान करे और अग्न्याधान के लिये ऋतु तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा न करे, इस वाक्य में आधान काल का बाध कथन किया है किंवा ज्योतिष्टोम काल का? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि अग्न्याधान अङ्गकर्म तथा ज्योतिष्टोम याग प्रधान कर्म है अङ्ग तथा प्रधान दोनों के मध्य अङ्ग काल के बाध की कल्पना करना श्रेष्ठ है क्योंकि उक्त कल्पना करने से "गुणेत्वन्याय्य कल्पना"=अन्याय्य कल्पना गुणभूत पदार्थ में होती है, यह न्याय भी सङ्गत होजाता है और उक्त वाक्य में स्पष्ट कथन किया है कि अग्न्याधान के लिये ऋतु तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा न करे, जब उक्त वाक्य में स्पष्ट रूप से अग्न्याधान सम्बन्धी ऋतु तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा का निषेध है तब अग्न्याधान के काल का बाध मानने में कोई दोष नहीं आता और जिसके मानने में कोई दोष नहीं

आता उसका मानना आवश्यक है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में अग्न्याधान के काल का बाध कथन किया है ज्योतिष्टोम याग के काल का नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अपनयो वाऽऽधानस्य सर्वकालत्वात्। १६।

पद०—अपनयः। वा। आधानस्य। सर्वकालत्वात्।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (अपनयः) उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध कथन किया है अग्न्याधान के काल का नहीं, क्योंकि (आधानस्य) उसके काल का बाध (सर्वकालत्वात्) सर्वदा प्राप्त है।

भाष्य—"अप्राप्तेऽर्थेशास्त्रमर्थवत्"=अप्राप्त अर्थ के बोधन करने से शास्त्र सार्थक होता है, यदि वह प्राप्त अर्थ का बोधन करे तो अप्रमाण होजाता है, अग्न्याधान के काल का बाध "यदैवैनं यज्ञ उपनमेद्था दधीत"=जब इसको ज्योतिष्टोम याग करने की इच्छा हो तभी अग्न्याधान करले, इत्यादि वाक्यों से सर्वदा प्राप्त है और जो वाक्यान्तर से सर्वदा प्राप्त है उसकी प्राप्ति की उक्त वाक्य से कल्पना करना अयुक्त तथा निरर्थक है, और "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत"=प्रति वसन्तऋतु ज्योतिष्टोम याग करे, इत्यादि वाक्यों से ज्योतिष्टोम याग का काल प्राप्त है परन्तु उसका बाध किसी वाक्यान्तर से प्राप्त नहीं है, इससे विदित होता है कि उक्त वाक्य में ऋतु तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा के निषेध द्वारा उक्त याग के काल का हां बाध कथन किया है क्योंकि पूर्व अप्राप्त होने के कारण उसके कथन से उक्त वाक्य सार्थक होजाता है और जो यह कथन किया है कि उक्त

वाक्य में अग्न्याधान के ऋतु, काल तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा का निषेध है सो ठीक है तथापि उक्त निषेध का तात्पर्य्य ज्योतिष्टोम याग के काल निषेध में है अग्न्याधान के काल तथा नक्षत्र की प्रतीक्षा का निषेध अनुवाद मात्र है इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में अग्न्याधान के काल का बाध कथन नहीं किया किन्तु ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध कथन किया है ।

सं०—अब प्रथम उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

पौर्णमास्यूर्ध्वं सोमात् ब्राह्मणस्य वचनात् । १७ ।

पद०—पौर्णमासी । ऊर्ध्वं । सोमात् । ब्राह्मणस्य । वचनात् ।

पदा०—(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मणकर्तृक (सोमात्) ज्योतिष्टोम याग से (ऊर्ध्वं) पीछे (पौर्णमासी) पूर्णमास याग का नियम से अनुष्ठान होना चाहिये, क्योंकि (वचनात्) " आग्नेयो वै ब्राह्मणः " इस वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य—" आग्नेयो वै ब्राह्मणः " इस पूर्व उदाहृत वाक्य में केवल " पौर्णमास " शब्द का प्रयोग किया है उसको दर्शपूर्णमास याग का वाचक किंवा उपलक्षण मानने में श्रुत की हानि तथा अश्रुत की कल्पना रूप दोष आजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि केवल पूर्णमास याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता का नियम है दर्शपूर्णमास से पूर्व का नहीं ॥

सं०—अब " पौर्णमास " याग से भी केवल अग्नीषोमीय याग की विवक्षा कथन करते हैं :—

एकं वा शब्दसामर्थ्यात्प्राक्कृत्स्न-विधानम् । १८ ।

पद०—एकं । वा । शब्दसामर्थ्यात् । प्राक् । कृत्स्नविधानम् ।

पदा०—"वा" शब्द "आग्नेय" आदि यागों की व्यावृत्ति के लिये आया है (एकं) "पूर्णमास" संज्ञक केवल एक "अग्नीषोमीय" याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग कर्तव्य है पूर्णमास संज्ञक याग मात्र से नहीं, क्योंकि (शब्दसामर्थ्यात्) शब्दसामर्थ्य से ऐसा ही पाया जाता है, इसलिये (प्राक्) ज्योतिष्टोम से पूर्व (कृत्स्नविधानं) "अग्नीषोमीय" को छोड़कर और सब दर्शपूर्णमास संज्ञक याग कर्तव्य हैं।

भाष्य—शब्दशक्ति का ग्राहक जैसे वृद्ध व्यवहार तथा आप्तोपदेश है वैसे ही प्रसिद्ध पद का सन्निधान भी शब्द शक्ति का ग्राहक है "आग्नेयो वै ब्राह्मणः" इस पूर्वोक्त वाक्य में प्रथम "स सोमेनेष्ट्वाऽऽग्नीषोमीयो भवति" इस अंश मे प्रसिद्ध "अग्नीषोमीय" का उपन्यास करके पश्चात् "यदेवादः पौर्णमासं हविः" इस अंश से "पौर्णमास" हवि का उपन्यास किया है इससे स्पष्ट है कि यद्यपि "आग्नेय, उपांशु तथा अग्नीषोमीय" यह तीन याग पौर्णमास शब्द का वाच्य है तथापि यहां अग्नीषोमीय के सन्निधान से अग्नीषोमीय का ही ग्रहण है तीनों का नहीं, और उक्त शब्द से तीनों का ग्रहण न होने के कारण सम्पूर्ण पूर्णमास से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता माननी ठीक नहीं किन्तु शास्त्र

सामर्थ्य से प्राप्त केवल "अग्नीषोमीय" ही से पूर्व उक्त याग की कर्तव्यता माननी ठीक है, इसलिये सिद्ध है कि एक अग्नीषोमीय को छोड़कर दर्शपूर्णमास संज्ञक अन्य किसी याग से पूर्व अथवा पश्चात् ब्राह्मण आदि कर्तृक ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता का नियम नहीं ॥

सं०-अब "अग्नीषोमीय" याग में अग्नीषोमीयपुरोडाश याग का ग्रहण कथन करते हैं:-

पुरोडाशस्त्वनिर्देशे तद्युक्ते देवता-भावात् । १६ ।

पद०-पुरोडाशः । तु । अनिर्देशे । तद्युक्ते । देवताभावात् ।

पदा०-"तु" शब्द आज्य याग की व्यावृत्ति के लिये आया है (तद्युक्ते) "अग्नीषोमीय" पदयुक्त उक्त वाक्य में (अनिर्देशे) याग भेद का कथन न होने से (पुरोडाशः) पुरोडाश याग का ही ग्रहण उचित है क्योंकि (देवताभावात्) उसमें देवता का सम्बन्ध विद्यमान है।

भाष्य-पुरोडाश याग तथा आज्ययाग भेद से अग्नीषोमीय याग दो प्रकार का होता है "आग्नेयो वै ब्राह्मणः" इस उक्त वाक्य में अग्नीषोमीय याग से पुरोडाश याग का ग्रहण है किंवा आज्य याग का? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि आज्य याग की अपेक्षा पुरोडाश याग प्रथम उपस्थित है और अग्नि तथा सोम दोनों देवताओं का उसमें सद्भाव भी है, इसलिये नामविशेष का कथन न होने पर भी उक्त वाक्य में अग्नीषोमीय याग में पुरोडाश याग का ही ग्रहण है

आज्य याग का नहीं ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

आज्यमपीतिचेत् । २० ।

पद०—आज्यम् । अपि । इति । चेत् ।

पदा०—(आज्यं) उक्त वाक्य में अग्नीषोमीय याग मे आज्य याग का ग्रहण है (चेत) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य—जैसे पुरोडाश याग अग्नीषोमीय है वैसेही आज्य याग भी अग्नीषोमीय है, दोनों के समान होने पर केवल पुरोडाश याग का ग्रहण अनुक्त है और अग्नीषोमीय शब्द मे दोनों की उपस्थिति भी समान रूप से होसक्ती है, इसलिये उक्त वाक्य में अग्नीषोमीय याग से आज्य याग का ही ग्रहण मानना उचित है पुरोडाश याग का नहीं ॥

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

नमिश्रदेवतात्वादैन्द्राग्नवत् । २१ ।

पद०—न । मिश्रदेवतात्वात् । ऐन्द्राग्नवत् ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नही, क्योंकि (ऐन्द्राग्नवत्) जैसे ऐन्द्राग्न याग मिश्रदेवताक है वैसेही (मिश्रदेवतात्वात्) आज्य याग भी मिश्रदेवताक है ।

भाष्य—यदि आज्य याग केवल अग्नीषोमीय ही होता तो अवश्य पुरोडाश याग के समान उसका ग्रहण होता परन्तु वह ऐन्द्राग्न याग की भांति अग्नीषोमीय प्राजापत्य तथा वैष्णव भेद से अनेक प्रकार का होने के कारण मिश्रदेवताक है, जिसमे अनेक

देवता मिले हुएहों उसको "मिश्रदेवताक" कहते हैं और पुरोडाश याग इससे विपरीत अर्थात् अमिश्रदेवताक है मिश्रदेवताक तथा अमिश्रदेवताक दोनों के मध्य अमिश्रदेवताक श्रेष्ठ होता है और जो श्रेष्ठ है उसी का ग्रहण उचित है दूसरे का नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में अग्नीषोमीय याग से आज्य याग का ग्रहण नहीं किन्तु पुरोडाश याग का ग्रहण है ॥

सं०–अब "ऐन्द्राग्न" आदि विकृति यागों को एकाहः साध्यता कथन करते हैं :–

विकृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा विकृतिःतयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।२२।

पद०–विकृतेः । प्रकृतिकालत्वात् । सद्यस्काला । उत्तरा । विकृतिः । तयोः । प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।

पदा०–(उत्तरा, विकृतिः) प्रकृतियाग के अनन्तर होने वाले "ऐन्द्राग्न" आदि विकृति याग (सद्यस्काला) एकाहः साध्य होने चाहियें, क्योंकि (विकृतेः) विकृति यागों को (प्रकृतिकालत्वात्) प्रकृतिकालता का नियम है और (तयोः) प्राकृत द्व्यहः तथा एकाहः दोनों कालों के मध्य (प्रत्यक्षशिष्टत्वात्) प्रत्यक्षोपदिष्ट होने से एकाहः काल प्रबल है ।

भाष्य–दर्शपूर्णमास याग के "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः" = पुत्र की कामना वाला पुरुष परमैश्वर्य्यवान् प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से एकादश कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का प्रदान करे "सौर्य्यंचरुं निर्वपेत्

ब्रह्मवर्चसकामः " = ब्रह्मतेज की कामना वाला पुरुष जगदुत्पादक परम पिता परमात्मा के उद्देश से चरु का निर्वाप करे, इत्यादि वाक्यों मे " ऐन्द्राग्न " आदि अनेक विकृति याग विधान किये हैं वह सब एकाहः साध्य एक दिन में होने वाले हैं किंवा द्व्यहःसाध्य दो दिन में होने वाले हैं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि " प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या " इस चोदक वाक्य से प्राकृत सम्पूर्ण धर्मों को विकृति में प्राप्ति होती है और " पर्व में अग्न्यन्वाधान, इध्म तथा बर्हिः का सम्पादन और प्रतिपत् में प्रधान इष्टि, इस प्रकार प्रकृति याग में द्व्यहः साध्यता देखी है उसी के अनुसार विकृति यागों को भी द्व्यहः साध्य होना चाहिये तथापि य इष्ट्या पशुना सोमेन वाऽऽग्रयणेन वा यक्ष्यमाणः सोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वा यजेत " = जो पुरुष दर्शपूर्णमास याग, पशुयाग, ज्योतिष्टोम याग अथवा आग्रयण याग करना चाहे वह अमावास्या अथवा पौर्णमासी में करे, इस वाक्यविशेष से एकाहः साध्यता का विधान पाये जाने से उसका बाध होजाता है अर्थात् उक्त विकृति यागों में " प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या " के अनुसार प्राप्त होने से द्व्यहः साध्यता आनुमानिक और उक्त वाक्य से साक्षात् विहित होने के कारण एकाहः साध्यता प्रत्यक्षोपदिष्ट है और आनुमानिक तथा प्रत्यक्षोपदिष्ट दोनों के मध्य प्रत्यक्षोपदिष्ट प्रबल होता है और प्रबल से निर्बल का बाध सर्वसम्मत है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त विकृति याग एकाहः साध्य है द्व्यहः साध्य नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :-

द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् । २३ ।

पद०-द्वैयहकाल्ये । तु । यथान्यायम् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष के अभिप्राय मे आया है (द्वैयहकाल्ये) उक्त विकृति यागों का द्व्यहः साध्य होने से (यथान्यायं) "प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या" इस न्याय का अतिक्रमण नहीं होता ।

भाष्य-दर्शपूर्णमास रूप प्रकृति याग को पूर्वोक्त रीति से द्व्यहः साध्य देखा है यदि उक्त विकृति यागों को भी द्व्यहः साध्य मानाजाय तो "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" यह न्याय सङ्गत होजाता है अन्यथा इसका अतिक्रमण करना पड़ेगा सो ठीक नहीं अर्थात् विकृति यागों में सम्पूर्ण प्राकृत धर्मों का अनुष्ठान होता है, द्व्यहः काल भी प्राकृत है और उक्त चोदक वाक्य से विकृति यागों में प्राप्त है और जो यथा न्याय प्राप्त है उसका अनुष्ठान होना आवश्यक है अननुष्ठान ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त विकृति याग भी द्व्यहः साध्य हैं एकाहः साध्य नहीं ॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

वचनाद्वैककाल्यं स्यात् । २४ ।

पद०-वचनात् । वा । ऐककाल्यं । स्यात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (ऐककाल्यं) उक्त विकृति याग एकाहः साध्य (स्यात्) हैं क्योंकि (वचनात्) उक्त वाक्यविशेष से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य-यद्यपि द्व्यहःकाल प्राकृत धर्म होने के कारण उक्त चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त है तथापि उक्त वाक्यविशेष से एकाहः

काल प्रत्यक्ष प्राप्त होने के कारण वह अनुष्ठेय नहीं होसक्ता, क्योंकि वह चोदक के प्राप्त होने के कारण प्रत्यक्षोपादिष्ट की अपेक्षा निर्बल है और निर्बल तथा प्रबल दोनों के मध्य प्रबल का ही अनुष्ठान होना ठीक है निर्बल का नहीं, इसलिये सिद्ध है कि ऐन्द्राग्न आदि विकृति याग एकाहः साध्य हैं द्व्यहःसाध्य नहीं, यहां एकाहः से तात्पर्य्य अमावास्या तथा पूर्णमासी का है।

सं०—अब सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकृति यागों का ज्योतिष्टोम याग से पश्चात् अनुष्ठान कथन करते हैं:—

सांनाय्याग्नीषोमीयविकारा ऊर्ध्वं सोमात् प्रकृतिवत् । २५ ।

पद०—सांनाय्याग्नीषोमीयविकाराः । ऊर्ध्वं । सोमात् । प्रकृतिवत् ।

पदा०—(प्रकृतिवत्) जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय दोनों याग ज्योतिष्टोम से पश्चात् होते हैं वैसेही (सांनाय्याग्नीषोमीयविकाराः) उक्त दोनों याग के विकृति याग भी (ऊर्ध्वं) पीछे (स्यात्) होने चाहियें।

भाष्य—"**वैश्वदेव्यामिक्षा**" =सर्व दिव्य शक्ति सम्पन्न परमात्मा के उद्देश से आमिक्षा का प्रदान करे, इत्यादि वाक्यों से विधान किये सांनाय्य विकार तथा "**अग्नीषोमीयमेकादश कपालं निर्वपेत्**" = प्रकाश और सोमस्वरूप परमात्मा के उद्देश से एकादश कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का प्रदान करे, इत्यादि वाक्यों से विधान किये अग्नीषोमीय विकार याग इस अधिकरण का विषय हैं उक्त याग अपने प्रकृति याग की

भांति ज्योतिष्टोम याग से पश्चात् कर्तव्य हैं किंवा पूर्व ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की है कि विकृति याग को प्रकृति याग की भांति होना आवश्यक है क्योंकि वह उसकी भांति अनुष्ठेय न होने से उसका विकार नहीं होसक्ता और विना किसी प्रबल प्रमाण के विकारों को अपने प्रकृति याग से विपरीत अनुष्ठेय होना असंभव है और प्रकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम याग से पीछे सर्वसम्मत है, इस लिये सिद्ध है कि सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय यागों के विकृति यागों का अनुष्ठान भी ज्योतिष्टोम याग से पीछे ही कर्तव्य है पूर्व नहीं ।

सं०-अब ज्योतिष्टोम के विकृति यागों का अनुष्ठान दर्शपूर्णमास याग से पश्चात् कथन करते हैं :-

तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम् । २६ ।

पद०-तथा । सोमविकाराः । दर्शपूर्णमासाभ्याम ।

पदा०-(तथा) जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम याग से पीछे होता है वैसेही (सोमविकाराः) ज्योतिष्टोम याग के विकृति यागों का अनुष्ठान (दर्शपूर्णमासाभ्यां) दर्शपूर्णमास याग से पीछे होना चाहिये ।

भाष्य-" गवा यजेत "= गौ नामक याग करे, इत्यादि वाक्यों से विहित गौ आदि नामक ज्योतिष्टोम याग के विकार इस अधिकरण के विषय हैं उक्त याग दर्शपूर्णमास याग से पूर्व कर्तव्य हैं किंवा पश्चात् ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस

प्रकार कीगई है कि यद्यपि ज्योतिष्टोम याग दर्शपूर्णमास याग से पूर्व अनुष्ठेय है तथापि उसका पूर्व अनुष्ठान वाक्य सिद्ध नहीं किन्तु अर्थ सिद्ध है जैसाकि पीछे निरूपण किया गया है और "प्रकृति-वद् विकृतिः कर्तव्या" से वाक्यसिद्ध की प्राप्ति होती है अर्थ सिद्ध की नहीं यह नियम है, और उसकी प्राप्ति न होने से अपने प्रकृति याग की भांति उक्त विकृति यागों का दर्शपूर्णमास-याग से पूर्व अनुष्ठान होना असंभव है और पश्चात् अनुष्ठान सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकारों की भांति स्वतः सिद्ध है और जो स्वतःसिद्ध है उसका परित्याग ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम याग से पश्चात् कर्तव्य है वैसे ही ज्योति-ष्टोम याग के विकृति यागों का अनुष्ठान दर्शपूर्णमास याग से पश्चात् कर्तव्य है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
मीमांसार्य्यभाष्ये
पञ्चमाध्याये
चतुर्थःपादः
समाप्तः

ओ३म्

। अथ मीमांसार्य्यभाष्ये षष्ठाध्याये प्रथमःपादः प्रारभ्यते ।

सं०-पंचमाध्याय में कर्मों का क्रम निरूपण किया कि कौन कर्म पहले और कौन पीछे करना चाहिये, अब इस अध्याय में यह निरूपण करते हैं कि यज्ञादि कर्मों का किसको अधिकार है और किसको नहीं ।

यद्यपि इस अध्याय में यज्ञ सम्बन्धी अनेक विषयों का वर्णन कियागया है तथापि अधिकारानधिकार का विशेष वर्णन होने से इस अध्याय का नाम अधिकाराध्याय है, अब इस पाद में यह विचार करने के लिये कि द्रव्य और कर्म में कौन मुख्य और कौन गौण है पूर्वपक्ष करते हैं:—

द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः ॥ १ ॥

पद०-द्रव्याणां । कर्मसंयोगे । गुणत्वेन । अभिसम्बन्धः ।

पदा०-(द्रव्याणां) द्रव्यों का (कर्मसंयोगे) कर्मविषयक संयोग में (गुणत्वेन) गौण (अभिसम्बन्धः) सम्बन्ध है ।

भाष्य-"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"=स्वर्ग की कामना वाला पुरुष दर्शपूर्णमासयाग करे "ज्योतिष्टोमेन-स्वर्गकामो यजेत"=स्वर्ग की कामना वाला पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे, यहां पूर्वपक्षी का कथन यह है कि द्रव्य गौण है

और कर्म प्रधान है, क्योंकि द्रव्य कर्म के लिये एक साधन है और कर्म साध्य है इसलिये वह प्रधान है।

और युक्ति यह है कि द्रव्य भूत है अर्थात् सिद्ध वस्तु है और कर्म भव्य है अर्थात् होने वाला है इसलिये द्रव्य कर्म के लिये है क्योंकि यह बात युक्तिसिद्ध है कि भूत वस्तु भव्य के लिये होती है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

असाधकं तु तादर्थ्यात् ॥ २ ॥

पद०-असाधकं । तु । तादर्थ्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (तादर्थ्यात्) स्वर्ग के लिये होने से (असाधकं) याग कर्म की सिद्धि का साधक नहीं।

भाष्य-"स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य में स्वर्ग शब्द प्रीति का वाचक है, क्योंकि प्रीति वाले द्रव्य में स्वर्ग शब्द की वाचकता पाई जाती है, जिस द्रव्य में प्रीति न हो उसमें स्वर्ग शब्द का प्रयोग नहीं होता अर्थात् प्रीति ही स्वर्ग है, इसलिये याग गुणभूत है और प्रीति प्रधान है।

सं०-अब उक्त विषय में और युक्ति कथन करते हैं :-

प्रत्यर्थं चाभिसंयोगात्कर्मतो ह्यभिसम्बन्धस्तस्मात्कर्मोपदेशः स्यात् ॥ ३ ॥

पद०-प्रत्यर्थं । च । अभिसंयोगात् । कर्मतः । हि । अभिसम्बन्धः । तस्मात् । कर्मोपदेशः । स्यात् ।

पदा०-(च) और (प्रत्यर्थं) स्वर्ग संज्ञक अर्थ के लिये (अभिसंयोगात्) यज्ञरूप कर्म का कारणत्वेन सम्बन्ध पाये जाने से (कर्मतः, हि) कर्म द्वारा ही (अभिसम्बन्धः) स्वर्ग और याग रूप कर्म का जन्य जनक रूप सम्बन्ध है (तस्मात्) इसलिये (कर्मोपदेशः) कर्म का कथन (स्यात्) गौण है ।

भाष्य-पूर्वपक्षी का कथन यह है कि स्वर्ग की कामना वाले पुरुष के लिये याग का विधान है इससे यह नहीं पाया जाता कि याग से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और ऐसा कोई वाक्य भी नहीं मिलता जिसमें यह कथन पायाजाय कि यह अनुष्ठान स्वर्ग के लिये है ? इसका उत्तर यह है कि इष्ट अर्थ के लिये ही अनुष्ठान होता है और "स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य में इष्ट अर्थ स्वर्ग है इससे सिद्ध है कि यागोपदेश गौण है क्योंकि वह स्वर्ग के लिये है और स्वर्ग मुख्य है ।

तात्पर्य्य यह है कि "स्वर्गकाममधिकृत्य यजेत"= स्वर्ग की इच्छा को लक्ष्य रखकर यज्ञ करे, इस प्रकार यह स्वर्ग फल साधनताधिकरण इस अधिकाराध्याय से सम्बन्ध रखता है ।

सं०-अब यज्ञादि कर्मों के अधिकारानधिकार का निरूपण करते हैं :—

फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥ ४ ॥

पद०-फलार्थत्वात् । कर्मणः । शास्त्रं । सर्वाधिकारं । स्यात् ।

पदा०-(कर्मणः) कर्म (फलार्थत्वात्) फल के लिये होने से (शास्त्रं) शास्त्र (सर्वाधिकारं) सबके अधिकार वाला (स्यात्) है ।

भाष्य–कर्म फल की सिद्धि के लिये किये जाते हैं और फल की सबको इच्छा है, इसलिये शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मों का पुरुष स्त्री दोनों को अधिकार है।

सं०–अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :—

कर्तुर्वाश्रुतिसंयोगाद्विधिः कार्त्स्न्येन गम्यते ॥ ५ ॥

पद०–कर्तुः। वा। श्रुतिसंयोगात्। विधिः। कार्त्स्न्येन। गम्यते।

पदा०–"वा" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (श्रुतिसंयोगात्) वैदिक कर्मों के अधिकार विषय में स्त्री विषयक श्रुति पाये जाने से (कर्तुः,विधिः) कर्त्ता की विधि (कार्त्स्न्येन) सम्पूर्ण रीति से (गम्यते) पाई जाती है।

भाष्य–स्वाध्याय आदि कर्मों में स्त्रियों के अध्ययनाध्यापन आदि कर्मों के पाये जाने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वैदिक कर्मों का कर्त्तामात्र को अधिकार है।

सं०–अब उक्त विषय में ऐतिशायन ऋषि के मत से पूर्वपक्ष करते हैं :—

लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः ॥ ६ ॥

पद०–लिङ्गविशेषनिर्देशात्। पुंयुक्तं। ऐतिशायनः।

पदा०–(लिङ्गविशेषनिर्देशात्) पुल्लिङ्ग का कथन पाये जाने से (पुंयुक्तं) पुल्लिङ्ग पद के वाच्य यजमानत्व धर्म वाले पुरुष का ही यज्ञ करने में अधिकार है यह (ऐतिशायनः) ऐतिशायन ऋषि का मत है।

भाष्य-"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों से " स्वर्गकामः " यहां पुल्लिङ्ग के पायेजाने से यह स्पष्ट है कि यज्ञादि कर्मों में पुरुष को ही अधिकार है स्त्री को नहीं।

सं०-अब इस विषय में युक्ति कथन करते हैं:—

तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥ ७ ॥

पद०-तदुक्तित्वात्। च। दोषश्रुतिः। अविज्ञाते।

पदा०-(अविज्ञाते) अज्ञात गर्भ के हनन से (दोषश्रुतिः) दोष का श्रवण पाया जाता है यह बात (तदुक्तित्वात्) पुल्लिङ्गोक्ति से ही सिद्ध होती है अन्यथा नहीं (च) शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है।

भाष्य-"अविज्ञातेगर्भे हतं भ्रूणहा" = अविज्ञात गर्भ के हनन करने से पुरुष भ्रूणहत्यारा बनता है और भ्रूण नाम यज्ञ का है एवं भ्रूणहा नाम यज्ञहन्ता का है, इस स्थल में अविज्ञातगर्भ के कथन करने से यह पाया जाता है कि यज्ञ का हनन जिस गर्भ में मनुष्य हो उसके हनन सेही होता है जिस गर्भ में स्त्री हो उससे नहीं। यह बात अविज्ञात पद के कथन से पाई जाती है अन्यथा उक्त पद का कथन व्यर्थ होजाता है, इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य को ही यज्ञ का अधिकार है स्त्री को नहीं, क्योंकि उसके मरने से यज्ञ का हनन कथन नहीं कियागया।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्ट-त्वात् ॥ ८ ॥

पद०—जातिं । तु । बादरायणः । अविशेषात् । तस्मात् । स्त्री । अपि । प्रतीयेत । जात्यर्थस्य । अविशिष्टत्वात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (बादरायणः) बादरायण आचार्य्य "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों में पुल्लिङ्ग निर्देश को (जातिं) जाति का बोधक मानते हैं क्योंकि (अविशेषात्) उसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती (तस्मात्) इसलिये (जात्यर्थस्य) जाति का जो अर्थ है उसके (अविशिष्टत्वात्) तुल्य होने से (स्त्री, अपि, प्रतीयेत) स्त्री का भी ग्रहण किया जासकता है ।

भाष्य—"स्वर्गकामो जयेत" इस वाक्य में "स्वर्गकाम" शब्द के यह अर्थ होते हैं कि "स्वर्गकामो यस्य स स्वर्गकामः"= स्वर्ग में हो कामना जिसकी उसका नाम "स्वर्गकाम" है ।

तात्पर्य्य यह है कि स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ का अधिकारी सिद्ध होता है, क्योंकि उक्त शब्द जातिवाचक है, इसलिये यह लक्षण स्त्री और पुरुष दोनों में समान है ।

सं०—अब उक्त विषय में और युक्ति कथन करते हैं :—

चोदितत्वाद्यथाश्रुति ॥ ६ ॥

पद०—चोदितत्वात् । यथाश्रुति ।

पदा०—(चोदितत्वात्) वेदप्रतिपाद्य होने से (यथाश्रुति) श्रुति अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों को यज्ञ का अधिकार है ।

भाष्य—जब वेदप्रतिपाद्य अर्थ का नाम धर्म है तो फिर यह कैसे कहा जासकता है कि स्त्रियों को यज्ञ का अधिकार नहीं, क्योंकि धर्म का स्त्री को भी अधिकार है और "यथेमां वाचं"

यजु० २६ । २ इत्यादि मंत्रों से पुरुषमात्र को वेद का अधिकार है फिर स्त्री के अधिकार में क्या बाधा ; इससे सिद्ध है कि स्त्री को भी यज्ञ का अधिकार है ।

सं०—अब स्त्री का यज्ञादि कर्मों में अधिकार न होने में और हेतु कथन करते हैं :—

द्रव्यवत्त्वात्तुपुंसां स्याद् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात् ॥ १० ॥

पद०—द्रव्यवत्त्वात् । तु । पुंसां । स्यात् । द्रव्यसंयुक्तं । क्रयविक्रयाभ्यां । अद्रव्यत्वं । स्त्रीणां । द्रव्यैः । समानयोगित्वात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (पुंसां) पुरुषों के (द्रव्यवत्वात्) द्रव्यवाले होने से (द्रव्यसंयुक्तं) द्रव्यसाध्य यज्ञादि कर्म (स्यात्) हैं (क्रयविक्रयाभ्यां) मूल्य लेने और बेचने से (स्त्रीणां) स्त्रियें (अद्रव्यत्वं) द्रव्यरहित पाई जाती हैं, क्योंकि (द्रव्यैः) द्रव्यों के साथ (समानयोगित्वात्) यज्ञादि कर्मों का सम्बन्ध होता है ।

भाष्य—द्रव्य के स्वामी पुरुष होते हैं और यज्ञ द्रव्यसाध्य है इसलिये पुरुषों को ही यज्ञ का अधिकार है स्त्रियों को नहीं और स्त्रियें बेची तथा मूल्य लीजाती हैं इससे पाया जाता है कि वह एक प्रकार का द्रव्य हैं द्रव्य की स्वामिनी नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्य के स्वामी पुरुषों को ही यज्ञ का अधिकार है स्त्रियों को नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में उदाहरण कथन करते हैं :—

तथाचान्यार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥

पद०—तथा । च । अन्यार्थदर्शनम् ।

पदा०—(तथा) उक्त बेचने और मूल्यलेने की सिद्धि में (च) और (अन्यार्थदर्शनम्) उदाहरण पाया जाता है ।

भाष्य—स्त्रियें पिता और भाई आदिकों से बेची जाती हैं और पति मूल्य लेता है इससे सिद्ध होता है कि उनका द्रव्य में कोई स्वत्व नहीं और बिना द्रव्य के यज्ञादि कर्म नहीं होते, इस लिये स्त्रियों का यज्ञादि कर्मों में अधिकार नहीं ।

सं०—स्त्रियें कातकर अथवा सेवा से जो धन उपार्जन करती हैं उनसे यज्ञादि कर्म करलेंगी, फिर उनको अधिकार क्यों नहीं ? अब इस आशंका का निरास करते हैं:—

तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम् ॥ १२ ॥

पद०—तादर्थ्यात् । कर्मतादर्थ्यम् ।

पदा०—(तादर्थ्यात्) पति के लिये होने से (कर्मतादर्थ्यम्) स्त्री के काम भी पति के ही होते हैं ।

भाष्य—स्त्री पति की है इसलिये उसके काम स्वतन्त्र नहीं होसकते, पति के अधीन ही होते हैं जैसाकि:—

भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्धना सर्व एव ते ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥

अर्थ—स्त्री, दास तथा पुत्र यह सब निर्धन गिने जाते हैं क्योंकि जिसके सम्बन्ध में यह होते हैं वही पुरुष इनके धन का स्वामी होता है, इसलिये स्त्रियों को यज्ञादि कर्मों का अधिकार नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

फलोत्साहाऽविशेषात्तु ॥ १३ ॥

पद०-फलोत्साहाऽविशेषात् । तु ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ आया है (फलोत्साहाऽविशेषात्) धर्मरूपी फल और वैदिक कर्मों के करने का उत्साह मनुष्य की न्याईं स्त्री में भी पाया जाता है ।

भाष्य-स्त्रियों में भी तीव्र बुद्धि पाई जाती है, यदि वैदिक कर्मों के करने का अधिकार स्त्रियों को न होता तो उनमें ऐसी सूक्ष्म बुद्धि न पाई जाती और बुद्धिगत सूक्ष्मता धर्मविशेष का फल है जैसाकि "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः" वै०१।१।२ में वर्णन किया है कि अभ्युदय=लौकिक उन्नति और मुक्ति यह दोनों धर्म का फल हैं, एवं उन्नतिरूप उक्त फल स्त्रियों में भी पाये जाते हैं और स्त्रियों को मनुष्य जन्म मिलने का भी यही कारण है कि उनको मुक्ति का अधिकार है जैसाकि वृहदारण्यकोपनिषद् में पाया जाता है कि मैत्रेयी ने मुक्ति विषय याज्ञवल्क्य से पूछा, इससे सिद्ध है कि स्त्रियों में भी वैदिक कर्म करने का उत्साह पाया जाता है, इसलिये यज्ञादि कर्मों में स्त्रियों को अधिकार है ।

सं०-अत्र उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

अर्थेन च समवेतत्वात् ॥ १४ ॥

पद०-अर्थेन । च । समवेतत्वात् ।

पदा०-(च) और (अर्थेन) अर्थ के साथ (समवेतत्वात्) सम्बन्ध पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-विवाह काल में यह उपदेश पायाजाता है कि यह तुम्हारी सहधर्मिणी है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस फल चतुष्टय का संचय तुम दोनों ने मिलकर करना, इस प्रकार फल का सम्बन्ध पाये जाने से सिद्ध है कि स्त्रियों को यज्ञादि कर्मों में अधिकार है।

सं०-मूल्य लेने और बेचने विषयक जो पीछे पूर्वपक्ष किया गया था अब उसका समाधान करते हैं :-

क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् ॥ १५ ॥

पद०-क्रयस्य । धर्ममात्रत्वम ।

पदा०-(क्रयस्य) पति को देना (धर्ममात्रत्वम्) धर्म है ।

भाष्य-पूर्वपक्षी ने जिसको बेचना कथन किया है वह बेचना नहीं किन्तु धर्म है, क्योंकि बेचना वह कहलाता है जिसमें उपयुक्त द्रव्य लेकर ऊंच नीच का विचार न कियाजाय परन्तु यहां इसके सर्वथा विपरीत है, क्योंकि यहां पर वैदिक विधि द्वारा स्त्री पुरुष दोनों से प्रतिज्ञायें कराई जाती हैं कि तुम परस्पर एक दूसरे की आज्ञानुसार चलो और साथ २ वैदिक धर्म का पालन करो, कभी एक दूसरे का अनिष्ट चिन्तन मतकरो, इस वैदिक विधि में बेचने की क्या कथा ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :-

स्ववत्तामपिदर्शयाति ॥ १६ ॥

पद०-स्ववत्ताम । अपि । दर्शयति ।

पदा०-(स्ववत्तां) पति के स्वत्व वाली होना (अपि) भी (दर्शयति) शास्त्र मे पायाजाता है ।

भाष्य-पूर्वपक्षी का जो यह कथन था कि स्त्रियें निर्धन होती हैं इसलिये उनको यज्ञादि कर्मों का अधिकार नहीं, इसका उत्तर यह है कि शास्त्र स्त्रियों को पति के धनवाली होना सिद्ध करता है, क्योंकि शास्त्र में दम्पति का एक धर्म कथन किया गया है इसलिये स्त्रियों को यज्ञादि कर्मों में पूर्ण अधिकार है।

सं०-अब दम्पति के एककर्म में और युक्ति कथन करते हैं:-

स्ववतोस्तुवचनादैककर्म्यंस्यात् ॥१७॥

पद०-स्ववतोः। तु। वचनात्। ऐककर्म्यं। स्यात्।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (स्ववतोः) स्त्री पुरुष दोनों के एक कर्म के बोधक (वचनात्) वचन पाये जाने से (ऐककर्म्यं) एककर्म करने का विधान (स्यात्) है।

भाष्य-"धर्मेचार्थे च कामे च नातिचरितव्या"=धर्म अर्थ और काम में स्त्री को पृथक् नहीं करना चाहिये, इत्यादि प्रमाणों से पाया जाता है कि स्त्री पुरुष दोनों का यज्ञादि कर्मों में अधिकार है।

सं०-अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं:-

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १८ ॥

पद०-लिङ्गदर्शनात्। च।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) वैदिक वाक्यों में एक साथ कर्म करने का लिङ्ग पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-वेदों में ऐसा विधान पाया जाता है जिससे दम्पति का एककर्म सिद्ध होता है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्त्रियों को वैदिक कर्मों का अधिकार है।

सं०—अब उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये पुनः पूर्वपक्ष करते हैं:—

क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते॥१९॥

पद०—क्रीतत्वात् । तु । भक्त्या । स्वामित्वं । उच्यते ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वोक्त सिद्धान्त के खण्डनार्थ आया है (क्रीतत्वात्) स्त्रियों के मूल्य लेने से (भक्त्या) गौणी वृत्ति द्वारा (स्वामित्वं) स्त्री का धन स्वामिनी होना (उच्यते) कथन किया गया है वास्तव में नहीं ।

भाष्य—जैसाकि स्वामी के धन की रक्षा करने से भृत्य को भी धन का स्वामी कथन किया जाता है एवं स्वामी के धन की संरक्षक होने से स्त्री को भी धन का स्वामिनी कहा जाता है, इससे सिद्ध है कि स्त्री स्वयं स्वामिनी नहीं फिर यज्ञादि कर्मों में उसको अधिकार कैसे ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

फलार्थित्वात्तुस्वामित्वेनाभि-
सम्बन्धः ॥२०॥

पद०—फलार्थित्वात् । तु । स्वामित्वेन । अभिसम्बन्धः ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (फलार्थित्वात्) स्त्री धर्मरूप फल के अर्थ वाली है अर्थात् धर्मरूप फल को चाहती है इसलिये (स्वामित्वेन) स्वामीपन से स्त्री का (अभिसम्बन्धः) धनादि पदार्थों के साथ सम्बन्ध है ।

भाष्य—जब स्त्री धर्मरूप प्रयोजन वाली है तो फिर कैसे कहा जाता है कि उसका धनादिकों में स्वयं स्वामित्व नहीं, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय की सामर्थ्य

रखने से स्त्री को यज्ञादि कर्मों में स्वामित्वरूप से मुख्य अधिकार है गौणता से नहीं।

सं०-शास्त्र यज्ञादि कर्मों में दोनों को ही फल कथन करता है अब इस विषय का उपपादन करते हैं:-

फलवत्तां च दर्शयति ॥ २१ ॥

फलवत्तां। च। दर्शयति।

पदा०-(च) और (फलवत्तां) धर्मादि फलचतुष्टय की सफलता को (दर्शयति) शास्त्र दिखलाता है।

भाष्य-यज्ञादि कर्मों में शास्त्र दम्पति=स्त्री पुरुष दोनों को एक साथ कर्म करने की सफलता को कथन करता है, इससे सिद्ध है कि दोनों को यज्ञादि कर्मों का अधिकार है।

सं०-अब पुरुष स्त्री दोनों को साथ मिलकर अग्न्याधान करने में पूर्वपक्ष करते हैं:-

द्व्याधानं च द्वियज्ञवत् ॥ २२ ॥

पद०-द्व्याधान। च। द्वियज्ञवत्।

पदा०-"च" शब्द पूर्वोक्त यज्ञादि कर्मों में समुच्चय को बोधन करता है (द्व्याधानं) दो पुरुषों को अग्न्याधान करना चाहिये (द्वियज्ञवत्) जैसे दो राज पुरुषों से द्वियज्ञ होता है।

भाष्य-**यथा एतेन द्वौ राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ-यजेयाताम्**"=स्वराज्य की कामना वाले राजा तथा पुरोहित दोनों याग करें, इसका नाम "**द्वियज्ञ**" है, क्योंकि दो पुरुषों द्वारा मिलकर किया जाता है एवं अग्न्याधान कर्म में भी दो पुरुषों का ग्रहण है स्त्री का नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

गुणस्य तु विधानत्वात् पत्न्या द्वितीय-शब्दः स्यात् । २३ ।

पद०—गुणस्य । तु । विधानत्वात् । पत्न्या । द्वितीयशब्दः । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष के निवारणार्थ आया है (गुणस्य) गुण के (विधानत्वात्) विधान करने से (द्वितीयशब्दः) दूसरा शब्द (पत्न्या, स्यात्) पत्नी के ग्रहणार्थ है ।

भाष्य—"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत"=वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे, इस वाक्य में गुण प्रयुक्त ब्राह्मणत्वादि धर्म मानकर स्त्री का भी ग्रहण है अर्थात् ब्राह्मणी भी वसन्त ऋतु में अग्न्याधान करे, एवं द्विवचन से स्त्री पुरुष दोनों का ग्रहण है दो पुरुषों का नहीं, इससे सिद्ध है कि स्त्री को अग्न्याधान का अधिकार है ।

सं०—अब उक्त विषय में युक्ति कथन करते हैं :—

तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्य्य-मतुल्यत्वात् । २४ ।

पद०—तस्या । यावदुक्तम् । आशीः । ब्रह्मचर्य्यं । अतुल्यत्वात् ।

पदा०—(अतुल्यत्वात्) पुरुष के समान योग्यता न रखने से (तस्या) उस यज्ञकर्त्री स्त्री को (यावदुक्तं) जैसा शास्त्र में वर्णन किया गया है वैसा (आशीः) आशीर्वाद और (ब्रह्मचर्य्यं) ब्रह्मचर्य्य करना पाया जाता है ।

भाष्य—स्त्री के आशीर्वाद और ब्रह्मचर्य्य विषयक असमता इसलिये कथन कीगई है कि वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य्य और पुत्र पौत्रादि परिवार बोधक आशीर्वाद स्त्रियों का पुरुषों के समान नहीं होता ।

तात्पर्य्य यह है कि स्त्रियें वेद का उतना अध्ययन नहीं कर सकतीं जितना पुरुष करसकता है, इसलिये इनके आशीर्वाद और ब्रह्मचर्य्य में भेद कथन कियागया है, यहां ब्रह्मचर्य्य शब्द वेदाध्ययन लिये आया है इससे सिद्ध हुआ कि स्त्री को भी अग्न्याधान का अधिकार है ।

सं०—अब ब्राह्मणादि वर्णत्रय का यज्ञादि कर्मों में अधिकार कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

चातुर्वर्ण्यमविशेषात् । २९ ।

पद०—चातुर्वर्ण्यम् । अविशेषात् ।

पदा०—(चातुर्वर्ण्यम्) चारों वर्णों का वैदिक कर्मों में अधिकार है क्योंकि (अविशेषात्) ब्राह्मणादि वर्णों में कोई विशेषता नहीं पाई जाती ।

भाष्य—वैदिक कर्म वर्णचतुष्टय के लिये हैं, किसी वर्ण में विशेषता नहीं सब वर्ण वैदिक कर्मों के अधिकारी हैं भाव यह है कि शूद्र के भी हस्तपादादि अवयव वैसे ही हैं जैसे ब्राह्मण के फिर ब्राह्मणादिकों में विशेषता क्या।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुति-रित्यात्रेयः ॥ २६ ॥

पद०-निर्देशात् । वा । त्रयाणां । स्यात् । अग्न्याधेये । हि । असम्बन्धः । क्रतुषु । ब्राह्मणश्रुतिः। इति । आत्रेयः ।

पदा०-(त्रयाणां) ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णों का (क्रतुषु) यज्ञों (वा) और (अग्न्याधेये) अग्न्याधान रूप कर्म में (निर्देशात्) सम्बन्ध है (हि) निश्चय करके (असम्बन्धः) शूद्र का उक्त कर्म में सम्बन्ध नहीं, क्योंकि (ब्राह्मणश्रुतिः) ब्राह्मणादि वर्णों का अधिकार बोधन करने वाली श्रुति ऐसा ही कथन करती है (इति) यह (आत्रेयः) आत्रेय ऋषि का मत (स्यात्) है ।

भाष्य-"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत" = वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे "ग्रीष्मेराजन्यः" = ग्रीष्मऋतु में क्षत्रिय और "शार्दिवैश्यः" = शरद् ऋतु में वैश्य, इस प्रकार तीनों वर्णों का यज्ञादि कर्मों में अधिकार पाया जाता है शूद्र का नहीं, इससे सिद्ध है कि शूद्र को वैदिक कर्मों का अधिकार नहीं यह अत्री ऋषि का पुत्र आत्रेय मानता है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में बादरि ऋषि का मत कथन करते हैं :-

निमित्तार्थेन बादरिः तस्मात्सर्वाधि-कारं स्यात् । २७ ।

पद०—निमित्तार्थेन । बादरिः । तस्मात् । सर्वाधिकारं । स्यात् ।

पदा०—(निमित्तार्थेन) नैमित्तिक सामर्थ्य से अधिकार उत्पन्न होता है (तस्मात्) इस कारण (सर्वाधिकारं) सबका अधिकार (स्यात्) है (बादरिः) बादरि ऋषि ऐसा मानते हैं ।

भाष्य—वैदिक कर्मों में जो अधिकार उत्पन्न होता है वह योग्यता से होता है और वह योग्यता नैमित्तिकी होती है स्वाभाविकी नहीं, इसलिये योग्यता वाले सब पुरुषों को वैदिक कर्मों में अधिकार है ।

तात्पर्य्य यह है कि अधिकारानधिकार सामर्थ्य प्रयुक्त है अर्थात् जिसको वेदाध्ययन का सामर्थ्य है वही अधिकारी है इतर नहीं, इससे सिद्ध है कि सामर्थ्यवाला प्रत्येक पुरुष वैदिक कर्मों का अधिकारी है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :—

अपि वाऽन्यार्थदर्शनाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ॥ २७ ॥

पद०—अपि । वा । अन्यार्थदर्शनात् । यथाश्रुतिः । प्रतीयेत ।

पदा०—" अपि, वा " शब्द युक्त्यन्तर का सूचक है (अन्यार्थदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से (यथाश्रुतिः) वर्णचतुष्टय का अधिकार (प्रतीयेत) प्रतीत होता है ।

भाष्य—" यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः " यजु० २६।२, इत्यादि मंत्रों में परमेश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो जिस प्रकार मैं वेदरूपी वाणी का सबके लिये उपदेश करता हूं इसी प्रकार तुम भी सब मनुष्यों को उपदेश करो, इससे सिद्ध है

कि श्रुति और श्रौत कर्मों का सबको अधिकार है केवल ब्राह्मणादि वर्णों को ही नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :–

निर्देशात्तु पक्षे स्यात् ॥२८॥

पद०–निर्देशात् । तु । पक्षे । स्यात् ।

पदा०–"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (निर्देशात) पूर्वोक्त निर्देश पाये जाने से (पक्षे) ब्राह्मणादि पक्ष में वैदिक कर्मों का सद्भाव (स्यात्) पायाजाता है ।

भाष्य–यज्ञादि कर्मों का विधान केवल वर्णत्रय के लिये ही पायाजाता है शूद्र को नहीं, इसलिये तीनों वर्णों को ही वैदिक कर्मों का अधिकार है ।

सं०–अब शूद्र को वैदिक कर्मों के निषेध में और युक्ति कथन करते हैं :–

वैगुण्यान्नेति चेत् ॥ २९ ॥

पद०–वैगुण्यात् । न । इति । चेत् ।

पदा०–(वैगुण्यात्) उपनयन विधि में शूद्र के लिये व्रत न पाये जाने से उसको ब्रह्मविद्या का (न) अधिकार नहीं (चेत्) यदि (इति) यह आशङ्का कीजाय तो ठीक नहीं ।

भाष्य–शास्त्र में स्पष्ट प्रकार से विधान किया है कि ब्राह्मण दूध का, क्षत्रिय यवागू का और वैश्य आमिक्षा का व्रतपूर्वक उपनयन करें, इस प्रकार विधान पाये जाने से स्पष्ट है कि तीन ही वर्णों को वैदिक कर्मों का अधिकार है शूद्र को नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

न काम्यत्वात् ॥ ३० ॥

पद०-न । काम्यत्वात् ।

पदा०-(काम्यत्वात्) शूद्रों में भी कामना पायेजाने से (न) उक्त कथन ठीक नहीं ।

भाष्य-अधिकार का प्रयोजक सामर्थ्य होता है, जिस पुरुष को वैदिक कर्म करने तथा वेदाध्ययन का सामर्थ्य है उसको अधिकार है, क्योंकि अधिकार की सूचक कामना है और कामना शूद्र में भी पाई जाती है इसलिये शूद्र को भी अधिकार है ।

सं०-अब ब्राह्मणादि वर्णों में संस्कार की विशेषता कथन करते हैं :-

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥ ३१ ॥

पद०-संस्कारे । च । तत्प्रधानत्वात् ।

पदा०-"च" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (संस्कारे) संस्कार विषय में विशेषता का कारण (तत्प्रधानत्वात्) ब्राह्मणादि वर्णों की प्रधानता है ।

भाष्य-ब्रह्मविद्या का मुख्य अधिकारी होने से ब्राह्मण, वैदिक धर्म रक्षा की प्रधानता से क्षत्रिय, और कोषरक्षा की प्रधानता से वैश्य में संस्कारों की प्रधानताहै और शूद्र बिना उपनयनके अधिकारी है क्योंकि उसके सामर्थ्य की परीक्षा होने पर वह उक्त वर्णत्रय में सम्मिलित होसकता है अन्यथा नहीं ।

सं०—अब और पूर्वपक्ष करते हैं :-

अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ॥ ३२ ॥

पद०—अपि । वा । वेदनिर्देशात् । अपशूद्राणां । प्रतीयेत ।

पदा०—" अपि, वा " शब्द पूर्वोक्त सिद्धान्त के खण्डनार्थ आया है (वेदनिर्देशात्) वेद के कथन द्वारा (अपशूद्राणां) शूद्र से रहित वर्णत्रय का अधिकार (प्रतीयेत) प्रतीत होता है ।

भाष्य "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत" यजु० ३१।१२। इस मंत्र में शूद्र को पादस्थानीय कथन किया है, इससे पाया जाता है कि शूद्र वर्णत्रय से नीचा है और नीचा होने के कारण वैदिक कर्मों का अधिकारी नहीं होसकता, इसलिये वर्णत्रय को ही वैदिक कर्मों का अधिकार है शूद्र को नहीं ।

सं०—अब और युक्ति कथन करते हैं :-

गुणार्थित्वान्नेति चेत् ॥ ३३ ॥

पद० गुणार्थित्वात् । न । इति । चेत् ।

पदा०—(गुणार्थित्वात्) अध्ययनरूपी गुण का अर्थी होने से (न) शूद्र को निषेध नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है ।

भाष्य—वैदिक कर्मों में शूद्र का अधिकार न मानने वाले यह युक्ति देते हैं कि शूद्र का उपनयन नहीं होता इसलिये शूद्र वैदिक कर्मों का अधिकारी नहीं, यदि यह कहाजाय कि विद्यारूपी गुण

का तो अर्थी है इसलिये उसको अधिकार होना चाहिये, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बिना उपनयन से किसी को वैदिक कर्मों का अधिकार नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

संस्कारस्यतदर्थत्वात् विद्यायां पुरुषश्रुतिः ॥ ३४ ॥

पद०-संस्कारस्य । तदर्थत्वात् । विद्यायां । पुरुषश्रुतिः ।

पदा०-(संस्कारस्य) उपनयनादि संस्कार (तदर्थत्वात्) विद्या के लिये होने से (विद्यायां) विद्याविषयक (पुरुषश्रुतिः) पुरुष के अधिकार का कथन है ।

भाष्य-उपनयनादि संस्कार विद्या के लिये किये जाते हैं किसी स्वतन्त्र फल के लिये नहीं, इसलिये जिस पुरुष में विद्याध्ययन का सामर्थ्य होगा उसी को वैदिक कर्मों का अधिकार है, इससे सिद्ध हुआ कि शूद्र को भी वैदिक कर्म करने चाहियें ।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

विद्यानिर्देशान्नेतिचेत् ॥ ३५ ॥

पद०-विद्यानिर्देशात् । न । इति । चेत् ।

पदा०-(विद्यानिर्देशात्) विद्या का कथन वर्णत्रय में पाये जाने से (न) शूद्र को वैदिक कर्मों का अधिकार नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य-वेदाध्ययन में ब्राह्मणादि वर्णत्रय ही सुने गये हैं शूद्र नहीं, इससे पाया जाता है कि शूद्र अध्ययन में असमर्थ है और

इसीलिये उसमें वैदिक कर्मों का अभाव कथन कियागया है इससे सिद्ध हुआ कि शूद्र को वेदाध्ययनादि कर्मों का अधिकार नहीं क्योंकि उसको उपनयनादि कर्मों का विधान नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात्॥ ३६॥

पद०—अवैद्यत्वात्। अभावः। कर्मणि। स्यात्।

पद०—(अवैद्यत्वात्) शूद्र में विद्या का सामर्थ्य न होने से (कर्मणि) उपनयन कर्म में (अभावः) अभाव (स्यात्) है।

भाष्य--शूद्र कोई जाति नहीं, असंस्कृत पुरुष का नाम शूद्र है अर्थात् जिसकी प्रकृति में विद्या का सामर्थ्य न हो उसको शूद्र कहते हैं उसका उपनयन संस्कार न करने का कारण यह है कि उसके चिन्ह वर्णत्रय की योग्यता को सूचित नहीं करते और जिन के उपनयन किये जाते हैं उनकी योग्यता उनके तत्तद्वर्ण के अधिकार को सूचित कराती है। सार यह है कि ब्राह्मणत्वादि धर्म हैं नकि जाति, जाति वह कहलाती है जिसका आकृति से ग्रहण हो और जो व्यक्ति पर्य्यन्त स्थायी रहे परन्तु ब्राह्मणत्वादिधर्म उस व्यक्ति में आगमापायी हैं इसलिये वह जाति नहीं।

भाव यह है कि विद्या की सामर्थ्य रहित पुरुष शूद्र कहलाता है और वही पुरुष विद्या के सामर्थ्य से ब्राह्मणादि धर्मों को लाभ करता है, इसलिये विद्यासामर्थ्याभाव के निमित्त से कर्मों के अभाव का कथन है जन्म के निमित्त से नहीं।

सं०—अब उक्त विषय में और युक्ति कथन करते हैं:-

तथा चान्यार्थदर्शनम्। ३७।

पद०-तथा । च । अन्यार्थदर्शनम् ।

पदा०-(च) और (तथा) इसी प्रकार (अन्यार्थदर्शनम्) अन्य उदाहरण देखा जाता है ।

भाष्य-और उदाहरण यह है कि छान्दोग्य में सत्यकामजाबाल का सामर्थ्य उसके स्वभाव से देखे जाने के कारण पाया गया कि ब्राह्मणत्वादिधर्म हैं जाति नहीं, और बात यह है कि यदि जन्म से जाति अभिप्रेत होती तो रथकार को अग्न्याधान का अधिकार न दिया जाता, इस अधिकार से भी पाया जाता है कि शूद्र कोई जाती नहीं सामर्थ्यहीन पुरुष का नाम ही शूद्र है. यह पौराणिक भाव है कि "वेदाक्षर विचारेण शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्" = वेदाक्षर विचार से शूद्र चाण्डालपन को प्राप्त होजाता है, और :-

त्रयोवर्णा महाभाग यज्ञसामान्यभागिनः ।
शूद्रावेदपवित्रेभ्यो ब्राह्मणैस्तुबहिष्कृताः॥

वराह पु० च०

अर्थ-हे महाभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य उक्त तीनों वर्ण यज्ञ के भागी है और शूद्रों को पवित्र वेद के अधिकार से ब्राह्मणों ने बाहर कर दिया है । इतना ही नहीं पुराणों के कई एक स्थलों में वैश्य से भी अध्ययन का अधिकार छीन लियागया है जैसाकि :-

अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणं क्षत्रियं विना ।
श्रोतव्यमिह शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन ॥

भवि०पु०च०

अर्थ—ब्राह्मण और क्षात्रिय से बिना किसी को अध्ययन नहीं करना चाहिये, शूद्र को केवल श्रवण काही अधिकार है अध्ययन का नहीं। एवं विध पौराणिक भावों को मीमांसा के टीकाकारों ने भी उक्त सूत्रों के भाव में भरदिया है जिससे पाठकों को भ्रान्ति होती है कि सब मनुष्यों को वेद का अधिकार नहीं, जब वेद ने स्वयं इस बात को स्पष्ट करदिया है कि मनुष्य-मात्र ईश्वर की वाणी का अधिकारी है तो फिर यह कैसे सिद्ध हो-सक्ता है कि बिचारे शूद्र को ईश्वरज्ञान का अधिकार नहीं।

जिन लोगों के मत में शूद्र को वेद का अधिकार नहीं उनका कथन यह भी है कि स्त्री को भी वेद का अधिकार नहीं, यह उन-की मनमानी मिथ्या कल्पना है इसमें कुछ भी सार नहीं, यदि स्त्री को वेद का अधिकार न होता तो महर्षिजैमिनि स्त्री का यज्ञादि कर्मों में अधिकार कथन न करते, और यदि जन्म से ही शूद्र अभिप्रेत होता तो रथकारों का यज्ञों में अधिकार कदापि वर्णन न कियाजाता, स्त्री आदिकों के अधिकार वर्णन से यह स्पष्ट पाया जाता है कि ऋषियों को स्त्री, शूद्रों के अध्ययन से कोई द्वेष न था इस द्वेष की कथा केवल अनार्ष ग्रन्थों में है जैसाकि "स्त्रीशूद्रोनाधीयेयाताम्"=स्त्री और शूद्र नपढ़े इस भाव का सूत्रों में स्पष्ट रीति से निराकरण किया गया है।

सं०—अब यज्ञादि कर्मों में निर्धन के अधिकार निरूपणार्थ पूर्वपक्ष करते हैं:—

त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात्। ३८।

पद०—त्रयाणां । द्रव्यसम्पन्नः । कर्मणः । द्रव्यसिद्धित्वात् ।

पदा०—(त्रयाणां) तीनों वर्णों में से (द्रव्यसम्पन्नः) धनाढ्य को ही अग्न्याधान का अधिकार है, क्योंकि (कर्मणः) कर्मों की (द्रव्यसिद्धित्वात्) द्रव्यरूप साधन द्वारा सिद्धि होती है ।

भाष्य—तीनों वर्णों में से उसीको अग्न्याधान करने का अधिकार है जो द्रव्यसम्पन्न हो, क्योंकि द्रव्य के विना कर्मों की सिद्धि नहीं होती द्रव्य से ही होती है, इसलिये निर्धन को वैदिक कर्मों में अधिकार नहीं होसकता ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यादर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः । ३९ ।

पद०—अनित्यत्वात् । तु । न । एवं । स्यात् । अर्थात् । हि । द्रव्यसंयोगः ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (अनित्यत्वात्) निर्धनता की अवस्था अनित्य होने से (न, एवं, स्यात्) ऐसा नहीं होसकता कि कोई जन्म से धनी हो (अर्थात्) द्रव्य से (हि) निश्चय करके (द्रव्यसंयोगः) द्रव्य का लाभ होता है ।

भाष्य—अर्थोपार्जन से पुरुष धनी होता है और जिसको परम्परा से उपार्जित धन मिलजाता है वह भी निर्धन होसकता है, इसलिये धन का कोई नियम नहीं किन्तु विद्याध्ययन का सामर्थ्य रखने से अग्न्याधान का अधिकारी है. चार वर्णों से तात्पर्य यहां चार प्रकार के सामर्थ्य रखने वाले पुरुषों का है अर्थात् ब्रह्मविद्या

का सामर्थ्य रखने वाले का नाम "ब्राह्मण" रक्षा का सामर्थ्य रखने वाले का नाम "क्षत्रिय" धनोपार्जन का सामर्थ्य रखने वाले का नाम "वैश्य" और केवल भृत्यभाव का सामर्थ्य रखने वाले का नाम "शूद्र" है, शूद्र को इसलिये अग्न्याधान का अधिकार नहीं कि उसका सेवा करना ही परम धर्म है अन्य कर्म नहीं. ऐसे पुरुष को विना उपनयन के ही गुरुकुल में भेजदें उसमें सामर्थ्य होने पर उसको ब्राह्मणादि वर्णों का अधिकार मिलता है, इसलिये यहां शूद्र को अग्न्याधान का अधिकार नहीं दिया, सार यह है कि जिसमें विद्याध्ययन का सामर्थ्य है वही अग्न्याधान का अधिकारी है।

सं०–अब अङ्गहीन का यज्ञ में अधिकार कथन करते हैं :–

अङ्गहीनश्च तद्धर्मा । ४० ।

पद०–अङ्गहीनः । च । तद्धर्मा ।

पदा०–(अङ्गहीनः) अङ्गहीन पुरुष (च) भी (तद्धर्मा) यज्ञधर्म वाला है ।

भाष्य–जैसे सामर्थ्य के कारण वेदाध्ययनादि कर्मों में शूद्र को अधिकार है इसी प्रकार अङ्गहीन को भी अधिकार है ।

सं०–ननु, अन्धादि अङ्गहीन पुरुष का वेदाध्ययन में कैसे अधिकार होसकता है ? उत्तर :–

उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् । ४१ ।

पद०–उत्पत्तौ । नित्यसंयोगात् ।

पदा०–(उत्पत्तौ) धर्मादिकों की उत्पत्ति में (नित्यसंयोगात्)

जीवात्मा का सम्बन्ध पाया जाता है, इसलिये अङ्गहीन को भी अधिकार है।

भाष्य-जैसे विशाल नेत्रों वाले को धर्म करने का अधिकार है एवं अन्ध पुरुष को भी अधिकार है, क्योंकि धर्म के साथ उसका भी वैसा ही सम्बन्ध है जैसाकि नेत्रों वाले का है, इससे सिद्ध है कि अङ्गहीन को भी वेदाध्ययन का अधिकार है।

स०-अब दर्श पूर्णमास याग में तीन प्रवरों वाले ऋत्विक् का वरण कथन करते हैं :-

अत्र्यार्षेयस्य हानं स्यात् ।४२।

पद०-अत्र्यार्षेयस्य । हानं । स्यात् ।

पदा०-(अत्र्यार्षेयस्य) जिसके तीन ऋषि नहीं ऐसे पुरुष का (हानं) यज्ञ में त्याग कथन किया (स्यात्) है।

भाष्य-"मातृमान्पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद" माता, पिता और आचार्य्य से जिसने शिक्षा पाई है ऐसे ऋत्विक् का यज्ञ में वरण कथन किया है और जो उक्त तीनों की शिक्षा से रहित है उसका यज्ञ में त्याग कथन किया गया है।

सं०-अब रथकार का वैदिक कर्मों में अधिकार कथन करते हैं :-

वचनाद्रथकारस्याऽधानेऽस्य सर्वशेषत्वात् ।४३।

पद०-वचनात् । रथकारस्य । आधाने । अस्य । सर्वशेषत्वात् ।

पदा०-(रथकारस्य) रथकार के (आधाने) अग्न्याधान करने में (वचनात्) ब्राह्मण वाक्य पाये जाने से (अस्य) उसको अग्न्याधान की आज्ञा पाई जाती है क्योंकि वह (सर्वशेषत्वात्) तीनों वर्णों का अङ्ग है।

भाष्य-शिल्पजीवी लोगों को अग्न्याधान का अधिकार है, क्योंकि शिल्प कर्म सब कर्मों का अङ्गभूत है, यज्ञादि कर्मों में ब्राह्मण को, शस्त्रों के लिये क्षत्रिय को और कृषि कर्म के लिये वैश्य को शिल्प विद्या की आवश्यकता है, एवं वर्णत्रय का अङ्ग होने से शिल्पकर्त्ता रथकार अग्न्याधान का आधिकारी है और इस प्रकार के वाक्य भी पाये जाते हैं कि "**वर्षासु रथकार आदधीत**"=वर्षाकाल में रथकार अग्न्याधान करे, यहां अग्न्याधान का अधिकारी होने से यह स्पष्ट सिद्ध है कि शिल्पकर्म शूद्र का नहीं, यदि शूद्र का होता तो उसको अग्न्याधान का अधिकार न दिया जाता, अधिकार देने से सिद्ध है कि शिल्पकर्म द्विजों का ही है शूद्र का नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:-

न्याय्यो वा कर्मसंयोगात् शूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात्। ४५।

पद०-न्याय्यः। वा। कर्मसंयोगात्। शूद्रस्य। प्रतिषिद्धत्वात्।

पदा०-"वा" शब्द उक्त सिद्धान्त के मण्डनार्थ आया है (न्याय्यः) उक्त कथन ठीक है, क्योंकि उसका (कर्मसंयोगात्) कर्म के साथ संयोग पाया जाता है और (शूद्रस्य) शूद्र को (प्रतिषिद्धत्वात्) निषेध किया गया है।

भाष्य-"वर्षासु रथकार आदधीत" इस वाक्य में वर्णित अग्न्याधान कर्म के साथ सम्बन्ध पाये जाने से यह बात स्पष्ट होजाती है कि रथकार शूद्र नहीं, यदि वह शूद्र होता तो उसको अग्न्याधान का अधिकार कथन न किया जाता।

सं०-ननु, शूद्र को अग्न्याधान का अधिकार क्यों नहीं? उत्तर :-

अकर्मत्वात्तु नैवं स्यात्। ४६।

पद०-अकर्मत्वात्। तु। न। एवं। स्यात्।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (अकर्मत्वात्) शूद्र अकर्मा है (एवं) इसलिये उसको (न) अग्न्याधान का अधिकार नहीं (स्यात्) है।

भाष्य-शूद्र का कर्म अपने लिये नहीं होता किन्तु स्वामी के लिये होता है और वह सेवादिक हैं वैदिक नहीं, इसलिये उसको अग्न्याधान का अधिकार नहीं होसकता।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:-

आनर्थक्यं च संयोगात्। ४७।

पद०-आनर्थक्यं। च। संयोगात्।

पदा०-(च) और (संयोगात्) अग्न्याधानादि कर्मों के साथ सम्बन्ध पाये जाने से (आनर्थक्यं) अनर्थ होता है।

भाष्य-यदि शूद्र के भी अग्न्याधानादि कर्म करके उपनयनादि संस्कार किये जायं तो अनर्थ उपस्थित होजाता है अर्थात् फिर

भृत्यकर्म के लिये कोई पुरुष नहीं रहता, इसलिये शूद्र को अग्न्याधान का अधिकार नहीं ।

सं०—अब उक्त सिद्धान्त में पुनः आशङ्का करते हैं :—

गुणार्थेनेति चेत् । ४८ ।

पद०—गुणार्थेन । इति । चेत् ।

पदा०—(गुणार्थेन) विद्यारूपी गुण के कारण शूद्र को भी अग्न्याधानादि संस्कारों का अधिकार है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य—शूद्र का सामर्थ्य ज्ञात होने से उसको विद्या का अधिकार है तो अग्न्याधान का अधिकार क्यों नहीं विद्या का अधिकारी होने से उसको भी अग्न्याधान का अधिकार होना चाहिये ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

उक्तमनिमित्तत्वम् । ४९ ।

पद०—उक्तम् । अनिमित्तत्वम् ।

पदा०—(अनिमित्तत्वम्) जन्म से जाति मानने में कोई निमित्त नहीं (उक्तं) यह बात पहले कथन कीगई है ।

भाष्य—शूद्र का सामर्थ्य ज्ञात होने पर उसमें शूद्रत्व का अभाव पाये जाने से उसको उपनयन का अधिकार है, वैदिक सिद्धान्त में सामर्थ्यहीन को शूद्र माना है शूद्र कोई जाती नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि जो जन्म से जाति मानने वाले हैं वह इस स्थल में आकर अपने सिद्धान्त को शास्त्र विरुद्ध पाते हैं अर्थात उनके सिद्धान्त में रथकार लोग द्विजाति में नहीं गिने

जासकने फिर उसको अग्न्याधान का विधान क्यों किया ? यदि यह कहाजाय कि रथकार=शिल्पी लोग तीनों वर्णों के भीतर हैं तो फिर तीनों वर्णों को तो अग्न्याधान सर्वसम्मत ही है अर्थात् उनको वसन्तादि ऋतुओं में अग्न्याधान कथन किया है, फिर यहां दुबारा रथकार के लिये वर्षाऋतु में अग्न्याधान क्यों कथन किया गया ? हमारे सिद्धान्त में तो यह दोष इसलिये नहीं आता कि हम कर्मों के अधीन वर्णव्यवस्था मानते हैं इसलिये यहां शिल्पकर्म से अग्न्याधान के अधिकार को वर्णन किया है अतएव कोई दोष नहीं।

सं०—ननु, यदि ऊंचनीचपन कर्मों के अधीन है तो सौधन्वना=सुन्दर धनुपधारी क्षत्रियों को सर्वोत्तम मानना चाहिये, क्योंकि सब की रक्षा उन्हीं से होती है और ब्राह्मणादि सब उनसे न्यून हैं ? उत्तर :—

सौधन्वनास्तुहीनत्वात् मंत्रवर्णा-त्प्रतीयेरन् । ५० ।

पद०—सौधन्वनाः । तु । हीनत्वात् । मंत्रवर्णात् । प्रतीयेरन् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (सौधन्वनाः) सुन्दर धनुषों वाले क्षत्रिय लोग (मंत्रवर्णात्) वेद से और (हीनत्वात्) ब्राह्मणों से न्यून (प्रतीयेरन्) प्रतीत होते हैं।

भाष्य—यद्यपि शस्त्रधारी क्षत्रिय रक्षा के कारण सबसे अधिक होने चाहियें तथापि ब्राह्मणों से अधिक नहीं होसकते, क्योंकि वेद में ब्राह्मण को मुखस्थानीय कहागया है, जिस प्रकार मस्तिष्क सम्पूर्ण शरीर के अवयवों से उत्तम होता है इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण क्षत्रियादि सब वर्णों से ऊंचा है, क्योंकि सबको शुभ-

मात देना ब्राह्मण का ही काम है किसी अन्य वर्ण का नहीं, इसी भाव को "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत" यजु० ३१ । १२ इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया गया है कि ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण सर्वोपरि है, इसलिये क्षात्रिय को सर्वोपरि मानना ठीक नहीं ।

सं०–अब नौका चलाने वाले मल्लाहों का यज्ञ में अधिकार कथन करते हैं :–

स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात् ।५१।

पद०–स्थपतिः । निषादः । स्यात् । शब्दसामर्थ्यात् ।

पदा०–(स्थपतिः) तक्षक (निषादः) मल्लाह (स्यात्) हैं (शब्दसामर्थ्यात्) शब्द सामर्थ्य से ऐसाही पाया जाता है ।

भाष्य–"एतया निषादस्थपतिं याजयेत"=इस इष्टि द्वारा निषादस्थ पति से यज्ञ करायें, इस वाक्य में स्थपति शब्द से नौका बनाने वाले निषादों का ग्रहण है अन्य निषादों का नहीं, यह बात शब्दप्रमाण से पाई जाती है ।

सं०–ननु, इसका क्या प्रमाण कि स्थपति शब्द से तक्षक निषादों का ही ग्रहण है अन्य का नहीं ? उत्तर :–

लिङ्गदर्शनाच्च । ५२ ।

पद०–लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०–(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के देखने से भी ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य–"कूटं दक्षिणा"=कूट दक्षिणा है, इस वाक्य में कूट निषादों का द्रव्य वर्णन किया गया है, इस लिङ्ग से पाया

जाता है कि स्थपति शब्द से तक्षकनिषादों का ही ग्रहण है अन्य का नहीं, क्योंकि कूट नाम लोहमुद्गर का है इसकी आवश्यकता तक्षकनिषादों को होती है अन्य को नहीं, इससे सिद्ध है कि स्थपति शब्द तक्षकनिषादों का ग्राहक है।

स्थपति निषादों को यज्ञ का अधिकार देने से यह बात स्पष्ट होगई कि पौराणिक लोगों के समान महर्षि जैमिनि की वर्णव्यवस्था नहीं किन्तु महर्षि जैमिनि के मत में वैदिक वर्णव्यवस्था है जिसमें रथकार और नौका चलाने वा बनाने वाले मल्लाहों को भी यज्ञ का अधिकार है अन्यथा रथकारादिकों को यज्ञ का अधिकार कदापि न दिया जाता, क्योंकि पौराणिक लोगों के मत में रथकार और निषाद वर्णत्रय से बाहर हैं, अतएव उक्त सूत्रों से स्पष्ट सिद्ध है कि सामर्थ्य प्रयुक्त यज्ञ का अधिकारी है. रथकार और निषादस्थपतियों में कारीगरी का अपूर्व सामर्थ्य पायाजाता है इसलिये इनको भी यज्ञ का अधिकार है।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
षष्ठाध्याये
प्रथमःपादः

ओ३म्

। अथ षष्ठाध्याये द्वितीयःपादः प्रारभ्यते ।

सं०-प्रथम पाद में स्वर्ग, नरक और अधिकारानधिकार का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब इस पाद में स्व २ वर्ण के कारण जीव का कर्तृत्व और ईश्वरादि अनेक विषयों का निरूपण करते हुए प्रथम पुरुष की स्व २ कर्मों में प्रवृत्ति कथन करते हैं:-

पुरुषार्थैकसिद्धित्वात्तस्य तस्याधिकारः स्यात् । १ ।

पद-पुरुषार्थैकसिद्धित्वात् । तस्य । तस्य । अधिकारः । स्यात् ।

पदा०-(पुरुषार्थैकसिद्धित्वात्) पुरुष का अर्थ जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फलचतुष्टय की सिद्धि मनुष्यमात्र का उद्देश्य होने से (तस्य, तस्य) उस २ वर्ण का (अधिकारः) अधिकार (स्यात्) होता है ।

भाष्य-धर्म, अर्थ, काम मोक्ष यह मनुष्य जन्म के चार फल हैं इनकी सिद्धि के लिये अपने २ उद्देश्य में सब मनुष्य प्रवृत्त होते हैं अर्थात् ब्राह्मण की प्रधानतया प्रवृत्ति धर्म में होती है इसलिये वह शम दमादिकों में प्रवृत्त होता है, क्षत्रिय अर्थादिकों की रक्षा में प्रवृत्त होता है, वैश्य की व्यापारादिकों में, एवं सब वर्णों की अपने २ मुख्य उद्देश्य में प्रवृत्ति होती है ।

सं०-ननु, उपनयनादिकों के समय यह कैसे ज्ञात होसकता है कि अमुक ब्राह्मण वर्ण के योग्य है, अमुक क्षत्रिय के और अमुक वैश्य के, यह व्यवस्था तो जन्म से वर्ण मानने वालों के मत में ठीक

होसक्ती है कर्म से वर्णव्यवस्था मानने वालों के मत में नहीं? उत्तरः—

अपि चोत्पत्तिसंयोगोयथास्यात्सत्त्व-दर्शनम् तथाभावो विभागे स्यात् ।२।

पद०—अपि । च । उत्पत्तिसंयोगः । यथा । स्यात् । सत्त्वदर्शनम् । तथा । भावः । विभागे । स्यात् ।

पदा०—"अपि,च" शब्द पूर्वोक्त आशङ्का के निरासार्थ आया है (उत्पत्तिसंयोगः) उत्पत्ति वेला के संयोग से (सत्त्व-दर्शनम्) अन्तःकरण की बनावट (यथा, स्यात्) जैसी होती है (तथा) वैसा ही (भावः) भाव (विभागे) वर्ण के भेद में हेतु (स्यात्) होता है ।

भाष्य—जो बालक उपनयन संस्कार की अवस्था तक तीव्र-बुद्धि पाये जाते हैं वह ब्राह्मण, जो शौर्यादि धर्मों वाले होते हैं वह क्षत्रिय तथा व्यापारादि वस्तुओं के क्रय विक्रयशील से वैश्य और नितान्त प्राकृत रहने से शूद्र, एवं गुण कर्म से वर्णविभाग प्रकृति सिद्ध है इसमें कोई दोष नहीं, इसी भाव को ऋग्वेद में इस प्रकार वर्णन किया है कि "तमेव ऋषिंतमुब्रह्माणं" ऋ० ८। ६। ४ उत्तम कर्म वाले को ब्राह्मण और ऋषि कहते हैं, और इसी भाव को कृष्णजी ने गीता में यों वर्णन किया है कि "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" गी० ४। १३ =गुण कर्मों से वर्णों का विभाग है जन्म से नहीं, जिन लोगों का यह भाव है कि इस श्लोक में कृष्णजी अपने आपको ईश्वर कथन करते हैं, इसका समाधान "गीतायोगप्रदीपार्यभाष्य" में स्पष्ट वर्णन कियागयाहै विशेष जानने वाले वहां देखलें,गुण कर्म से

वर्णव्यवस्था की साक्षी में महाभारत में भी कई एक इतिहास पाये जाते हैं जैसाकि वीतहव्य भागकर जब भृगु के आश्रम में चलागया तो जो क्षत्रिय उसके मारने के लिये गया था उसने कहा कि यह क्षत्रिय है मुझे देदो, भृगु ने कहा "नैह्यत्र क्षत्रियः कश्चित् सर्वेह्यत्रद्विजातयः"=यहां कोई क्षत्रिय नहीं सब ब्राह्मण हैं, इससे सिद्ध हुआ कि ऋषि का तात्पर्य्य गुण कर्म से वर्णव्यवस्था मानने का था सो ऋषि ने ऐसाही किया अर्थात् उसको अध्ययन द्वारा ब्राह्मण बना लिया, और उसकी सातवीं पीढ़ी में याज्ञवल्क्य हुआ, एवं विश्वामित्र जो जन्म से क्षत्रिय था वहभी गुण कर्म से ब्राह्मण बन गया और उसी के कुल में शौनकादि ऋषि उत्पन्न हुए, इत्यादि सहस्रों इतिहास हैं जो ब्राह्मणादि विभागों को गुणकर्म से निरूपण करते हैं, इसी भाव को सूत्रकार नें उक्त सूत्र में निरूपण किया है।

सं०—अब कर्म की कामना में पुरुष की स्वाधीनता कथन करते हैं :—

प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात् । ३ ।

पद०—प्रयोगे । पुरुषश्रुतेः । यथाकामी । प्रयोगे । स्यात् ।

पदा०—(प्रयोगे) कर्तव्य कर्म में (पुरुषश्रुतेः) पुरुष की कर्त्तारूप से श्रुति पाये जाने से (प्रयोगे) कर्मों में (यथाकामी) पुरुष का स्वतन्त्र होना (स्यात्) पाया जाता है।

भाष्य– "स्वर्गकामो यजेत"=स्वर्ग की कामना वाला पुरुष याग करे, इत्यादि वाक्यों में पुरुष की कामना में

स्वतन्त्रता पाई जाती है, इसलिये पुरुष कर्म करने में स्वतन्त्र है।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् । ४ ।

पद०—प्रत्यर्थं । श्रुतिभावः । इति । चेत् ।

पदा०—(प्रत्यर्थं) प्रत्येक कर्तव्य के लिये (श्रुतिभावः) कर्त्तारूप से श्रवण का सद्भाव पाया जाता है (चेत्) यदि (इति) यह आशङ्का कीजाय तो ठीक नहीं ।

भाष्य—यदि पुरुष को स्वतन्त्र मानाजाय तो उसको प्रत्येक कर्म में स्वतन्त्र होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं पाया जाता, क्योंकि पुरुष करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र है इसलिये उसको सर्वथा स्वतन्त्र मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वा-त्कर्तुः प्रधानभूतत्वात् । ५ ।

पद०—तादर्थ्ये । न । गुणार्थता । अनुक्ते । अर्थान्तरत्वात् । कर्तुः । प्रधानभूतत्वात् ।

पदा०—(तादर्थ्ये) कर्तव्य कर्म में (गुणार्थता) पुरुष के गौण अर्थ की (अनुक्ते) उक्ति न पाये जाने से तथा (अर्थान्तरत्वात्) अपसिद्धान्त आजाने से और (कर्तुः) कर्त्ता के (प्रधानभूतत्वात्) प्रधान होने से कर्तव्य कर्मों में गौणता (न) नहीं पाई जाती ।

भाष्य—"स्वतन्त्रः कर्त्ता" अष्टा० १।४।५४ में जो कर्त्ता को स्वतन्त्र माना है उसका तात्पर्य्य यह है कि पुरुष करने में

स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र है, क्योंकि सब कर्मों के कर्तृत्व का गौण प्रयोग है मुख्यतया कर्तृत्व कर्तव्य कर्मों में है भोगने में नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि जीव अपने कर्तव्य कर्मों के करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :—

अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात्प्रयोगा-योपदिश्येत प्रत्यर्थं हि विधिश्रुति-र्विषाणावत्। ६।

पद०—अपि। वा। कामसंयोगे। सम्बन्धात्। प्रयोगाय। उपदिश्येत। प्रत्यर्थं। हि। विधिश्रुतिः। विषाणावत्।

पदा०—"अपि, वा" शब्द और युक्ति के लिये आया है (विषाणावत्) जैसे सींग के समान लकड़ी विशेष से अंगकंडूयन की विधि गौण है वैसे ही (विधिश्रुतिः) सब कर्मों के कर्तव्य में (प्रत्यर्थं) कर्मों के विधान का कथन गौण है मुख्य नहीं, क्योंकि (हि) निश्चय करके जीव का कर्तृत्व (कामसंयोगे) कर्तव्य कर्मों में (सम्बन्धात्) कर्तृत्वेन सम्बन्ध पाये जाने से उन कर्मों के (प्रयोगाय) प्रयोग करने के लिये (उपदिश्येत) "स्वर्ग-कामो यजेत" इत्यादि उपदेश है योग्य कर्मों लिये नहीं।

भाष्य—जिस प्रकार विषाणा साधन से कंडूयन कर्म में विधि मुख्य नहीं किन्तु गौण है अर्थात् चाहे उस सींग विशेष से गात्र को संघर्षण करे अथवा साधनान्तर से, इसी प्रकार जीव करने में परतन्त्र नहीं अर्थात् करे न करे अथवा अन्यथा करे उसमें सर्वथा स्वतन्त्र है और भोगने में स्वतन्त्र नहीं, इससे सिद्ध है कि जीव

करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र है ।

सं०-कर्त्ता ही अपने कर्मों के फल का भोक्ता होता है अन्य नहीं, अब इस विषय को पूर्वपक्ष द्वारा सिद्ध करते हैं :-

अन्यस्य स्यादिति चेत् ।७।

पद०-अन्यस्य । स्यात् । इति । चेत् ।

पदा०-(अन्यस्य) अन्य पुरुष को अन्य के किये हुए कर्मों का फल (स्यात्) होता है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-अन्य के किये हुए कर्मों का फल अन्य को मिलता है जैसाकि लोक में अन्य के दिये हुए धन से अन्य धनाढ्य होजाता है इसी प्रकार परलोक में भी पुत्रादिकों के किये हुए कर्मों का फल पितरों को प्राप्त होता है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः ।८।

पद०-अन्यार्थे । न । अभिसम्बन्धः ।

पदा०-(अन्यार्थे) अन्य पुरुष के किये कर्मों का फल (अभिसम्बन्धः) अन्य पुरुष को प्राप्त (न) नहीं होता ।

भाष्य-जो कर्म का कर्त्ता होता है उसीको उस कर्म का फल मिलता है अन्य को नहीं अर्थात् दूसरे के किये कर्मों का फल दूसरे को नहीं मिलसक्ता ।

सं०-अब उक्त विषय में और आशङ्का करते हैं :-

फलकामो निमित्तमिति चेत् ।९।

पद०-फलकामः । निमित्तं । इति । चेत् ।

पदा०–(फलकामः) किसी अन्य के लिये फल की कामना कर लेना ही (निमित्तं) अन्य के लिये फल का निमित्त होसक्ता है (चेत्) यदि (इति) यह माना जाय तो ठीक नहीं ।

भाष्य–जब किसी दूसरे के निमित्त से पुरुष कोई काम करता है तो उसका फल दूसरे को होता है, क्योंकि वह कर्म उसके निमित्त से किया गया है अपने लिये नहीं; इससे सिद्ध है कि अन्य के किये कर्मों का अन्य को फल मिलता है ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

न नित्यत्वात् । १० ।

पद०–न । नित्यत्वात् ।

पदा०–(नित्यत्वात्) परमात्मा का नियम अवर्जनीय पाया जाता है, इसलिये (न) उक्त कथन ठीक नहीं ।

भाष्य–परमात्मा का यह नियम अटल देखाजाता है कि कर्त्ता को ही फलप्राप्ति होती है अन्य को नहीं, इसलिये अन्य के किये कर्मों का फल अन्य को नहीं मिलसकता ।

सं०–अब उक्त विषय में और आशङ्का करते हैं :–

कर्मतथेति चेत् । ११ ।

पद०–कर्म । तथा । इति । चेत् ।

पदा०–(कर्म) दूसरे के किये कर्मों का फल दूसरे को प्राप्त होता है (तथा) ऐसे कर्म पाये जाते हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा मानाजाय तो ठीक नहीं ।

भाष्य–जैसा लोक में देखाजाता है कि एक पुरुष स्वयं धन उपार्जन करके अन्य को देदेता है इसी प्रकार परलोक में भी दूसरे कर्मों का फल दूसरे को मिलना चाहिये ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

न समवायात् । १२ ।

पद०—न । समवायात् ।

पदा०—(समवायात्) अपने कर्मों के साथ जीव का सम्बन्ध पाये जाने से (न) उक्त कथन ठीक नहीं ।

भाष्य—जो पुरुष कर्म का कर्त्ता है उसी के साथ उन कर्मों का सम्बन्ध पाया जाता है अन्य के साथ नहीं, इसलिये एक के कर्म का फल दूसरे को नहीं मिल सकता, और जो यह कहागया था कि जैसे लोक में अन्य का उपार्जन किया हुआ धन अन्य को मिलजाता है, यह दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि वह धन उसके भोग रूपी फल का हेतु उसके अपने शुभ कर्मों से बिना नहीं होसकता, वह धन बिना भोगे नष्ट होजाता है अथवा कोई ऐसा रोगविशेष होजाता है कि भोक्ता उसको भोग ही नहीं सकता और जो भोगसकता है वह अपने शुभकर्मों से ही भोग सकता है, इससे सिद्ध हुआ कि अन्य के किये कर्म अन्य की तृप्ति का हेतु नहीं होसकते, और यदि ऐसा होता तो ईश्वर के अटल कार्यों में बाधा पड़जाती, क्योंकि ऐसा मानने से अकृताभ्यागम दोष आता है अर्थात् जो कर्म स्वयं नहीं किये उनका लगजाना, और दोष यह है कि यदि अन्य के पुण्य का फल अन्य को मिले तो अन्य के पाप का फल भी अन्य को मिलना चाहिये और ऐसा मानने से बिना ही किये जीव पापात्मा तथा पुण्यात्मा बनजायगा, और ऐसा होना ईश्वर के नियम से सर्वथा विरुद्ध है, इसलिये अन्य के कर्मों का फल अन्य को मानना ठीक नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि जीव स्वप्रारब्ध का भोक्ता है अन्य की प्रारब्ध का नहीं ।

सं०—ननु, यदि प्रारब्ध कर्मों की ऐसी प्रबलता है कि उन्हीं

का भोग होता है अन्य का नहीं तो फिर जीव कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं होसकता, क्योंकि उससे सब कर्म प्रारब्ध कर्मों के अधीन ही होंगे अन्यथा नहीं ? उत्तर :-

प्रक्रमात्तु नियम्येताऽऽरम्भस्य क्रिया-निमित्तत्वात् । १३ ।

पद०-प्रक्रमात् । तु । नियम्येत । आरम्भस्य । क्रियानिमित्तत्वात् ।

पदा०-"तु" शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (प्रक्रमात्) प्रारब्ध कर्म अपने भोगरूप फल को उत्पन्न करके (नियम्येत) नियम करदेते हैं कि अन्य का भोग न हो और जो (आरम्भस्य) वर्त्तमान काल के कर्म हैं उनके आरम्भ में (क्रियानिमित्तत्वात्) जीव का कर्तव्यरूप कर्म निमित्त है ।

भाष्य-प्रारब्ध कर्म जीव को परतन्त्र इसलिये नहीं बनाते कि वह केवल भोग देने के हेतु होते हैं क्रियमाण कर्मों के हेतु नहीं, यदि प्रारब्ध कर्म ही जीव के भविष्य शुभाशुभ कर्मों के हेतु होते तो उत्तम प्रारब्ध कर्मों वाले सदा अच्छे ही होते जाते परन्तु ऐसा नहीं होता प्रत्युत प्रायः मंद प्रारब्ध वाले स्वकर्तव्य से उत्तम होजाते हैं और उत्तम प्रारब्ध वाले मन्द होजाते हैं, इससे स्पष्ट पाया जाता है कि जीव अपने कर्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र है और प्रारब्ध कर्मों के भोगने में परतन्त्र है ।

सं०-अब उक्त विषय में और पूर्वपक्ष करते हैं :-

फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथाऽनुपक्रान्ते । १४ ।

पद०-फलार्थित्वात् । वा । अनियमः । यथा । अनुपक्रान्ते ।

पदा०-"वा" शब्द आशङ्का के लिये आया है (फलार्थित्वात्) प्रारब्ध कर्मों का भोक्ता भोगरूप कर्मों का अर्थी होने से (यथा, अनुपक्रान्ते) जैसे प्रारम्भ रहित पुरुष का कोई कर्तव्य नहीं होता इसी प्रकार उस भोक्ता का उस भोग से भिन्न कोई कर्तव्य नहीं होता, इसलिये (अनियमः) क्रियमाण कर्मों की स्वतन्त्रता का नियम नहीं।

भाष्य-कर्त्ता जो २ कर्म करता है वह प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिये ही करता है इसलिये वह कर्म किसी स्वतन्त्र फल के लिये नहीं होते किन्तु प्रारब्ध कर्मों के भोग के साधन होते हैं और उनका कोई प्रयोजन नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि जीव करने में स्वतन्त्र नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

नियमो वा तन्निमित्तत्वात्कर्तुस्तत्कारणं स्यात् । १५ ।

पद०-नियमः । वा । तत् । निमित्तत्वात् । कर्तुः । तत् । कारणं । स्यात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (नियमः) इस बात का नियम=व्यवस्था है कि जीव कर्तव्य कर्मों को अपनी स्वतन्त्रता से करता है, क्योंकि (तत्, निमित्तत्वात्) वह क्रियमाण कर्म प्रारब्ध कर्मों के भोग में केवल निमित्तमात्र हैं और (कर्तुः) कर्त्ता के भोग के (तत्, कारणं) वह कर्म कारण (स्यात्) हैं।

भाष्य-भोग प्रारब्ध कर्मों के अधीन होता है और कर्तव्य कर्म उसमें केवल कारणत्वेन साधन गिने जाते) हैं उन कर्मों को

और प्रकारान्तर से भी करसकता है जैसाकि "पद्भ्यांगच्छति अश्वेन रथेन वा" = पैदल गमन करता है, रथ से अथवा अश्व से, इनमें पुरुष की स्वतन्त्रता पाई जाती है, इसी प्रकार पुरुष कर्म करने में स्वतन्त्र है परतन्त्र नहीं ।

सं०—अब वेद की सप्रयोजनता सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधि-पुरुषज्ञानम् । १६ ।

पद०—लोके । कर्माणि । वेदवत् । ततः । अधिपुरुषज्ञानम् ।

पदा०—(लोके) लोक में (कर्माणि) कर्म (वेदवत्) वेद के तुल्य हैं (ततः) उनसे (अधिपुरुषज्ञानम्) ईश्वर का ज्ञान होता है ।

भाष्य—लोक में जो कर्म किये जाते हैं वह विधि निषेधरूप होने से वेद के तुल्य हैं उन्हीं कर्मों से परमात्म पर्य्यन्त पदार्थों का ज्ञान होजायगा फिर वेद के मानने का क्या प्रयोजन है ।

सार यह है कि स्वाभाविक ज्ञान से सब कार्य्य सिद्ध हो सकते हैं फिर ईश्वर के दिये हुए वेदरूप ज्ञान के मानने की क्या आवश्यकता है ।

सं०—अब और युक्ति कथन करते हैं :-

अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम् ॥ १७ ॥

पद०—अपराधे । अपि । च । तैः । शास्त्रम् ।

पदा०—" अपि, च " और (अपराधे) नियमभङ्गरूप अपराध के होने पर (तैः) लौकिक जनों द्वारा (शास्त्रम्) शासना करने वाला शास्त्र जैसे बनाया जाता है इसी प्रकार पुरुष की प्रवृत्ति

निवृत्ति के लिये लौकिक शास्त्र ही पर्य्याप्त है फिर वेद की क्या आवश्यकता है ।

भाष्य–जैसे लोक में हिताहित बोधक शास्त्र मनुष्य रचित पाया-जाता है इसी प्रकार धर्मविषय में भी मनुष्य रचित शास्त्र द्वारा व्यवस्था होसक्ती है फिर वेद का क्या प्रयोजन ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अशास्त्रात्तूपसंप्राप्तिः शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकम् तस्मादर्थेन गम्येत अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत् । १८ ।

पद०–अशास्त्रा । तु । उपसंप्राप्तिः । शास्त्रं । स्यात् । न । प्रकल्पकम् । तस्मात् । अर्थेन । गम्येत । अप्राप्ते । शास्त्रं । अर्थवत् ।

पदा०–"तु" शब्द पूर्व आशङ्का की व्यावृत्ति के लिये आया है (उपसंप्राप्तिः) ईश्वर के ज्ञान की प्राप्ति (अशास्त्रा) विना ही वेद के होजानी चाहिये पर नहीं होती, इसलिये (शास्त्रं. स्यात्) वेदरूप शास्त्र मानना उचित है (प्रकल्पकम्) केवल तर्क द्वारा कल्पना करने वाला (न) नहीं (तस्मात्) इसलिये (अर्थेन. गम्येत) अर्थ से यह पाया जाता है कि (अप्राप्ते) इन्द्रियागोचर विषय में (शास्त्र) वेदरूप शास्त्र (अर्थवत्) अर्थवाला है ।

भाष्य–पूर्व सूत्र में जो यह कथन किया गया है कि लौकिक शास्त्र से ही ईश्वर का ज्ञान होसक्ता है फिर ईश्वरीय शास्त्र मानने की क्या आवश्यकता है उसका उत्तर इस सूत्र में यह दिया गया है कि लौकिक शास्त्र से इन्द्रियागोचर पदार्थ का ज्ञान नहीं होसक्ता इसके लिये ईश्वरीय ज्ञान ही बोधक होता है अन्य नहीं ।

सं०–और युक्ति कथन करते हैं :–

देवताश्रये च । १९ ।

पद०–देवताश्रये । च ।

पदा०–(च) और (देवताश्रये) ईश्वररूप देवता के आश्रयण करने पर ही शास्त्र अर्थवाला होसक्ता है अन्यथा नहीं ।

भाष्य–देवता शब्द के अर्थ यहां ईश्वर के हैं, ईश्वर के स्वीकार से विना शास्त्र कदापि सफल नहीं होसकता, इस सूत्र से स्पष्ट पायाजाता है कि १८ वें सूत्र में अधिपुरुष शब्द ईश्वर के लिये आया है जिसका उपसंहार यहां देवता शब्द से किया है ।

अन्य टीकाकार "अधिपुरुष" शब्द के अर्थ गृह बनाने के करते हैं जो अक्षरों से कदापि नहीं निकल सकते, क्योंकि अधियज्ञादि शब्दों के अर्थ ईश्वर के हैं तो "अधिपुरुष" शब्द के अर्थ गृह बनाने के कैसे होसक्ते हैं, ज्ञात होता है कि अनीश्वरवाद के भयंकर प्रवाह में बहते हुए टीकाकारों ने उक्त शब्द में ईश्वर का सहारा छोड़कर गृहादि निर्माण रूप जड़ वस्तुओं का सहारा लिया और इसी दोष से दूषित होकर उक्त सूत्र को निकाल डाला है, भाष्य और वार्तिक में यह सूत्र नहीं पाया जाता इससे ज्ञात होता है कि अनीश्वरवाद की धुन से यह सूत्र निकाला गया है, क्योंकि इस सूत्र में यह बात स्पष्ट है कि देवता के आश्रयण से ही शास्त्र सप्रयोजन सिद्ध होता है और यह देवता यहां भौतिक वा विद्यादि दिव्य भावों से दीप्त कोई पुरुषविशेष नहीं किन्तु पूर्व के प्रकरण से अधिपुरुष = परमात्मा रूप देवता का ग्रहण किया गया है जिससे ईश्वर का स्वीकार इस शास्त्र में कर्मोंकि

से स्पष्ट है, क्या आश्चर्य्य है, जब " ईश्वरासिद्धेः" सां० १।९२ इत्यादि सूत्रों में निरीश्वरवाद की माया आधुनिक टीकाकारों ने भरदी है तो उसी समय की निरीश्वरवाद की माया का मोह जाल इसमें भर दिया हो. वस्तुतः तत्त्व यह है कि बौद्धमत के प्रभाव से भयभीत टीकाकारों ने अपने वैदिक सम्प्रदाय को छोड़कर दर्शनों के अनेक स्थलों को बौद्धमत के रंग से रञ्जित करदिया है इसी रंग से रंगे हुए मीमांसा के कई स्थल हैं जिनमें उक्त सूत्रों के अन्यथा अर्थ किये गये हैं।

अन्यथा कब सम्भव था कि वेदों को स्वतःप्रमाण मानने वाला मीमांसाशास्त्र और अनेक स्थलों में श्रुति को उद्धृत करने वाला सांख्यशास्त्र ईश्वर को न मानता. उक्त टीकाकारों के मिथ्यार्थों का खण्डन "ईश्वरासिद्धेः" आदि सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट प्रकार से किया है विशेष अभिलाषी " सांख्यार्य्य-भाष्य " में देखलें।

सं०—अब निषिद्ध कर्मों में क्रिया का निषेध वर्णन करते हैं :—

प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रियास्यात्प्रतिषिद्धानां विभक्तत्वादकर्मणाम् ।२०।

पद०—प्रतिषेधेषु । अकर्मत्वात् । क्रिया । स्यात् । प्रतिषिद्धानां । विभक्तत्वात् । अकर्मणाम् ।

पदा०—(प्रतिषेधेषु) निषेध के विषय भूत पदार्थों में (अकर्मत्वात्) कर्तव्याभावरूप (क्रिया) क्रिया (स्यात्) कर्तव्य है, क्योंकि (प्रतिषिद्धानां अकर्मणां) प्रतिषिद्ध अकर्तव्य कर्म

(विभक्तत्वात्) निन्दित पाये जाते हैं ।

भाष्य- "यथामांसं यथासुरा" अथर्व० ६ । ७ । १
इत्यादि वैदिक वाक्यों से निन्दित वस्तुओं का विभाग पाया जाता है, इसलिये निषिद्ध कर्मों की अकर्तव्यता को शास्त्र बोधन करता है ।

सं०-अब यह वर्णन करते हैं कि शास्त्र धर्म अर्थ, काम, मोक्ष रूप अर्थ का विधायक है :-

शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते तयोरसमवायित्वात्तादर्थ्ये विध्यतिक्रमः । २१ ।

पद०-शास्त्राणां । तु । अर्थवत्त्वेन । पुरुषार्थः । विधीयते । तयोः । असमवायित्वात् । तादर्थ्ये । विध्यतिक्रमः ।

पदा०-"तु" शब्द हेत्वन्तर के लिये आया है (शास्त्राणां) शास्त्रों की जो (अर्थवत्त्वेन) अर्थवत्ता है उससे (पुरुषार्थः) पुरुष का अर्थ (विधीयते) विधान किया है (तयोः) शास्त्र और पुरुष दोनों के अर्थ का (असमवायित्वात्) परस्पर सम्बन्ध न होने से (तादर्थ्ये) शास्त्र के अर्थ में (विध्यतिक्रमः) विधि का अतिक्रमण होजाता है ।

भाष्य-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, मनुष्य जन्म के इस फल-चतुष्टय का वर्णन करने से ही शास्त्र की सफलता है यदि शास्त्र ऐसे अर्थ का वर्णन न करे तो उसके प्रमाण का अतिक्रमण होजाता है ।

तात्पर्य यह है कि विधि निषेध विषय में शास्त्र अर्थ वाली

वस्तुओं का विधायक है निरर्थकों का नहीं।

सं०—ननु, शास्त्रोक्त कर्मों का मनुष्य कब से अनुष्ठान करे? उत्तर :—

तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेरन् । २२ ।

पद०—तस्मिन् । तु । शिष्यमाणानि । जननेन । प्रवर्तेरन् ।

पदा०—"तु" शब्द निश्चयार्थ आया है (तस्मिन्) उक्त शास्त्र में जो (शिष्यमाणानि) विधान किये कर्म हैं उनमें पुरुष को (जननेन) जन्म से ही (प्रवर्तेरन्) प्रवृत्त होना चाहिये।

भाष्य—गर्भाधान से ही पुरुष को शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, यद्यपि छोटा बालक वैदिक कर्मों का अनुष्ठान नहीं करसकता परन्तु उसके संरक्षकों को आवश्यक है कि वह उसको अनुष्ठान करायें. इसी अभिप्राय से बहुत स्थलों में अनुष्ठान बालक-निष्ठ कथन किया गया है जैसाकि :—

ब्रह्मवर्चस कामस्य कार्य्यं विप्रस्य पञ्चमे। मनु० २।३७।

अर्थ—ब्रह्म तेज की कामना करने वाले ब्राह्मण का पांचवें वर्ष यज्ञोपवीत करे, यहां कामना संरक्षकों में विधान की है बालक में नहीं बालक में उपचार से कथन की है, इसी प्रकार इस सूत्र में भी जन्म से लेकर वैदिक कर्मों में बालक को प्रवृत्ति का विधान है इसलिये कोई दोष नहीं।

सं०—ननु, उपनयनादि कर्मों में सब विधान वैदिक नहीं फिर पुरुष उनका अनुष्ठान क्यों करें? उत्तर :—

अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेरन्। २३।

पद०—अपि। वा। वेदतुल्यत्वात्। उपायेन। प्रवर्तेरन्।

पदा०—"अपि, वा" शब्द पूर्वोक्त आशङ्का के खण्डनार्थ आया है (वेदतुल्यत्वात्) वेदानुकूल कर्मों का अनुष्ठान वेद के तुल्य होने से (उपायेन) उपनयन द्वारा पुरुष उनमें (प्रवर्तेरन्) प्रवृत्त हों।

भाष्य—यद्यपि उपनयनविधि में सब कर्म वेदोक्त नहीं होते तथापि वेदानुकूल होने से पुरुष उनमें प्रवृत्त होता है।

सं०—अब अग्निहोत्रादि कर्मों के निरन्तर करने में पूर्वपक्ष करते हैं:—

अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात्पुरुषार्थो विधीयते। २४।

पद०—अभ्यासः। अकर्मशेषत्वात्। पुरुषार्थः। विधीयते।

पदा०—(अभ्यासः) अग्निहोत्रादि कर्मों का निरन्तर अभ्यास करे, क्योंकि वह (अकर्मशेषत्वात्) किसी कर्मविशेष का अङ्ग न होने से (पुरुषार्थः) पुरुष का अर्थ (विधीयते) विधान किये गये हैं।

भाष्य—अग्निहोत्रादि कर्म धर्मादि अर्थों का साधन होने से मनुष्य को निरन्तर कर्तव्य हैं इनमें कभी भी अन्तर नहीं पड़ना चाहिये।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

तस्मिन्नसंभवन्नर्थात्। २५।

पद०—तस्मिन्। असंभवन्। अर्थात्।

पदा०-(तस्मिन्) उक्त निरन्तर अनुष्ठान में (असंभवन्) असंभव होने से (अर्थात्) अर्थ से यह बात पाई जाती है कि निरन्तर अनुष्ठान नहीं होना चाहिये ।

भाष्य-यह बात असंभव है कि पुरुष अग्निहोत्रादि कर्मों का अहर्निश निरन्तर अनुष्ठान करता जाय, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है इसलिये अर्थ से यह पाया जाता है कि उक्त कर्मों के लिये नियत काल है ।

सं०-अब निरन्तर का निषेध करके नियत काल का कथन करते हैं :-

न कालेभ्य उपदिश्यन्ते । २६ ।

पद०-न । कालेभ्यः । उपदिश्यन्ते ।

पदा०-(न) उक्त कर्मों का अनुष्ठान निरन्तर नहीं होसकता इसलिये (कालेभ्यः) किसी नियत काल के लिये (उपदिश्यन्ते) उक्त कर्मों का अनुष्ठान कथन किया है ।

भाष्य-मनुष्य किसी काल में खानपानादि कर्म करता है किसी में सोता है किसी में स्वाध्याय करता है, इत्यादि कारणों से अग्निहोत्रादि कर्मों को निरन्तर कदापि नहीं करसकता, इसलिये उक्त कर्म कालविशेष में ही किये जासकते हैं सर्वदा नहीं ।

सं०-अब उक्त सिद्धान्त में हेतु कथन करते हैं :-

दर्शनात्काललिङ्गानां कालविधानम् । २७ ।

पद०-दर्शनात् । काललिङ्गानां । कालविधानम् ।

पदा०-(कालालिङ्गानां) कालबोधक लिङ्गों के (दर्शनात्) देखे जाने से (कालविधानम्) नियत काल का विधान पाया जाता है।

भाष्य-"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"=स्वर्ग की कामना वाला पुरुष दर्शपूर्णमास याग करे, इत्यादि वाक्यों में अग्निहोत्र का नियत काल पाया जाता है इसलिये अग्निहोत्रादि कर्म नियत काल में ही किये जाते हैं सर्वदा नहीं।

सं०-अब अग्निहोत्रादि कर्मों को पूर्णमासी आदि इष्टियों में करना कथन करते हैं:-

तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्तेत।२८।

पद०-तेषां। औत्पत्तिकत्वात्। आगमेन। प्रवर्तेत।

पदा०-(तेषां) उक्त कर्मों की अमावस्या आदि पर्वों में (औत्पत्तिकत्वात्) उत्पत्ति पायेजाने से (आगमेन) तद्बोधक शास्त्र द्वारा (प्रवर्तेत) पुरुष प्रवृत्त हो।

भाष्य-"पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेत"=पूर्णमासी तिथि में पौर्णमास याग करे, और "अमावास्यामामावास्येन यजेत" अमावस्या को आमावस्य याग करे. इससे पायाजाता है कि प्रत्येक इष्टि के लिये काल नियत है।

सं०-अब और युक्ति कथन करते हैं:-

तथा हि लिङ्गदर्शनम्।२९।

पद०-तथा। हि। लिङ्गदर्शनम्।

पदा०-(तथा) ऐसा ही (हि) निश्चय करके (लिङ्गदर्शनम्) हेतु पाया जाता है।

भाष्य-"प्रातः प्रातरग्निर्गृहपतिः सायंसायं अग्निः सौमनस्यदाता" इत्यादि वाक्यों से पाया जाता है कि प्रातः और सायंकाल में यज्ञ करें, इससे सिद्ध है कि उक्त अग्निहोत्रादि कर्मों के लिये काल नियत है।

सं०-अब विकृति यागों में होम कथन करते हैं :-

तथाऽन्तःक्रतुप्रयुक्तानि । ३० ।

पद०-तथा । अन्तःक्रतुप्रयुक्तानि ।

पदा०-(तथा) जिस प्रकार दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों का काल नियत है इसी प्रकार (अन्तःक्रतुप्रयुक्तानि) अन्य विकृति यागों का भी काल नियत है।

सं०-अब ब्राह्मणादि वर्णों के तीन ऋणविषयक पूर्वपक्ष करते हैं :-

आचाराद्गृह्यमाणेषु तथा स्यात्पुरुषार्थत्वात् । ३१ ।

पद०-आचारात् । गृह्यमाणेषु । तथा । स्यात् । पुरुषार्थत्वात् ।

पदा०-(आचारात्) आचार से (गृह्यमाणेषु) ग्रहण किये हुए ब्रह्मचर्यादिकों में (पुरुषार्थत्वात्) पुरुषार्थ होने से (तथा) वैसा ही नैमित्तिक नियम (स्यात्) है।

भाष्य-आचार से ग्रहण किये हुए जो ब्रह्मचर्यादिक व्रत हैं वह भी नैमित्तिक होने चाहियें अर्थात् जैसे दर्शपूर्णमासादि यज्ञ नैमि-

त्तिक हैं इसी प्रकार ब्रह्मचर्य्यादि भी नैमित्तिक होने चाहियें सर्वदा नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

ब्राह्मणस्य तु सोमविद्या प्रजमृण-वाक्येन संयोगात्। ३२।

पद०—ब्राह्मणस्य । तु । सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन । संयोगात्।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण के (सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन) यज्ञ, ब्रह्मचर्य्य, प्रजाउत्पत्ति इन तीन ऋणों के साथ (संयोगात्) सम्बन्ध पाये जाने से ब्रह्मचर्य्यादि व्रत नित्य हैं नैमित्तिक नहीं।

भाष्य—ब्राह्मण उत्पन्न होकर देव, ऋषि और पितृ इन तीनों का ऋणी कहलाता है, यज्ञ से भौतिक देवताओं का, ब्रह्मचर्य्य से ऋषियों का और प्रजा से पितरों का ऋण उतारता है।

तात्पर्य्य यह है कि ब्राह्मण के अग्निहोत्रादि कर्म करने से जल वायु की शुद्धि होती है, जो ब्रह्मचर्य्य द्वारा विद्या-लाभ करता है उससे मंत्रद्रष्टा ऋषि लोगों के उद्देश्य को पूरा करता है इससे उनके ऋण से निर्मुक्त होता है और प्रजा उत्पन्न करने से पिता पितामह के ऋण से मुक्त होता है, उक्त ऋणों से छुटना ब्राह्मण के लिये अवर्जनीय कर्म है इसलिये इन कर्मों को आवश्यक कथन किया गया है, "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो

यजेत" इत्यादि कर्मों के समान स्वेच्छाचार नहीं, इससे पायाजाता है कि ब्राह्मण के लिये ब्रह्मचर्य्यादि कर्म अवर्जनीयतया सेवनीय हैं।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
षष्ठाध्याये द्वितीयः
पादः

ओ३म्

। अथ षष्ठाध्याये तृतीयःपादः प्रारभ्यते ।
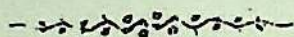
सं०—अब इस सर्वशक्तिमत्ताधिकरण में ईश्वर की प्रधानता वर्णन करते हैं :—

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथा भूतोपदेशात् । १ ।

पद०—सर्वशक्तौ । प्रवृत्तिः । स्यात् । तथा । भूतोपदेशात् ।

पदा०—(सर्वशक्तौ) सर्वशक्ति परमात्मा में (प्रवृत्ति, स्यात्) प्रवृत्ति होती है क्योंकि (तथा, भूतोपदेशात्) ऐसा ही उपदेश पाया जाता है ।

भाष्य—"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" यजु० ३१ । ७ इत्यादि मंत्रों में सर्वशक्तिमान् परमात्मा की प्रधानता पाई जाती है, इसलिये उसी परमात्मा में प्रवृत्ति होनी चाहिये ।

तात्पर्य्य यह है कि यज्ञादि सब कर्मों में ईश्वर की ही प्रधानता पाई जाती है अन्य की नहीं, इसी आशय से यहां ईश्वर की प्रधानता वर्णन की है, पौराणिक टीकाकार यज्ञादि कर्मों में भिन्न २ देवताओं की प्रधानता वर्णन करते हैं जिसका खण्डन अनेक स्थलों में किया गया है, वैदिक मत में वह सब परमात्मा के नाम हैं, इसलिये ईश्वर से भिन्न अन्य किसी की प्रधानता मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त विषय में और युक्ति कथन करते हैं :—

अपि वाऽप्येकदेशे स्यात्प्रधाने ह्यर्थ-निर्वृत्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थ-त्वात् । २ ।

पद०—अपि । वा । अपि । एकदेशे । स्यात् । प्रधाने । हि । अर्थनिर्वृत्तिः । गुणमात्रं । इतरत् । तदर्थत्वात् ।

पदा०—"अपि, वा" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (एकदेशे) यज्ञादि साधन जो जड़ होने से परमात्मा के एकदेश स्थानीय हैं (अपि) उनमें भी प्रवृत्ति करने से फल होता है (हि) सर्वोपरि (अर्थनिर्वृत्तिः) अर्थ की सिद्धि (प्रधाने) परमात्मा में (स्यात्) होती है (तदर्थत्वात्) उसके लिये होने से (इतरत्) और (गुणमात्रं) गौण है ।

भाष्य—"पादाऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" यजु० ३१ । ३ इत्यादि मंत्रों में पाया जाता है कि चेतनाचेतन सब भूतवर्ग परमात्मा के एकदेश में हैं, इस एकदेश में प्रवृत्ति मुख्य फल की सिद्धि का कारण नहीं होसक्ती, क्योंकि यह एकदेशीय प्रवृत्ति परमात्म प्रवृत्ति का साधन होने से मुख्य नहीं, इसी अभिप्राय से इस सूत्र में यह सिद्ध किया है कि मुख्य फल परमात्म विषयणी प्रवृत्ति से ही होता है अन्य से नहीं ।

सं०—अब परमात्मभाव से शून्य प्रवृत्ति में दोष कथन करते हैं :—

तदकर्मणि च दोषः तस्मात्ततो विशेषः स्यात्प्रधानेनाभिसम्बन्धात् । ३ ।

पद०–तत् । अकर्मणि । च । दोषः । तस्मात् । ततः । विशेषः । स्यात् । प्रधानेन । अभिसम्बन्धात् ।

पदा०–(च) और (तत्, अकर्मणि) परमात्मा का उद्देश्य न रखने से (दोषः) दोष है (तस्मात्) इसलिये (ततः) उस दोष से बचने के लिये (विशेषः) विशेषता (प्रधानेन) प्रधान के साथ (अभिसम्बन्धात्) सम्बन्ध से (स्यात्) होती है ।

भाष्य–प्रधान जो परमात्मा तत्सम्बन्धी यज्ञादि कर्म करने से ही मनुष्य सब दोषों से दूर होसक्ता है अन्यथा नहीं, इसलिये यज्ञादि कर्मों में मुख्य उद्देश्य परमात्मा ही है अन्य सब गौण हैं, इसी अभिप्राय से "श्रेयान् द्रव्यमयात्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप" गी० ४ । ३३ इत्यादि श्लोकों में कृष्णजी ने ज्ञान यज्ञ को सर्वोपरि वर्णन किया है और इसी भाव को यहां महर्षि जैमिनि ने दर्शाया है ।

सं०–अब सब शाखाओं में कर्म की एकता कथन करते हैं :–

कर्माभेदं तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात्सर्वेषामुपदेशः स्यात् । ४ ।

पद०–कर्माभेदं । तु । जैमिनिः । प्रयोगवचनैकत्वात् । सर्वेषां । उपदेशः । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द निश्चयार्थ आया है (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य यह मानते हैं कि (प्रयोगवचनैकत्वात्) प्रयोग वचन के एक पाये जाने से (कर्माभेदं) सब शाखाओं में कर्म का अभेद है और (सर्वेषां) सब अङ्गों का (उपदेशः) कथन (स्यात्) है।

भाष्य-ज्योतिष्टोमादि कर्म सब शाखाओं में एक हैं, क्योंकि उनमें वैदिक मंत्रों का आश्रयण भी एक है और उनके अनुष्ठान के अङ्ग भी सर्वत्र समान हैं इसलिये भिन्न २ शाखाओं में कर्म का भेद नहीं किन्तु कर्म एक है।

सं०-अब उक्त विषय में युक्ति कथन करते हैं:-

अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्याद्यथा क्रत्वन्तरेषु । ५ ।

पद०-अर्थस्य । व्यपवर्गित्वात् । एकस्य । अपि । प्रयोगे । स्यात् । यथा । क्रत्वन्तरेषु ।

पदा०-(एकस्य, अर्थस्य) एक अर्थ के (प्रयोगे) अनुष्ठान करने में (व्यपवर्गित्वात्) समानता पाये जाने से (अपि) भी कर्मों की एकता पाई जाती है (यथा) जैसे (क्रत्वन्तरेषु) अन्य यज्ञों में (स्यात्) पाई जाती है।

भाष्य-सब प्रयोगों में एक ही उद्देश्य पाया जाता है इसलिये कर्मों का परस्पर भेद नहीं, जैसाकि "पूर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत" "अमावास्यायाममावास्यया यजेत" इत्यादि वाक्यों में दर्शपूर्णमास यज्ञ सब शाखाओं में एक जैसा पाया जाता है इसी प्रकार ज्योतिष्टोम भी सब शाखाओं में एक जैसा है।

सं०-अब और युक्ति कथन करते हैं :-

विध्यपराधे च दर्शनात्समाप्तेः । ६ ।

पद०-विध्यपराधे । च । दर्शनात् । समाप्तेः ।

पदा०-(च) और (दर्शनात्) एक जैसा देखे जाने से (समाप्तेः) उक्त कर्मों की पूर्त्ति में (विध्यपराधे) विधान और दोष एक जैसा पाये जाने से कर्म एक हैं ।

भाष्य-सब शाखाओं में कर्मों के करने का विधान और अपूर्त्ति में दोष का संकीर्तन एक जैसा पाया जाता है इससे सिद्ध है कि कर्म एक हैं ।

सं०-अब और युक्ति कथन करते हैं :-

प्रायश्चित्त विधानाच्च । ७ ।

पद०-प्रायश्चित्त । विधानात् । च ।

पदा०-(च) और (प्रायश्चित्त) प्रायश्चित के (विधानात्) विधान करने से कर्मों की एकता पाई जाती है ।

भाष्य-कर्मों के न करने का प्रायश्चित्त भी सब शाखाओं में समान पाया जाता है, इसलिये भी कर्मों की एकता ही सिद्ध होती है ।

सं०-अब काम्यकर्मों का अभेद कथन करते हैं :-

काम्येषुचैवमर्थित्वात् । ८ ।

पद०-काम्येषु । च । एवं । अर्थित्वात् ।

पदा०-(काम्येषु) काम्य कर्मों में (च) भी (अर्थित्वात्) सब शाखाओं में अर्थी एक जैसा पाये जाने से (एवं) इसी प्रकार अभेद है ।

भाष्य-जैसे ज्योतिष्टोमादिकों में भेद नहीं इसी प्रकार काम्य-कर्मों में भी भेद नहीं, क्योंकि अर्थी सबमें एक जैसा पाया जाता है, इसलिये काम्यकर्म भी सब शाखाओं में एक हैं।

सं०-ननु, यदि काम्यकर्मों को अङ्गहीन कियाजाय तो क्या दोष है? उत्तर :—

असंयोगात्तु नैवं स्याद्विधेः शब्दप्रमाणत्वात् । ९ ।

असंयोगात् । तु । न । एवं । स्यात् । विधेः । शब्दप्रमाणत्वात् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (विधेः) विधिरूप (शब्दप्रमाणत्वात्) शब्द प्रमाण के पाये जाने से (न, एवं, स्यात्) ऐसा नहीं होसक्ता और (असंयोगात्) अङ्गहीन होने से भी ठीक नहीं।

भाष्य-काम्यकर्मों में जो अङ्गाङ्गिभाव निरूपण किया गया है उससे बिना उक्त कर्मों की पूर्ति नहीं होती, क्योंकि उन अङ्गों के विच्छेद करने से उनका परस्पर असंयोग होजाता है इसलिये अङ्गों सहित ही उक्त कर्मों को करना चाहिये अङ्गहीन नहीं।

सं०-ननु, फिर सन्ध्या वन्दनादिकों के समान ही काम्यकर्म हुए? उत्तर :—

अकर्मणि चाप्रत्यवायात् । १० ।

पद०-अकर्मणि । च । अप्रत्यवायात् ।

पदा०-(च) और (अकर्मणि) काम्यकर्मों के न करने पर

(अप्रत्यवायात्) प्रत्यवायरूप दोष नहीं होता, इसलिये काम्यकर्म और नित्यकर्म में भेद है ।

भाष्य—सन्ध्या आदि नित्य कर्मों के न करने से मनुष्य को प्रत्यवाय दोष होता है और काम्यकर्मों के न करने से उक्त दोष नहीं होता, इसलिये काम्यकर्म सन्ध्या वन्दनादि कर्मों के समान नहीं ।

सं०—अब द्रव्यों के भेद होने पर भी कर्मगत एकत्व कथन करते हैं :-

क्रियाणामाश्रितत्वाद्द्रव्यान्तरे विभागः स्यात् । ११ ।

पद०—क्रियाणां । आश्रितत्वात् । द्रव्यान्तरे । विभागः । स्यात् ।

पदा०—(क्रियाणां) हवनरूप क्रिया के (आश्रितत्वात्) सर्वत्र समान पाये जाने से (द्रव्यान्तरे) भिन्न २ द्रव्यों में (विभागः) भेद (स्यात्) होता है क्रिया में नहीं ।

भाष्य—व्रीहि वा मात्रां आदि द्रव्यों के भेद से यज्ञ का भेद नहीं होता, क्योंकि हवनरूप क्रिया सर्वत्र एक ही पाई जाती है इसलिये क्रिया में भेद नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :-

अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववदैककर्म्यं स्यान्नामधेयं च सत्त्ववत् । १२ ।

पद०—अपि । वा । अव्यतिरेकात् । रूपशब्दाविभागात् । च । गोत्ववत् । एककर्म्यं । स्यात् । नामधेयं । च । सत्त्ववत् ।

पदा०—"अपि, वा" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (अव्यतिरेकात्) द्रव्य के भेद होने पर भी कर्म का भेद न पाये जाने से (च) और (रूपशब्दाविभागात्) रूप तथा शब्द का विभाग न होने से (गोत्ववत्) गौ में गोत्व धर्म के समान (ऐक-कर्म्यं) कर्मों में एकत्व (स्यात्) पाया जाता है (च) और (सत्त्ववत्) अन्य गो व्यक्तियों के समान (नामधेयं) नाम मात्र का भेद है ।

भाष्य—जिस प्रकार एक गौ से दूसरी गौ भिन्न भी है पर उन दोनों व्यक्तियों के गोत्व धर्म के समान पाये जाने से भेद नहीं, इसी प्रकार अग्निहोत्रादि कर्मों का भी नाम मात्र भेद है वास्तव में नहीं ।

सं०—अब यागोपयोगी द्रव्यों में प्रतिनिधि न होने का पूर्व-पक्ष कथन करते हैं :—

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावे नाऽऽगमोऽन्यस्याशिष्टत्वात् । १३ ।

पद०—श्रुतिप्रमाणत्वात् । शिष्टाभावे । न । आगमः । अन्यस्य । अशिष्टत्वात् ।

पदा०—(श्रुतिप्रमाणत्वात्) द्रव्यगत श्रुति की प्रमाणता पाये जाने से और (शिष्टाभावे) उस द्रव्य के स्थान में प्रतिनिधिरूप द्रव्यान्तर के श्रेष्ठ न मिलने से और (अन्यस्य) अन्य के (अशि-

ष्टत्वात्) श्रेष्ठ न होने से (आगमः) प्रतिनिधि द्रव्य के लिये आगम (न) प्रमाण नहीं।

भाष्य–जैसे यागगत घृतादि द्रव्यों के प्रतिनिधि अन्य स्निग्ध द्रव्य नहीं होसक्ते, क्योंकि वह द्रव्य घृतादि के समान शिष्ट नहीं और नाही उनका किसी प्रमाण से विधान है वैसेही अन्य द्रव्य के स्थान में अन्य प्रतिनिधि नहीं होसक्ता।

सं०–अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:-

क्वचिद्विधानाच्च। १४।

पद०–क्वचित्। विधानात्। च।

पदा०–(च) और (क्वचित्) किसी एक स्थल में (विधानात्) विधान पाये जाने से किसी द्रव्य के स्थान में द्रव्यान्तर प्रतिनिधि नहीं होसकता।

भाष्य–जैसा सोम के अभाव में पूतिका का विधान है कि जहां सोम न मिले वहां पूतिका का रस निकालकर सोम का काम ले ऐसा विधान क्वाचित्क है इसलिये विधी नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

आगमो वा चोदनार्थाविशेषात्। १५।

पद०–आगमः। वा। चोदनार्थाविशेषात्।

पदा०–"वा" शब्द सिद्धान्त का सूचक है (आगमः) प्रतिनिधि द्रव्य में प्रमाण पाया जाता है (चोदनार्थाविशेषात्) विधि की तुल्यता पाये जाने से।

भाष्य–"व्रीहिभिर्यजेत" "निवारैर्वा" इत्यादि वाक्यों में विधान के समान पाये जाने से द्रव्य का प्रतिनिधि होना सिद्ध ०

सं०-अब उक्त विषय में और युक्ति कथन करते हैं:-

नियमार्थः क्वचिद्विधिः । १६ ।

पद०-नियमार्थः । क्वचित् । विधिः ।

पदा०-(क्वचित्) किसी स्थल में (विधिः) विधान (नियमार्थः) नियम विधि के अभिप्राय से है ।

भाष्य-दोनों प्रकार से प्राप्त का जो एक पक्ष में नियम करना है उसका नाम "नियमविधि" है, जैसाकि शुचि अशुचि दोनों अवस्थाओं में ईश्वर की उपासना प्राप्त होने से "पवित्र होकर करे" इस वाक्य ने नियम करादिया, इसी प्रकार प्रतिनिधि पूतिका द्रव्य के स्थान में अन्य द्रव्य भी प्राप्त थे परन्तु उसके स्थान में पूतिका ही लेना, इस वाक्य ने नियम करदिया है, इससे सिद्ध है कि द्रव्य का प्रतिनिधि होता है ।

सं०-ननु, यज्ञ में सोम वा सोम का प्रतिनिधि न हो तो क्या दोष है ? उत्तर:-

तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि । १७ ।

पद०-तत् । नित्यं । तत् । चिकीर्षा । हि ।

पदा०-(तत्) वह सोम द्रव्य (नित्यं) अवश्य होना चाहिये, क्योंकि (तत्) उसकी (चिकीर्षा) इच्छा (हि) निश्चय पूर्वक पाई जाती है ।

भाष्य-सूत्र में "नित्य" शब्द का अर्थ अवर्जनीयतया ग्रहण के हैं अर्थात् यज्ञ में सोम द्रव्य का होना आवश्यक है, क्योंकि सोम के विना यज्ञ की पूर्ति नहीं होती, सोम हो अथवा

उसके स्थान में पूत्तिका द्रव्य हो तभी यज्ञ की पूर्त्ति होती है अन्यथा नहीं।

सं०—अब जिन द्रव्यों का प्रतिनिधि नहीं होता उनका कथन करते हैं :-

न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थ-संयोगात् । १८ ।

पद०—न । देवताग्निशब्दक्रियं । अन्यार्थसंयोगात् ।

पदा०—(देवताग्निशब्दक्रियं) ईश्वर, अग्नि, मंत्र और प्रयाजादिकर्म इन चारों का (न) प्रतिनिधि नहीं होता, क्योंकि (अन्यार्थ-संयोगात्) प्रतिनिधि से उद्देश्य का त्याग होजाता है।

भाष्य—यज्ञ में जो पूजनीय देवता ईश्वर है उसका प्रतिनिधि इसलिये नहीं होता कि उसके त्याग से यज्ञ का उद्देश्य भंग होजाता है, इसी प्रकार अग्नि, मंत्र और कर्म का भी प्रतिनिधि नहीं होता

सं०—अब उक्त विषय में युक्ति कथन करते हैं :-

देवतायां च तदर्थत्वात् । १९ ।

पद०—देवतायां । च । तदर्थत्वात् ।

पदा०—(च) और (देवतायां) देवता के विषय में प्रतिनिधि नहीं होता, क्योंकि (तदर्थत्वात्) देवता यज्ञ का मुख्य विषय है।

भाष्य—उक्त सूत्र ने इस भाव को स्पष्ट किया है कि ईश्वर का प्रतिनिधि कदापि नहीं होसकता, प्रतिनिधि के अर्थ तत्स्थानापन्न वस्तु के हैं, जैसे पौराणिक लोग ईश्वर के स्थान में मूर्त्ति को प्रतिनिधि मानते हैं ऐसे प्रतिनिधियों को मीमांसा शास्त्र निषेध

करता है, क्योंकि ईश्वर का कोई वस्तु प्रतिनिधि नहीं होसकता।

सं०-अब मांसादि अमेध्य पदार्थों का यज्ञ में निषेध कथन करते हैं :-

प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः। २०।

पद०-प्रतिषिद्धं। च। अविशेषेण। हि। तत्। श्रुतिः।

पदा०-(च) और (अविशेषेण) सम्पूर्ण रीति से (प्रतिषिद्धं) मद्यमांसादि पदार्थ यज्ञ में निषिद्ध हैं, क्योंकि (तत्) उनके निषेध का (श्रुतिः) श्रवण (हि) निश्चयपूर्वक पायाजाता है।

भाष्य-"यथामांसं यथासुरा" अथर्व० ६। ७। १ इत्यादि मंत्रों में मद्य मांस को व्यभिचार की सन्निधि में पढ़ा है, इससे इन द्रव्यों की निन्दा सिद्ध होती है इसलिये मांसादि द्रव्य सेवनीय नहीं। पौराणिक टीकाकारों ने यहां मांसादि को छोड़कर माषादि अन्नों का निषेध किया है इससे उनका मांस में पक्षपात पाया जाता है।

सं०-अब स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि का अभाव कथन करते हैं :-

स्वामिनः फलसमवायात्फलस्य कर्मयोगित्वात्। २१।

पद०-स्वामिनः। फलसमवायात्। फलस्य। कर्मयोगित्वात्।

पदा०-(स्वामिनः) स्वामी का (फलसमवायात्) फल के साथ सम्बन्ध पाये जाने से और (फलस्य) फल का (कर्मयोगित्वात्)

कर्ध के साथ सम्बन्ध होने से स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि नहीं होसकता ।

भाष्य–"शास्त्रफलप्रयोतृ" मी० ३ । ७ । ५८ में वर्णन कर आये हैं कि शास्त्र का फल प्रयोग करने वाले को होता है, इसलिये स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि नहीं होसकता, क्योंकि यदि स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि होगा तो उसका प्रयोग करने वाला वही होगा और ऐसा होने से स्वामी को उसका फल प्राप्त न होसकेगा इसलिये स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि मानना ठीक नहीं ।

सं०–अब जिस अवस्था में प्रतिनिधि होना चाहिये उसका वर्णन करते हैं :–

बहूनां तु प्रवृत्तेऽन्यमागमयेद-वैगुण्यात् । २२ ।

पद०–बहूनां । तु । प्रवृत्तौ । अन्यं । आगमयेत् । अवैगुण्यात् ।

पदा०–"तु" शब्द पक्षान्तर के लिये आया है (बहूनां) बहुत यजमानों के (प्रवृत्तौ) प्रवृत्त होने पर उनमें से किसी एक के मरजाने पर (अन्यं) और को (अवैगुण्यात्) यज्ञ के अङ्गों की पूर्त्ति के लिये (आगमयेत्) ले आवे ।

भाष्य–सूत्र में जहां १७ यजमान लिखे हैं उनमें यदि कोई एक मरजाय तो उसके स्थान में अन्य प्रतिनिधि करले क्योंकि यदि ऐसा न करे तो यज्ञ अङ्गहीन होजायगा, इसलिये ऐसे स्थलों में प्रतिनिधि अवश्य करना चाहिये ।

सं०–उक्त प्रतिनिधि स्वामी होसकता है वा नहीं, अब इस विषय में पूर्वपक्ष करते हैं :-

स स्वामी स्यात्तत्संयोगात् । २३ ।

पद०-स । स्वामी । स्यात् । तत् । संयोगात् ।

पदा०-(तत्, संयोगात्) मृत स्वामी के साथ संयोग होने से (स) वह प्रतिनिधि (स्वामी, स्यात्) स्वामी होता है ।

भाष्य-मृत स्वामी के स्थानापन्न होने से उक्त प्रतिनिधि कर्म का स्वामी है, क्योंकि वह स्वामी के स्थान में नियत कियागया है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

कर्मकरो वा भृतत्वात् । २४ ।

पद०-कर्मकरः । वा । भृतत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (भृतत्वात्) भृत होने से (कर्मकरः) उक्त प्रतिनिधि कर्म का करने वाला है स्वामी नहीं ।

भाष्य-उक्त प्रतिनिधि स्वामी नहीं होसकता, क्योंकि वह स्वामी के स्थान में केवल कर्म करने के लिये नियत किया गया है जैसे लोक में भृत्य अपनी नौकरी का भागी होता है उस कर्म के फल का नहीं इसी प्रकार यजमान स्थानापन्न यजमान फल का भागी नहीं होता, इससे सिद्ध है कि उक्त प्रतिनिधि स्वामी नहीं ।

सं०-अब उक्त सिद्धान्त में युक्ति कथन करते हैं :-

तस्मिंश्च फलदर्शनात् । २५ ।

पद०-तस्मिन् । च । फलदर्शनात् ।

पदा०-(च) और (तस्मिन्) मुख्य स्वामी में (फलदर्शनात्) फल देखे जाने से ।

भाष्य–सर्वत्र स्वामी में ही फल देखाजाता है भृत्यादिकों में नहीं, इसलिये मुख्य स्वामी का प्रतिनिधि नहीं होसक्ता ।

सं०–अब यजमान स्थानापन्न पुरुष में यजमान के धर्मों का कथन करते हैं :–

स तद्धर्मा स्यात्कर्मसंयोगात् । २६ ।

पद०–स । तद्धर्मा । स्यात् । कर्मसंयोगात् ।

पदा०–(स) उसका (कर्मसंयोगात्) कर्म के साथ संयोग पाये जाने से यजमानस्थानापन्न पुरुष (तद्धर्मा) यजमान के धर्मों वाला (स्यात्) होता है ।

भाष्य–कर्म के साथ कर्मकर्तृरूप सम्बन्ध यजमानस्थानापन्न यजमान का भी पाया जाता है इसलिये यजमान स्थानापन्न पुरुष यजमान के धर्मों वाला कहलाता है ।

सं०–अब हवनोपयोगी द्रव्य में तत्सदृश प्रतिनिधि का कथन करते हैं :–

सामान्यं तच्चिकीर्षा हि । २७ ।

पद०–सामान्यं । तत् । चिकीर्षा । हि ।

पदा०–(सामान्यं) व्रीहि के अभाव में उसके समान ही द्रव्य लेना चाहिये क्योंकि (तत्, चिकीर्षा) उसके सदृश की ही इच्छा है (हि) निश्चयार्थ आया है ।

भाष्य–जहां व्रीहि न मिले वहां नीवार=सांवां उसके स्थान में प्रतिनिधि द्रव्य लेले, क्योंकि यदि ऐसा न कियाजाय तो यज्ञ

अङ्गहीन होजाता है, इसलिये तत्सदृश द्रव्य का ग्रहण करना ही उचित है।

सं०-अब खादिरयूप के अभाव में तत्सदृश प्रतिनिधि का कथन करते हैं :-

निर्देशात्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम् । २८ ।

पद०-निर्देशात् । तु । विकल्पे । यत् । प्रवृत्तम् ।

पदा०-(विकल्पे) विकल्प विषय में (यत्, प्रवृत्तम्) जो प्रथम यूप था वही लेना चाहिये, क्योंकि "तु" निश्चय करके (निर्देशात्) ऐसा ही निर्देश पाया जाता है ।

भाष्य-अग्निष्टोम यज्ञ में जो दानार्थ पशु बांधा जाता है उसके लिये खदिर अथवा पलाश के यूप का कथन है अर्थात् वह यूप पलाश का हो वा खदिर का हो यह विकल्प है, ऐसे स्थल में यदि पहले खदिर का यूप हो तो उसके स्थान में खदिर का ही लेना चाहिये क्योंकि प्रथम खदिर के यूप का अङ्ग माना गया है उसी अङ्ग की पूर्ति करनी उचित है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :-

अशब्दमितिचेत् । २९ ।

पद०-अशब्दं । इति । चेत् ।

पदा०-(अशब्दं) इस विषय में कोई प्रमाण नहीं (चेत्) यदि (इति) यह कथन किया जाय तो ठीक नहीं ।

भाष्य-जहां प्रथम खादिर यूप था उसके स्थान में वैकल्पिक पालाश यूप लें तो कुछ दोष नहीं, क्योंकि विधान न किया जाना

तत्सदृश और वैकल्पिक दोनों में समान है, इसलिये वैकल्पिक लेना चाहिये।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

नानङ्गत्वात् । ३० ।

पद०—न । अनङ्गत्वात् ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं क्योंकि वह (अनङ्गत्वात्) अङ्ग नहीं है।

भाष्य—यद्यपि अविहितत्व खादिर और पालाश दोनों में तुल्य है तथापि खादिर के स्थान में खादिर ही लेना चाहिये, क्योंकि अङ्गत्वेन विधान प्रथम खादिर का है पालाश का नहीं, इसलिये खादिर के स्थान में खादिर ही यूप लेना उचित है।

सं०—अब पूतिका के स्थान में सोम को प्रतिनिधित्वेन कथन करते हैं:—

वचनाच्चान्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिरभावादितरस्य । ३१ ।

पद०—वचनात् । च । अन्याय्यं । अभावे । तत्सामान्येन । प्रतिनिधिः । अभावात् । इतरस्य ।

पदा०—(इतरस्य) सोम स्थानीय पूतिका द्रव्य के (अभावात्) न मिलने से (तत्सामान्येन) उसके सदृश (प्रतिनिधिः) अन्य प्रतिनिधि (वचनात्) वचन से (अन्याय्यं) ठीक नहीं (च) और (अभावे) यदि ऐसा वचन न पाया जाय तो ठीक है।

भाष्य--प्रतिनिधि के स्थान में अन्य प्रतिनिधि नहीं होसक्ता अर्थात् जैसे सोम के न मिलने पर पूतिका से कार्य्य सिद्ध किया जाता है वैसे ही यदि पूतिका न मिले तो उसके स्थान में पूतिका के सदृश अन्य द्रव्य लेना ठीक नहीं, क्योंकि यदि इस प्रकार प्रतिनिधि के स्थान में प्रतिनिधि करते जायं तो मुख्य द्रव्य का सादृश्य सर्वथा नष्ट होजायगा, इसलिये प्रतिनिधि के स्थान में प्रतिनिधि करना ठीक नहीं ।

सं०--अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :-

न प्रतिनिधौ समत्वात् । ३२ ।

पद०--न । प्रतिनिधौ । समत्वात् ।

पदा०--(समत्वात्) समान होने से (प्रतिनिधौ) प्रतिनिधि का प्रतिनिधि (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य--जिस प्रकार व्रीहि के न मिलने से व्रीहि सदृश नीवार प्रतिनिधि किया जाता है इसी प्रकार नीवार के न मिलने से नीवार सदृश प्रतिनिधि नहीं किया जाता, क्योंकि नीवार के सदृश लेने से नीवार की ही समता होती है मुख्य द्रव्य की नहीं, इसलिये प्रतिनिधि के स्थान में प्रतिनिधि नहीं होसक्ता ।

सं०--अब उक्त विषय में और पूर्वपक्ष करते हैं :-

स्याच्छ्रुतिलक्षणोनियतत्वात् । ३३ ।

पद०--स्यात् । श्रुति । लक्षणो । नियतत्वात् ।

पदा०--(स्यात्) प्रतिनिधि का भी प्रतिनिधि होसक्ता है क्योंकि (श्रुति, लक्षणो) प्रतिनिधि विधायक वाक्यों में (नियतत्वात्)

ऐसा नियम पायाजाता है।

भाष्य–जैसा यह नियम है कि यदि सोम न मिले तो उसके स्थान में तत्सदृश पूतिका लेले, इसी प्रकार यदि पूतिका न मिले तो उसके स्थान में तत्सदृश और द्रव्य लेले, इस प्रकार प्रतिनिधि का भी प्रतिनिधि होसक्ता है।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:–

नतदीप्साहि । ३४ ।

पद०–न । तत् । ईप्सा । हि ।

पदा०–(न) उपरोक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (तत्) प्रकृत साम द्रव्य की ही (हि) निश्चय करके (ईप्सा) इच्छा पाई जाती है पूतिकादिकों की नहीं।

भाष्य–प्रतिनिधि का प्रतिनिधि इसलिये नहीं होता कि याग में मुख्य अपेक्षित सोम द्रव्य है पूतिका नहीं, पूतिका तो उसके अभाव में लीजाती है, इसलिये प्रतिनिधि का प्रतिनिधि नहीं होसक्ता।

सं०–ननु, मुख्य द्रव्य के मिलने पर प्रतिनिधि द्रव्य लेना चाहिये वा नहीं? उत्तर:–

मुख्याधिगमेमुख्यमागमोहितदभावात्।३५

पद०–मुख्याधिगमे। मुख्यं। आगमः। हि। तत्। अभावात्।

पदा०–(तत्, अभावात्) मुख्य द्रव्य के न मिलने पर (हि) निश्चय करके प्रतिनिधि द्रव्य लेना चाहिये और (मुख्याधिगमे) मुख्य के मिलने पर (मुख्यं, आगमः) मुख्य का ही विधान है।

भाष्य--यज्ञ के प्रवृत्त होने पर भी यदि मुख्य द्रव्य मिलजाय तो प्रतिनिधि द्रव्य को छोड़कर मुख्य का ही ग्रहण करे, क्योंकि यज्ञ में सर्वोपरि उपादेय मुख्य द्रव्य ही है, इससे सिद्ध है कि मुख्य द्रव्य के होने पर प्रतिनिधि का ग्रहण करना ठीक नहीं ।

सं०-अब यह आशङ्का करते हैं कि यदि यज्ञ सम्बन्धी पुरोडाशादि बनाने के अनन्तर मुख्य द्रव्य मिले तो फिर क्या करे ? उत्तर :-

प्रवृत्तेऽपीतिचेत् । ३६ ।

पद०--प्रवृत्ते । अपि । इति । चेत् ।

पदा०-(प्रवृत्ते) यज्ञ सम्बन्धी पुरोडाशों के सिद्ध होने पर (अपि) भी (चेत्) यदि मुख्य द्रव्य का लाभ होजाय तो (इति) मुख्य द्रव्य ही लेना चाहिये ।

भाष्य-जब यज्ञ सम्बन्धी पुरोडाशादि पक चुके हों उस समय मुख्य द्रव्य मिलने पर पूर्व निष्पन्न जो पुरोडाश हैं उनका त्याग करके मुख्य द्रव्य ही लेना उचित है ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

नानर्थकत्वात् । ३७ ।

पद०-न । अनर्थकत्वात् ।

पदा०-(अनर्थकत्वात्) अनर्थक होने से (न) मुख्य द्रव्य का ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

भाष्य-पुरोडाशों के निष्पन्न होने पर यदि फिर मुख्य द्रव्य मिले तो उससे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि पुरोडाशादि जो यज्ञ के साधन हैं उनके बनने पर फिर मुख्य द्रव्य से क्या लाभ ।

सं०-ननु, मुख्य द्रव्य असंस्कृत और प्रतिनिधि संस्कृत होतो दोनों में से किसका ग्रहण करे? उत्तरः-

द्रव्यसंस्कारविरोधेद्रव्यंतदर्थत्वात् । ३८ ।

पद०-द्रव्यसंस्कारविरोधे । द्रव्यं । तदर्थत्वात् ।

पदा०-(द्रव्यसंस्कारविरोधे) मुख्य द्रव्य और संस्कृत द्रव्य के विरोध होने पर (द्रव्यं) मुख्य द्रव्य का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि (तदर्थत्वात्) मुख्य द्रव्य यज्ञ का अङ्ग है ।

भाष्य-जिस स्थल में खदिर का यूप दानार्ह पशु के केवल बांधने ही योग्य है और उसके प्रतिनिधि कदर का यूप आठ कोने वाले संस्कार योग्य है, ऐसे स्थल में असंस्कृत मुख्य द्रव्य ही लेना उचित है, क्योंकि वह यज्ञ का अङ्ग है इसलिये अङ्ग का लोप करना उचित नहीं ।

सं०-अब मुख्य द्रव्य के ग्रहण करने में पूर्वपक्ष करते हैं :-

अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थोद्रव्याभावेतदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वात् । ३९ ।

पद०-अर्थद्रव्यविरोधे । अर्थः । द्रव्याभावे । तदुत्पत्तेः । द्रव्याणां । अर्थशेषत्वात् ।

पदा०-(अर्थद्रव्यविरोधे) अर्थ और द्रव्य का विरोध होने पर (अर्थः) प्रयोजन की सिद्धि लक्ष्य रखनी चाहिये (द्रव्याभावे) मुख्य द्रव्य के न होने पर भी (तदुत्पत्तेः) प्रयोजन की सिद्धि होसक्ती है, क्योंकि (द्रव्याणां) द्रव्य (अर्थशेषत्वात्) प्रयोजन का अङ्ग है ।

भाष्य-यदि यूपोपयोगी मुख्य द्रव्य खदिर का यूप योग्य न हो अर्थात् पतला वा निर्बल होतो उसके स्थान में कदर का दृढ़

यूप लेना उचित है कारण यह कि प्रयोजन मुख्य है द्रव्य मुख्य नहीं, क्योंकि मुख्य द्रव्य के अभाव में भी अन्य द्रव्यों से अर्थसिद्धि कीजासक्ती है।

तात्पर्य्य यह है कि द्रव्य प्रयोजन सिद्धि के अङ्ग हैं और प्रयोजन सिद्धि मुख्य है इसलिये अर्थसिद्धि को लक्ष्य रखकर उक्त स्थल में प्रतिनिधि द्रव्य ही उपादेय है।

सं०–ननु, मुख्य द्रव्य अल्प हो और प्रतिनिधि द्रव्य प्रचुर हो तो दोनों में से किसका ग्रहण करे ? उत्तर :–

विधिरप्येकदेशेस्यात् । ४० ।

पद०–विधिः । अपि । एकदेशे । स्यात् ।

पदा०–(एकदेशे) मुख्य द्रव्य होने पर (अपि) भी (विधिः) विहित द्रव्य ही (स्यात्) लेना चाहिये प्रतिनिधि नहीं।

भाष्य–प्रतिनिधि द्रव्य की अपेक्षा यदि विहित द्रव्य न्यून हो तो विहित द्रव्य ही लेना उचित है प्रतिनिधि नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

अपिवाऽर्थस्यशक्यत्वादेकदेशेननिर्वर्तेतार्थानामविभक्तत्वाद् गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् । ४१ ।

पद०–अपि । वा । अर्थस्य । शक्यत्वात् । एकदेशेन । निर्वर्तेत । अर्थानां । अविभक्तत्वात् । गुणमात्रं । इतरत् । तदर्थत्वात् ।

पदा०–" अपि, वा " शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (एकदेशेन) मुख्य द्रव्य के एकदेशमात्र से भी (अर्थस्य) अर्थ का

(शक्यत्वात्) अनुष्ठान होना योग्य है, क्योंकि (अर्थानां) हवन सम्बन्धी शेष अर्थ (निर्वर्तेत) अन्य द्रव्य से सिद्ध होसकेंगे, क्योंकि (अविभक्तत्वात्) उन शेष अर्थों का यज्ञ से विभाग नहीं है (इतरत्) अन्य प्रयोजन (गुणमात्रं) गौण हैं (तदर्थत्वात्) यज्ञ का स्वार्थ होने से ।

भाष्य—यदि मुख्य द्रव्य अल्प होतो उससे प्रधान कर्मों की सिद्धि करनी चाहिये और प्रतिनिधि द्रव्यों से यज्ञशेष हवनादि कार्य्यों की सिद्धि करनी चाहिये, इस प्रकार दोनों द्रव्य अपेक्षित हैं परन्तु ऐसे स्थलों में मुख्य के स्थान में प्रतिनिधि नहीं होता, प्रतिनिधि से केवल स्विष्टकृतादि अङ्गों का काम लेना चाहिये अन्य नहीं ।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
षष्ठाध्याये तृतीयः
पादः

ओ३म्

। अथ षष्ठाध्याये चतुर्थःपादः प्रारभ्यते ।
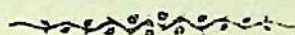
सङ्गति–तृतीय पाद में ईश्वर तथा प्रतिनिधि द्रव्यों का निरूपण किया, अब इस पाद में यज्ञशेष का भक्षण तथा अवदान और द्रव्य के समाप्त होने पर अन्य भाग का ग्रहण कथन करते हैं:–

शेषाद्द्व्यवदाननाशेस्यात्तदर्थत्वात् । १ ।

पद०–शेषात् । द्व्यवदाननाशे । स्यात् । तदर्थत्वात् ।

पदा०–(द्व्यवदाननाशे) हवन के लिये रखा हुआ जो पुरोडाश का विभाग उसके नाश होने पर (शेषात्) शेष भाग से (स्यात्) हवन करना चाहिये, क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह शेषभाग हवन के लिये है ।

भाष्य–जो भिन्न २ पात्रों में हवन के लिये द्रव्य रखा जाता है उसका नाम "द्व्यवदान" है, द्व्यवदान के समाप्त होने पर पुरोडाश से शेष भाग लेकर हवन करे ।

तात्पर्य्य यह है कि हवन मुख्यकर्म है और यज्ञशेष का भक्षण गौणकर्म है इसलिये हवनार्थ शेषभाग भी ग्राह्य है ।

सं०–अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:–

निर्देशाद्वाऽन्यदागमयेत् । २ ।

पद०–निर्देशात् । वा । अन्यत् । आगमयेत् ।

पदा०-"वा" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (निर्देशाद) उक्त कथन पाये जाने से (अन्यत्) अन्यभाग (आगमयेत्) पुरोडाशादिकों से लेलेना चाहिये।

सं०-अब शेष भाग के हवन को स्पष्ट कथन करते हैं:-

अपिवाशेषभाजांस्याद्विशिष्टकारणत्वात्। ३

पद०-अपि। वा। शेषभाजां। स्यात्। विशिष्टकारणत्वात्।

पदा०-"अपि, वा" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (शेषभाजां) शेष भागों का (स्यात्) हवन करना चाहिये, क्योंकि (विशिष्टकारणत्वात्) सम्पूर्ण पुरोडाश यज्ञ के लिये हैं।

भाष्य-यज्ञ मुख्य होने से सब साधन उसके लिये हैं, इसलिये पुरोडाश के जो शेष भाग हैं उनसे हवन करना चाहिये।

सं०-अब यज्ञशेष के भक्षण में पूर्वपक्ष करते हैं:-

निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैःप्रधानवत्। ४।

पद०-निर्देशात्। शेषभक्षः। अन्यैः। प्रधानवत्।

पदा०-(अन्यैः) ऋत्विजादिकों के द्वारा (शेषभक्षः) यज्ञ का शेष भक्षण करना चाहिये, क्योंकि (प्रधानवत्) प्रधान के समान (निर्देशात्) यज्ञशेष भक्षण का निर्देश पायाजाता है।

भाष्य-"यजमान पञ्चमामिडां भक्षयन्ति"=यजमान पांचवा है जिसमें ऐसी इडा को भक्षण करते हैं, इस वाक्य से स्पष्ट पाया जाता है कि ऋत्विजादि ही यज्ञशेष भक्षण के अधिकारी हैं अन्य नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

सर्वैर्वा समवायात्स्यात् । ५ ।

पद०-सर्वैः । वा । समवायात् । स्यात् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (सर्वैः) सब लोग यज्ञशेष का भक्षण करें यह (समवायात्) सम्बन्ध से (स्यात्) पाया जाता है ।

भाष्य-यज्ञशेष के भक्षण का सबको अधिकार है, क्योंकि यज्ञ इसी उद्देश्य से किया जाता है कि सब मिलकर ईश्वर की उपासना, ज्ञान की वृद्धि और यज्ञशेष का भक्षण करें, और यज्ञ शब्द के अर्थों से भी ऐसा ही पाया जाता है जैसाकि :-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ गी० ४।२१

अर्थ-कोई द्रव्यरूप कोई तपरूप कोई योगरूप और कोई स्वाध्यायरूप यज्ञ करते हैं, एवं विविध प्रकार के यज्ञ हैं जिनका उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति और परस्पर सङ्गति लाभ है, इसलिये यज्ञशेष भक्षण के भी सभी अधिकारी हैं ।

सं०-ननु, तो फिर "यजमान पञ्चमामिड़ां भक्षयन्ति" यह कथन क्यों किया ? उत्तर :-

निर्देशस्य गुणार्थत्वम् । ६ ।

पद०-निर्देशस्य । गुणार्थत्वम् ।

पदा०–(निर्देशस्य) उक्त निर्देश (गुणार्थत्वम्) गौण है।

भाष्य–यजमान के साथ ऋत्विजों के भक्षण का विधान करने वाला वाक्य गौण है, क्योंकि यज्ञशेष के भक्षण का अधिकार सब-को समान है।

सं०–अब उक्त वाक्य को उपलक्षण सिद्ध करते हैं :–

प्रधाने श्रुतिलक्षणम् । ७ ।

पद०–प्रधाने । श्रुतिलक्षणम् ।

पदा०–(प्रधाने) प्रधान यजमान विषयक यज्ञशेष का भक्षण विधान करने वाला वाक्य (श्रुतिलक्षणं) उपलक्षण है।

सं०–अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :–

अश्ववदिति चेत् । ८ ।

पद०–अश्ववत् । इति । चेत् ।

पदा०–(अश्ववत्) अश्वमेध यज्ञ के समान अश्व का भक्षण प्राप्त होगा (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है।

भाष्य–यज्ञशेष के भक्षण से यह अनर्थ प्राप्त होगा कि जिन यज्ञों में अश्वमेध के समान प्रचुर पशु मारे जाते हैं उन यज्ञों में शेषभक्षण से पशुभक्षण की प्रसक्ति होगी।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

न चोदनाविरोधात् । ९ ।

पद०–न । चोदनाविरोधात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (चोदनाविरोधात्) सर्वत्र विधियों का अविरोध पाया जाता है।

भाष्य-पशु आदिकों के मांस भक्षण की प्रसक्ति इसलिये नहीं होती कि शास्त्र में पशुयज्ञ का सर्वत्र निषेध पाया जाता है जैसाकि "मुग्धादेवा उत शुनायजन्त" अथर्व० १७।५।८ और "यथामांसं यथासुरा" अथर्व० ६।७।१ इत्यादि मन्त्रों में मांस का निषेध है, एवं विधि शास्त्र की चोदना का कहीं भी विरोध नहीं, इसलिये अश्वमेधादिकों में मांसभक्षण की प्रसक्ति नहीं पाई जाती।

यज्ञ में पशुवध मानने वाले टीकाकारों ने इस सूत्र में यह लिखा है कि अश्वमेध यज्ञ में प्रायः मांस ही होता है, यदि ऋत्विक् लोग सब खाजायेंगे तो मरजाने का भय है और मरने से यज्ञ में विघ्न होगा, इसलिये सबका भक्षण न करें, इनके मत में शास्त्र में सर्वत्र मांसभक्षण ही परमार्थ बतलाया गया है इसलिये वैदिक विधियें सब इसी का विधान करती हैं।

सं०-अब यज्ञ सम्बन्धी पात्रों के एकदेश भग्न होजाने पर प्रायश्चित्त का अभाव कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशेऽपि । १० ।

पद०-अर्थसमवायात् । प्रायश्चित्तं । एकदेशे । अपि ।

पदा०-(एकदेशे) कपालादिकों का एकदेश भग्न होजाने पर (अपि) भी (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त होना चाहिये, क्योंकि

(अर्थसमवायात्) सम्पूर्ण द्रव्य के साथ उस एकदेश का सम्बन्ध पाया जाता है ।

भाष्य—एक देश विकारी होने से सर्वदेश विकारी होजाता है, इसलिये एकदेश के भग्न होजाने से प्रायश्चित्त होना चाहिये ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

न त्वशेषेवैगुण्यात्तदर्थंहि । ११ ।

पद०—न । तु । अशेषे । वैगुण्यात् । तदर्थं । हि ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (न) एकदेश के विकारी होने से प्रायश्चित्त करना ठीक नहीं (अशेषे) सम्पूर्ण में (वैगुण्यात्) विकार उत्पन्न होने से प्रायश्चित्त होना चाहिये, क्योंकि (तदर्थं) यज्ञ के लिये ही सम्पूर्ण द्रव्य है (हि) शब्द हेतु का बोधक है ।

भाष्य—जब सम्पूर्ण द्रव्य यज्ञ के लिये है तो फिर एकदेश के विकार से प्रायश्चित्त नहीं होसक्ता, क्योंकि कई कारणों से एकदेश में विकार होना सम्भव है, इसलिये एकदेश के विकारी होने पर प्रायश्चित्त करना ठीक नहीं ।

सं०—अब और युक्ति कथन करते हैं :—

स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगात् न हि तस्य गुणार्थेनानित्यत्वात् ।१२।

पद०—स्यात् । वा । प्राप्तनिमित्तत्वात् । अतद्धर्मः । नित्यसंयोगात् । न । हि । तस्य । गुणार्थेन । अनित्यत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द पक्षान्तर के लिये आया है (प्राप्तनिमित्तत्वात्) भग्नरूप निमित्त के प्राप्त होने पर (अतद्धर्मः) यज्ञ के अयोग्य (स्यात्) होसक्ता है क्योंकि (नित्यसंयोगात्) एकदेश विकार का नित्य के साथ संयोग है (हि) निश्चय करके (तस्य) उस अवयवी द्रव्य का (गुणार्थेन) गौणरूपद्वारा (अनित्यत्वात्) अनित्य होने से वह विकार (न) प्रायश्चित्त योग्य नहीं।

भाष्य-जिस पदार्थ का एकदेश विकारी हो वह यज्ञ के अयोग्य नहीं होसक्ता, क्योंकि उस एकदेश का अविकृत सम्पूर्ण पदार्थ के साथ सम्बन्ध पाया जाता है इसलिये वह अविकारी है उसका विकारी होना केवल गौणता से कथन किया जाता है।

सं०-अब और युक्ति कथन करते हैं:-

गुणानां च परार्थत्वाद्वचनाद्व्यपाश्रयः स्यात् । १३ ।

पद०-गुणानां । च । परार्थत्वात् । वचनात् । व्यपाश्रयः । स्यात् ।

पदा०-(च) और (गुणानां) विकारादिगुण (परार्थत्वात्) अन्य द्रव्य के (वचनात्) बोधक होने से (व्यपाश्रयः) द्रव्यांश्रित (स्यात्) हैं।

भाष्य-द्रव्याश्रित होने से विकारादि गुण मुख्य नहीं किन्तु गौण हैं और द्रव्य मुख्य है, इसलिये जबतक द्रव्यगत कोई अयोग्यता उत्पन्न नहो तब तक वह द्रव्य प्रायश्चित्त के योग्य नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि एकदेश विकारी होने से सम्पूर्ण द्रव्य विकारी नहीं होसक्ता।

सं०–अब और आशङ्का करते हैं :–

भेदार्थमितिचेत् । १४ ।

पद०–भेदार्थं । इति । चेत् ।

पदा०–(भेदार्थं) वह विकार उस द्रव्य के नाशार्थ है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है–

भाष्य–विकार स्वाश्रय को विदीर्ण करता है, इसलिये उस विकार से तदाश्रित द्रव्य भी अयोग्य होजाता है अतएव वह यज्ञ के उपयोगी नहीं होसक्ता ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

शेषभूतत्वात् । १५ ।

पद०–एकपद० ।

पदा०–(शेषभूतत्वात्) विकार अङ्गरूप होने से वह द्रव्य प्रायश्चित्त के योग्य नहीं ।

भाष्य–वह विकार द्रव्य का एक अङ्गरूप है इसलिये उस अङ्ग से सम्पूर्ण द्रव्य विकारी नहीं कहला सक्ता, इससे सिद्ध है कि उक्त द्रव्य प्रायश्चित्त के योग्य नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :–

अनर्थकश्चसर्वनाशेस्यात् । १६ ।

पद०–अनर्थकः । च । सर्वनाशे । स्यात् ।

पदा०–(च) और (सर्वनाशे) सर्वाङ्ग नाश होने पर द्रव्य (अनर्थकः) यज्ञ के अयोग्य (स्यात्) होता है ।

भाष्य—यदि द्रव्य सर्वथा कार्य्य के योग्य न रहे तब वह अनर्थक कहलाता है अन्यथा नहीं, इसलिये एकदेश से विकृत पदार्थ का प्रायश्चित्त उचित नहीं।

सं०—पुरोडाश के एकदेश दाह में प्रायश्चित्त करना चाहिये वा सर्वदेश दाह में, अब यह कथन करते हैं :—

क्षामे तु सर्वदाहेस्यादेकदेशस्यावर्जनीयत्वात् । १७ ।

पद०—क्षामे । तु । सर्वदाहे । स्यात् । एकदेशस्य । अवर्जनीयत्वात् ।

पदा०—"तु" शब्द निर्धारणार्थ आया है (सर्वदाहे, क्षामे) सर्व देश के दाह होने पर (स्यात्) प्रायश्चित्त होना चाहिये, क्योंकि (एकदेशस्य) एक देश का दाह (अवर्जनीयत्वात्) अमिट है।

भाष्य—पुरोडाश के सम्पूर्ण दाह होने पर प्रायश्चित्त होता है एकदेश के दाह होने पर नहीं, यदि एक देश के दाह होने से उसको यज्ञ के अयोग्य मानाजाय तो ऐसा कोई भी पुरोडाश नहीं मिलेगा जिसमें दाह का चिन्ह न हो, क्योंकि जब पुरोडाश को अग्नि में पकाया जाता है तो उसमें कहीं न कहीं अग्नि का चिन्ह अवश्य होजाता है, इसलिये सर्वदेश के दाह होने पर ही प्रायश्चित्त होना ठीक है एकदेश के दाह होने पर नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

दर्शनाद्वैकदेशेस्यात् । १८ ।

पद०—दर्शनात् । वा । एकदेशे । स्यात् ।

पदा०-"वा" शब्द आशङ्का के लिये आया है (दर्शनात्) ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं कि (एकदेशे) एकदेश के दाह होने पर भी (स्यात्) प्रायश्चित्त होना चाहिये।

भाष्य-"यदातद्धविस्संतिष्ठेततदेवहविर्निर्वपेत"= जिस प्रकार की हवि हो उसी से हवन करे, इत्यादि वाक्यों से एकदेश दाह वाले का ग्रहण पायाजाता है, इससे सिद्ध है कि एकदेश दाह में भी प्रायश्चित्त होता है।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:-

अन्येनवैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः । १९ ।

पद०-अन्येन । वा । एतत् । शास्त्रात् । हि । कारणप्राप्तिः ।

पदा०-"वा" शब्द पक्षान्तर के लिये आया है (अन्येन) अन्य आज्याहुतियों से हवन करे (एतत्) इस (शास्त्रात्) शास्त्र से (हि) निश्चय करके (कारणप्राप्तिः) आहुतिरूप कारण की प्राप्ति कथन कीगई है।

भाष्य-यहां अन्य हवि द्वारा हवन विधान करने से यह तात्पर्य्य है कि सब दाह होने पर ही अन्य हवि का ग्रहण पाया जाता है अन्यथा नहीं, इससे सिद्ध है कि सर्वदाह में प्रायश्चित्त होता है।

सं०-अब उक्त विषय में और आशङ्का करते हैं:-

तद्धविः शब्दान्नेतिचेत् । २० ।

पद०-तत् । हविः । शब्दात् । न । इति । चेत् ।

पदा०-(तत्, हविः) उसी हवि का (शब्दात्) वाचक शब्द पाये जाने से (न) अन्य आहुतियों द्वारा हवन करना ठीक नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-"तद्धविः संतिष्ठेत" इस वाक्य से उसी दग्ध पुरोडाश का हवन पायाजाता है फिर अन्य हवि से हवन की समाप्ति मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

स्यादिज्यागामी हविः सब्दस्तल्लिङ्ग संयोगात् । २१ ।

पद०-स्यात् । इज्यागामी । हविः । शब्दः । तत् । लिङ्गसंयोगात् ।

पदा०-(इज्यागामी) यागनिष्ठ कर्मवाचक (हविः, शब्दः) हविशब्द (स्यात्) है, क्योंकि (तत्, लिङ्गसंयोगात्) इस लिङ्ग के साथ संयोग पायाजाता है ।

भाष्य-"तद्धविः" शब्द यहां याग सम्बन्धी कर्म का वाचक है इसलिये इस शब्द से यहां दग्ध हवि नहीं लियाजासक्ता किन्तु कर्म लिये जाते हैं इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं आता ।

सं०-अब प्रातः सायं सन्ध्या तथा हवन न करने में प्रायश्चित्त कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

यथाश्रुतीतिचेत् । २२ ।

पद०-यथाश्रुतिः । इति । चेत् ।

पदा०-(यथाश्रुतिः) प्रातः सन्ध्याकाल में हवि के लोप का प्रायश्चित्त श्रुत्यनुसार होना चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-जो पुरुष प्रातः सन्ध्या काल में हवन न करे उसका प्रायश्चित्त यह है कि "पञ्चशरावोदनंनिर्वपेत"=पांच प्याले चावलों का दान करे ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

नतल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम् । २३ ।

पद०-न । तत् । लक्षणत्वात् । उपपातः । हि । कारणम् ।

पदा०-(हि) जिसलिये (उपपातः) उक्त कर्म का नाश (कारणं) कारण है (तत्,लक्षणत्वात) वह प्रत्यवाय उसका बोधक होने से (न) उक्त दान प्रायश्चित्त नहीं होसक्ता ।

भाष्य-उक्त कर्मों के लोप में शास्त्र ने प्रत्यवाय रूप दोष कथन किया है, न्यूनता पूर्ण न होने का नाम "प्रत्यवाय" है, पञ्चशराव ओदन के दान से उक्त न्यूनता पूर्ण नहीं होसक्ती अर्थात् अन्य पापों का प्रायश्चित्त होसक्ता है परन्तु जो मनुष्य का कर्तव्य नित्यकर्म है उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं होसक्ता, इसलिये नित्यकर्मों का कर्तव्य अवर्जनीय है उसके अभाव में कोई प्रायश्चित्त वा प्रतिकार नहीं ।

सं०-अब होम=हवनीय द्रव्य और अभिषव=कुटे हुए सोम का भक्षण कथन करते हैं :-

होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् । २४ ।

पद०-होमाभिषवभक्षणं । च । तद्वत् ।

पदा०-"च" शब्द प्रकरणान्तर के लिये आया है (तद्वत्) अन्य यज्ञशेष के समान (होमाभिषवभक्षणं) होम और अभिषव का यज्ञ में भक्षण करना चाहिये ।

भाष्य-जिस प्रकार यज्ञशेष, हविष आदि पदार्थों का भक्षण पायाजाता है इसीप्रकार अन्य हवनार्ह वस्तु और सोम का भक्षण भी पायाजाता है ।

सं०-अब दोनों प्रकार के ऋत्विजों के लिये उक्त द्रव्यों का भक्षण कथन करते हैं :-

उभाभ्यांवानहितयोर्धर्मशास्त्रम् । २५ ।

पद०-उभाभ्यां । वा । न । हि । तयोः । धर्मशास्त्रम् ।

पदा०-"वा" शब्द पक्षान्तर के लिये आया है (उभाभ्यां) दोनों प्रकार के ऋत्विजों से उक्त दोनों द्रव्य भक्षणीय हैं (हि निश्चय करके (तयोः) उनके भक्षण विषयक (धर्मशास्त्रम्) धर्म-) शास्त्र (न) निषेधक नहीं ।

भाष्य-आहुति देने वाले तथा सोम कूटने वाले यह दोनों प्रकार के ऋत्विक् उक्त दोनों द्रव्यों का भक्षण करें ।

सं०-अब नियत समय पर अग्न्याधान न करने में प्रायश्चित्त कथन करते हैं :-

पुनराधेयमोदनवत् । २६ ।

पद०-पुनराधेयं । ओदनवत् ।

पदा०-(ओदनवत्) चावल भरे पांच प्यालों के समान (पुनराधेयं) फिर अग्न्याधान करना चाहिये।

भाष्य-जैसे ओदन भरे हुए पांच प्याले यदि नियत समय पर न रखे जायं तो उनका पुनः रखना विधान किया है वैसे ही "अनुदितेजुहोति"=सूर्य्योदय से प्रथम जो अग्न्याधान नहीं करता उसको फिर अग्न्याधान करना चाहिये, इससे सिद्ध है कि नियत समय पर अग्निहोत्र न करने का पुनः अग्न्याधान करना प्रायश्चित्त है।

सं०-ननु, प्रातः सायं दोनों काल में सन्ध्या अग्निहोत्र करने का क्या फल? उत्तरः-

द्रव्योत्पत्तेश्चोभयोः स्यात्। २७।

पद०-द्रव्योत्पत्तेः। च। उभयोः। स्यात्।

पदा०-(च) और (उभयोः) दोनों काल के हवन का (द्रव्योत्पत्तेः) द्रव्योत्पत्तिरूप फल (स्यात्) है।

भाष्य-दोनों काल में सन्ध्या अग्निहोत्र करने वाले पुरुष को द्रव्य की उत्पत्ति होती है जैसाकि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः" यजु० ४०। २ इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि उस पुरुष का वैदिक आचार पुरुषार्थप्रद होजाता है जो दोनों काल में हवन करता है और धर्मशास्त्र भी इसके फल को इस प्रकारवर्णन करता है कि "जपतां जुह्वतांचैव विनीपातो न

विद्यते "=जप और होम दोनों काल करने वालों की गिरावट नहीं होती, इससे सिद्ध है कि मनुष्य को नित्यप्रति सायं प्रातः अग्नि-होत्र अवश्य कर्तव्य है।

सं०-अब पञ्चशराव कर्म को सांनाय्य का प्रतिनिधि कथन करते हैं:-

पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात् । २८ ।

पद०-पञ्चशरावः । तु । द्रव्यश्रुतेः । प्रतिनिधिः । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द निश्चयार्थ आया है (द्रव्यश्रुतेः) सांनाय्य द्रव्य के स्थान में सुने जाने से (पञ्चशरावः) पञ्चशरावकर्म (प्रतिनिधिः) प्रतिनिधि (स्यात्) है।

भाष्य-सांनाय्य के स्थान में पञ्चशराव का विधान किया है अर्थात् जहां सांनाय्य न हो तो उसके स्थान में पञ्चशराव करलेना चाहिये।

सं०-अब पञ्चशराव कर्म में विधि कथन करते हैं:-

चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये हि ।२९।

पद०-चोदना । वा । द्रव्यदेवता । विधिः । अवाच्ये । हि ।

पदा०-(वा) अथवा पञ्चशराव कर्म (अवाच्ये) इन्द्रयागोचर जो परमात्मा है उसके विषय में (चोदना) प्रेरणारूप (द्रव्यदेवता)

द्रव्य-देने का (विधिः) विधान है (हि) शब्द निश्चयार्थ आया है।

भाष्य-"पञ्चशरावं ऐन्द्रं कुर्यात्"=इन्द्र के उद्देश्य से पांच शरावे दान दे, इस वाक्य में इन्द्र परमात्मा के उद्देश्य से पञ्च-शराव का कथन किया है, इससे सिद्ध है कि यह ईश्वरोद्देश्य से दान की विधि है।

सं०-अब उक्त पञ्चशराव याग को दर्श याग का अङ्ग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

स प्रत्यामनेत्स्थानात् । ३० ।

पद०-स । प्रत्यामनेत् । स्थानात् ।

पदा०-(स) वह पञ्चशराव याग (स्थानात्) दर्शयाग के स्थान में कथन किये जाने से (प्रत्यामनेत्) उसका प्रतिनिधि है।

भाष्य-दर्श याग के स्थान में पञ्चशराव याग का विधान पाये जाने से वह उसका अङ्ग है विधि नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् । ३१ ।

पद०-अङ्गविधिः । वा । निमित्तसंयोगात् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (निमित्तसंयोगात्) अमावस्यारूप निमित्त का सम्बन्ध पायेजाने से उक्त याग (अङ्गविधिः) अङ्गरूप से विधान किया गया है।

भाष्य-पञ्चशराव याग आमावस्या में कियाजाता है इसलिये यह याग दर्श का अङ्ग होसकता है प्रतिनिधि नहीं ।

सं०-अब विश्वजित् याग का फल कथन करते हैं :-

विश्वजित्त्वप्रवृत्ते भावः कर्मणि स्यात् ।३२।

पद०-विश्वजित्त्वप्रवृत्ते । भावः । कर्मणि । स्यात् ।

पदा०-(विश्वजित्त्वप्रवृत्ते) विश्वजित् याग के प्रवृत्त होने पर (कर्मणि) कर्मों में (भावः) प्रवृत्ति होती है ।

भाष्य-शत्रु को जीतकर जो याग किया जाता है उसका नाम "विश्वजित्" है, इस याग का फल यह है कि उससे पुरुष स्वर कर्मों में प्रवृत्त होते हैं अर्थात् जब सर्व प्रकार से प्रजा में राजा की ओर से शान्ति होती है तभी शुभ कर्मों की प्रवृत्ति होती है अन्यथा नहीं, इसलिये उक्त याग को शुभकर्मों की प्रवृत्ति का हेतु कथन किया गया है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :-

निष्क्रयवादाच्च । ३३ ।

पद०-निष्क्रयवादात् । च ।

पदा०-(च) और (निष्क्रयवादात्) मूल्य न लिये जाने से भी उक्त याग का फल सर्वोपरि है ।

भाष्य-विश्वजित् याग का कर्ता किसी से मोल नहीं लिया जासकता और किसी प्रकार भी किसी के वशीभूत नहीं होता

सर्वथा स्वतन्त्र रहता है अर्थात् यह याग स्वतन्त्रता का एकमात्र साधन है, और प्रत्येक मनुष्य को स्व २ कर्मों में प्रवृत्त कराता है इसलिये इसको सर्वोपरि कथन किया है।

सं०-अब दर्शपूर्णमास याग में व्रत करने का काल विधान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ॥ ३४ ॥

पद०-वत्ससंयोगे। व्रतचोदना। स्यात्।

पदा०-(वत्ससंयोगे) वत्सों के दुग्धपान समय (व्रतचोदना) व्रत करने की विधि (स्यात्) है।

भाष्य-"वर्हिषा वै पूर्णमासे व्रतमुपयन्ति वत्सैनामावास्यायाम्"=वर्हि द्रव्य से पूर्णमासी में व्रत करना चाहिये और वत्स से अमावास्या में, इस वाक्य में वत्सों द्वारा व्रत विधान कियागया है, इससे सिद्ध है कि वत्सों के संयोग में व्रत की विधि है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

कालोवोत्पन्नसंयोगाद्यथोक्तस्य ॥ ३५ ॥

पद०-कालः। वा। उत्पन्नसंयोगात्। यथोक्तस्य।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (उत्पन्नसंयोगात्) वत्सों का गौओं के साथ संयोग होने के समय से (यथोक्तस्य) उक्त वाक्य का (कालः) उस काल में तात्पर्य्य है।

भाष्य-पूर्णमास याग में विशेषकर दुग्ध की आहुतियें दी-जाती हैं, उक्त याग में दुग्ध के लिये जब बच्छे छोड़े जाते हैं उस काल से लेकर यजमान यज्ञ सम्बन्धी व्रत करे अर्थात् उसी काल से सब प्रकार का शम दम करे जिससे कोई अनिष्ट क्रिया न पाई जाय।

सं०-अब उक्त विषय में युक्ति कथन करते हैं:-

अर्थापरिमाणाच्च । ३६ ।

पद०-अर्थापरिमाणात् । च ।

पदा०-"च" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (अर्थापरि-माणात्) वत्सरूप अर्थ का तात्पर्य्य न बनसकने से वत्सकाल लेना चाहिये वत्स नहीं।

भाष्य-यदि वत्स शब्द से यहां वत्सरूप व्यक्ति का अर्थ लिया जाय तो अर्थ सर्वथा अप्रमाण होजाता है इसलिये काल का ग्रहण करना ही ठीक है वत्स का नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि "वत्सेन व्रतं उपयन्ति"=वत्स से व्रत को प्राप्त होता है, इस वाक्य में क्या व्रत में वत्स का उपयोग करना उचित है अथवा वत्स से व्रत प्राप्त होता है किंवा वत्स को हाथ में पकड़कर व्रत करे? इत्यादि अनेक विकल्प उपस्थित होते हैं और वत्स उक्त वाक्य में करण है जिससे यह सिद्ध होता है कि जिस काल में वत्सों का गौओं के साथ संयोग होता है उस काल से लेकर व्रत करे।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:-

वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात्तदङ्गं स्यात् । ३७ ।

पद०—वत्सः । तु । श्रुतिसंयोगात् । तदङ्गं । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष बोधन के लिये आया है (श्रुतिसंयोगात्) "वत्सेनामावास्यायाम्" = वत्स से अमावस्या में व्रत करे, इस कथन से (वत्सः) वत्स (तदङ्गं) उस व्रत का अङ्ग (स्यात्) है ।

भाष्य—पूर्व जो यह कथन किया गया है कि वत्स से वत्ससंयोग का काल लेना चाहिये, वत्स का यज्ञ में कोई उपयोग नहीं, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि श्रुतिसंयोग से यह पाया जाता है कि वत्स व्रत का अङ्ग है और श्रुति तथा लक्षण के विषय में श्रुति ही प्रबल होती है अर्थात् "वत्सेन व्रतं उपयन्ति" इस वाक्य में वत्स की साक्षात् श्रुति पाई जाती है और वत्सकाल के अर्थ करने में लक्षणा करनी पड़ती है और जहां एक ओर श्रुति और दूसरी ओर लक्षणा हो वहां श्रुति ही बलवती होती है लक्षणा नहीं, इससे सिद्ध है कि वत्स व्रत का अङ्ग है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

कालस्तुस्यादचोदना । ३८ ।

पद०—कालः । तु । स्यात् । अचोदना ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (कालः) व्रत के काल का ग्रहण वत्स से (स्यात्) पायाजाता है, क्योंकि (अचोदना) उक्त वाक्य में व्रतसंयोग की विधि नहीं किन्तु काल की विधि है ।

भाष्य-"**बर्हिषा वै पौर्णमासे व्रतं उपयन्ति वत्सेनामावास्यायाम्**" इस वाक्य में काल का विधान किया है वत्स-संयोग का नहीं, क्योंकि अप्राप्त वस्तु के लिये ही विधि होती है प्राप्त के लिये नहीं, वत्ससंयोग तो स्वभाव से प्राप्त ही है फिर उसके लिये विधि व्यर्थ है।

सं०-अब और युक्ति कथन करते हैं:-

अनर्थकश्चकर्मसंयोगे । ३९ ।

पद०-अनर्थकः । च । कर्मसंयोगे ।

पदा०-"च" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (कर्मसंयोगे) व्रतरूप कर्म के सम्बन्ध में (अनर्थकः) वत्ससंयोग निष्प्रयोजन है।

भाष्य-व्रत एक प्रकार का कर्म है उसमें वत्ससंयोग का कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वत्स का कोई व्रत नहीं किया जासक्ता, इसलिये वत्स व्रत का अङ्ग नहीं।

सं०-अब और युक्ति कथन करते हैं:-

अवचनाच्चस्वशब्दस्य । ४० ।

पद०-अवचनात् । च । स्वशब्दस्य ।

पदा०-(च) और (स्वशब्दस्य) वत्स का वाचक जो शब्द है वह (अवचनात्) व्रत का वाचक नहीं होसक्ता।

भाष्य-वत्स शब्द वत्स व्यक्ति का वाचक है, उसका व्रत में कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता, केवल "**वत्सेनामावास्यायाम्**" इस तृतीया श्रुति से भ्रम उत्पन्न होता है कि वत्स व्रत का अङ्ग है वस्तुतः

वत्स व्रत का अङ्ग नहीं किन्तु वत्ससंयोग काल का बोधक है, इस तत्व को न समझकर विप्रतिपत्ति ग्रस्त लोग "वत्सेन" इस तृतीया से भ्रम में पड़कर ऐसे अनर्थ को प्राप्त होते हैं, जैसाकि :-

तं प्रतीतं सुधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥ मनु० ३।३

इस श्लोक के कई एक टीकाकार यह अर्थ करते हैं कि गुरुकुल से लौटकर आया हुआ ब्रह्मचारी जो अपने विद्या गुण से प्रसिद्ध है, और जिसने ब्रह्मविद्या को अपने पिता से ग्रहण किया है, ऐसे ब्रह्मचारी की प्रथम मधुपर्क से पूजा करे अर्थात् उक्त श्लोक में जो "गवा" शब्द तृतीयान्त है उसके यह अर्थ किये हैं कि मधुपर्क में गौ करण है, यहां इतने अंश में ही गौ को करण नहीं बनाया कि उसमें गौ का दूध पड़ता है किन्तु इस अर्थ में भी करण बनाया है कि गौ को मारकर उसके रक्त से मधुपर्क बनावे, ज्ञात होता है कि ऐसे २ घोर अनर्थ वाममार्गकालीन टीकाकारों ने भरदिये हैं जो तृतीयाश्रुति से किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होते, वस्तुतः श्लोक में तृतीया श्रुति का आशय यह है कि गुरुकुल में कृतार्थ हुए स्नातक की प्रथम गौ से पूजा करे अथात् उसको दुग्धपान के लिये गौ दे अथवा गौ साधन मधुपर्क द्वारा पूजा करे, गोंहिंसा के अर्थ किसी प्रकार भी उक्त श्लोक से नहीं निकल सक्ते, इसी प्रकार वत्सकरणक व्रत में वत्ससंयोग काल लिया जासक्ता है वत्स का व्रत अङ्ग होना सिद्ध नहीं होता ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और पूर्वपक्ष करते हैं :-

कालश्चेत्संनयत्पक्षे तल्लिङ्गसंयोगात् । ४१ ।

पद०-कालः । चेत् । संनयत्पक्षे । तल्लिङ्गसंयोगात् ।

पदा०-(चेत्) यदि वत्ससंयोग से (कालः) काल लिया जाय तो (संनयत्पक्षे) संनयतपक्ष में (तल्लिङ्गसंयोगात्) कालबोधक लिङ्ग का सम्बन्ध पाये जाने से संनयत काल लेना चाहिये ।

भाष्य-यदि काल का ही ग्रहण किया जाय तो संनयत पक्ष अर्थात् दूध दधि मिलाने के समय में काल बोधक लिङ्ग पायाजाता है, इस-लिये संनयत काल लेना चाहिये वत्ससंयोग नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

कालार्थत्वाद्वोभयोः प्रतीयेत् । ४२ ।

पद०-कालार्थत्वात् । व । उभयोः । प्रतीयेत् ।

पदा०-(व) और (उभयोः) दोनों कालों में (कालार्थत्वात्) काल का अर्थ पाये जाने से (प्रतीयेत्) प्रतीत होता है कि दोनों कालों का ग्रहण है ।

भाष्य-वत्ससंयोग प्रातः सायं दोनों कालों में होता है, इस-लिये यह निश्चय नहीं होसक्ता कि यजमान किस काल में व्रत करे, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि दोनों काल लेने चाहियें परन्तु ऐसा करने से व्रत का नियम नहीं रहता, क्योंकि यह सन्देह रहता है कि यजमान प्रातःकाल से व्रत करे अथवा सायंकाल से ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

प्रस्तरे शाखाश्रयणवत् । ४३ ।

पद०—प्रस्तरे । शाखाश्रयणवत् ।

पदा०—(प्रस्तरे) द्रव्य के उत्पाटन समय में (शाखाश्रयणवत्) शाखा ग्रहण काल के समान काल लेना चाहिये ।

भाष्य—यहां प्रस्तर नाम द्रव्य का है उसके ग्रहण समय में जो शाखाछेदन होता है वही काल व्रत का है अर्थात् जिस समय रात्रि को द्रव्य उखाड़ी जाती है और वत्सों के अपाकरण के लिये शाखाछेदन कीजाती है उसी सन्ध्या से यजमान व्रत करे ।

सं०—अत्र उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :—

कालविधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात् । ४४ ।

पद०—कालविधिः । वा । उभयोः । विद्यमानत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (कालविधिः) व्रत के काल का विधान (उभयोः) प्रस्तर और शाखा दोनों के (विद्यमानत्वात्) विद्यमान समय से लेना चाहिये ।

भाष्य—व्रत उस समय से करना चाहिये जिस समय शाखा-छेदन और कुशा का उत्पाटन किया जाता है अर्थात् जिस दिन प्रातःकाल दर्श याग किया जाता है उसकी पूर्वरात्रि में वत्सों के अपाकरण के लिये शाखाछेदन और यज्ञोपयोगी होने से द्रव्य का उत्पाटन किया जाता है वही समय व्रत का है।

सं०—अत्र उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :—

अतत्संस्कारार्थत्वाच्च । ४५ ।

पद०—अतत्संस्कारार्थत्वात् । च ।

पदा०-(च) और (अकरसंस्कारार्थत्वात्) प्रातःकाल व्रत करने में यजमान का कोई उपयोग न होने से सन्ध्याकाल में ही व्रत करना चाहिये।

भाष्य-यजमान ने प्रातःकाल दर्शयाग करना है अर्थात् उसके यज्ञ का समय अमावस्या का प्रातःकाल है, इसलिये सन्ध्या समय से ही व्रत करना चाहिये।

सं०-अब और युक्ति कथन करते हैं :-

तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् । ४६ ।

पद०-तस्मात् । च । विप्रयोगे । स्यात् ।

पदा०-"च" शब्द और युक्ति के लिये आया है (तस्मात्) उक्त हेतु से (विप्रयोगे) प्रातःव्रत के वियोग में तात्पर्य्य(स्यात्) है।

भाष्य-प्रातःकाल का यजमान के व्रत में उपयोग नहीं, क्यों कि प्रातःकाल में तो उक्त दर्शयाग करना ही है, इसलिये सन्ध्या काल से ही व्रत करना उपयुक्त है।

सं०-अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हैं :-

उपवेषश्च पक्षे स्यात् । ४७ ।

पद०-उपवेषः । च । पक्षे । स्यात् ।

पदा०-(च) और (उपवेषः) उक्त व्रत की स्थिति (पक्षे) सन्ध्याकाल पक्ष में (स्यात्) होती है।

भाष्य-सन्ध्याकाल में ही यजमान के व्रत की स्थिति है प्रातःकाल में नहीं।

ननु—अनेक सूत्रों द्वारा ऐसे वाक्यों की मीमांसा करने से क्या प्रयोजन कि तृतीयाश्रुति से काल लेना चाहिये अथवा वत्सों का संयोग लेना चाहिये, केवल एक सूत्र द्वारा ही कथन करने से यह स्पष्ट होसक्ता था कि वत्स छोड़ने के काल मे यजमान व्रत करे अथवा शाखाछेदन काल मे करे, इतना लम्बा पूर्वोत्तर पक्ष बढ़ाने मे क्या तात्पर्य्य ? उत्तर—मीमांसाशास्त्र का मुख्य प्रयोजन यह है कि वैदिक वाक्यों की मीमांसा भले प्रकार कीजाय, क्योंकि विना वाक्यार्थ मीमांसा पुरुषों को वैदिक वाक्यों में अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न होते हैं उनकी निवृत्ति के लिये सब अधिकरणों में पूर्वोत्तर पक्ष द्वारा सब विषयों को विस्तारपूर्वक स्फुट किया गया है इसलिये कोई दोष नहीं ।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
षष्ठाध्याये चतुर्थः
पादः

ओ३म्

। अथ षष्ठाध्याये पञ्चमःपादः प्रारभ्यते ।
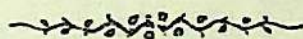
सङ्गति—अब अभ्युदयेष्टि में पूर्वपक्ष करते हैं :—

अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्यात् यथा पञ्चशरावे । १ ।

पद०—अभ्युदये । कालापराधात् । इज्याचोदना । स्यात् । यथा । पञ्चशरावे ।

पदा०—(अभ्युदये) अभ्युदयसंज्ञक इष्टि में (कालापराधात्) अमावस्या में दर्श की भ्रान्ति से यज्ञ करने में (इज्याचोदना) यज्ञ की प्रेरणा पाई जाती है (यथा) जैसे (पञ्चशरावे) पञ्चशराव नामक यज्ञ में इज्याचोदना (स्यात्) पाई जाती है ।

भाष्य—पञ्चशराव उस इष्टि का नाम है जिसमें पांच पात्र भर कर दान के लिये रखे जाते हैं, उक्त इष्टि में यदि हवि दूषित होजाय तो उसका त्याग करके अन्य हवि का उपादान करे, एवं अभ्युदय इष्टि में भी हवि का अपनय=बदल देना विधान किया गया है, जिसमें दर्श की भ्रान्ति से चतुर्दशी में यज्ञ किया जाय उसका नाम "अभ्युदय" है, इसमें इज्या का विधान फिर से करना चाहिये।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

अपनयो वा विद्यमानत्वात् । २ ।

पद०–अपनयः । वा । विद्यमानत्वात् ।

पदा०–"वा" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (अपनयः) दूषित द्रव्य का अपनय=त्याग करना चाहिये, क्योंकि (विद्यमानत्वात्) ऋत्विकादि यथावस्थित विद्यमान होने से उनका त्याग ठीक नहीं ।

भाष्य–त्याग केवल सामग्री का किया जाता है ऋत्विकादि का नहीं, क्योंकि वह तो विद्यमान ही हैं उनमें किसी प्रकार का दोष नहीं आया, इसलिये उनका त्याग नहीं करना चाहिये ।

सं०–अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :–

तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् । ३ ।

पद०–तद्रूपत्वात् । च । शब्दानाम् ।

पदा०–(च) और (शब्दानाम्) शब्दों का (तद्रूपत्वात्) वही रूप होने से उनका त्याग नहीं करना चाहिये ।

भाष्य–जिन वैदिक शब्दों का ऋत्विकादि प्रयोग करते हैं उनके रूप में कोई भेद नहीं आता अर्थात् ऋत्विकादि का त्याग इसलिये उचित नहीं कि उनके स्वरूप में कोई विकृति नहीं आती, सामग्री के स्वरूप में विकृति आती है, इसलिये उनका त्याग ठीक नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :–

आतञ्चनाभ्यासस्यच दर्शनात् । ४ ।

पद०-आतञ्चनाभ्यासस्य । च । दर्शनात् ।

पदा०-(च) और (आतञ्चनाभ्यासस्य) आतञ्चनरूप जो अभ्यास है (दर्शनात्) वह वैसा ही देखा जाता है, इसलिये अपनय ठीक नहीं ।

भाष्य-शब्द की आवृत्ति समय में शब्द वैसा ही पाया जाता है केवल आतञ्चन मात्र किया जाता है, जिस प्रकार दूध जमाने समय में केवल निमित्तमात्र से दूध दधि भाव को प्राप्त होता है इसी प्रकार आवृत्ति करने से पुनरपि वही शब्द उपस्थित होजाता है इसलिये ऋत्विकादि के त्याग की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ ।

सं०-अब उक्त सामग्री के त्याग में हेतु कथन करते हैं :-

अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् । ५ ।

पद०-अपूर्वत्वात् । विधानं । स्यात् ।

पदा०-(अपूर्वत्वात्) अपूर्व होने से (विधानं) विधि (स्यात्) होती है ।

भाष्य-जो बात प्रथम न हो उसके लिये विधि होती है अन्य के लिये नहीं अर्थात् प्रथम सामग्री दूषित होने से अन्य सामग्री का विधान होना आवश्यक है और जिन पदार्थों में दोष नहीं उनके स्थान में अन्य पदार्थ का विधान मानना भी ठीक नहीं ।

सं०-अब पूर्वोक्त पञ्चशराव के दृष्टान्त में विषमता कथन करते हैं :-

पयोदोषात्पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत् । ६ ।

पद०—पयोदोषात् । पञ्चशरावे । अदुष्टं । हि । इतरत् ।

पदा०—(पयोदोषात्) दूध सम्बन्धी दोष से (पञ्चशरावे) पञ्चशरावयज्ञ में दोष उपस्थित होता है (हि) इसलिये (इतरत्) अन्य कर्म (अदुष्टं) दोष रहित हैं ।

भाष्य—जिन प्यालों में दूध होता है उनमें दोष आजाने से पञ्चशराव यज्ञ में सामग्री का त्याग कथन किया गया है और जिनमें दोष नहीं आता वह तद्रस्थ रहते हैं उनके त्याग की आवश्यकता नहीं, इसलिये त्याग योग्य सामग्री ही है अन्य नहीं ।

सं०—अब सांनाय्य के दूषित होने में आशङ्का करते हैं :—

सांनाय्येऽपि तथेति चेत् । ७ ।

पद०—सांनाय्ये । अपि । तथा । इति । चेत् ।

पदा०—(सांनाय्ये) दधिरूप सामग्री (अपि) भी (तथा) अन्य सामग्री के समान दूषित होती है (चेत्) यदि (इति) यह आशङ्का कीजाय तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

लक्षणार्था श्रुतश्रुतिः । ८ ।

पद०—लक्षणार्था । श्रुतश्रुतिः ।

पदा०—(श्रुतश्रुतिः) सांनाय्य चरु (लक्षणार्था) अन्य द्रव्य के जाग लगाने के लिये है ।

भाष्य सांनाय्यरूप सामग्री अन्य सामग्री के समान दूषित इसलिये नहीं होती कि वह अन्य द्रव्य के संस्कारार्थ रखी गई है

अर्थात् उससे अन्य द्रव्यों का संस्कार कियाजाता है, और बात यह है कि दधि अन्य दुग्धादि द्रव्यों के समान अल्पकाल में दूषित नहीं होता, इसलिये सांनाय्य में उक्त दोष नहीं ।

सं०—अब उपांशु याग में अपनय का पूर्वपक्ष करते हैं :—

उपांशुयागेऽवचनाद्यथाप्रकृति । ९ ।

पद०—उपांशुयागे । अवचनात् । यथाप्रकृति ।

पदा०—(उपांशुयागे) उपांशु याग में (अवचनात्) अपनय का विधान न पाये जाने से (यथाप्रकृति) ज्यों की त्यों सामग्री रहती है ।

भाष्य—उपांशु याग में अपनय विषयक कोई विधि नहीं, इसलिये सामग्री यथावस्थित रहती है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अपनयो वा प्रवृत्त्या यथेतरेषाम् । १० ।

पद०—अपनयः । वा । प्रवृत्त्या । यथा । इतरेषाम् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ आया है (अपनयः) उपांशु याग में अपनय करना चाहिये, यह बात (प्रवृत्त्या) प्रवृत्ति से पाई जाती है (यथा) जैसाकि (इतरेषाम्) अन्य यज्ञों में पाया जाता है ।

भाष्य—द्रव्य की प्रवृत्ति यह सिद्ध करती है कि उपांशु याग में भी अपनय होना चाहिये, क्योंकि अन्य यज्ञों के समान उसमें भी कालापराध से द्रव्य दूषित होजाते हैं, इसलिये अपनय करना आवश्यक है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

निरुप्ते स्यात्तत्संयोगात् । ११ ।

पद०-निरुप्ते । स्यात । तत्संयोगाव ।

पदा०-(निरुप्ते) सामग्री के दूषित होजाने से (स्याव (अपनय होना चाहिये, क्योंकि (तत्संयोगाव) विकार के साथ सामग्री का सम्बन्ध है ।

भाष्य-जब कालापराध से यज्ञ सम्बन्धी सामग्री में दोष आजाय तो उसका अपनय अवश्य होना चाहिये, क्योंकि वह विकारी होजाती है और विकृत द्रव्य का यज्ञ में उपयोग नहीं, इसलिये अपनय करना ही उचित है ।

सं०-अब और युक्ति कथन करते हैं :-

प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य । १२ ।

पद०-प्रवृत्ते । वा । प्रापणाव । निमित्तस्य ।

पदा०-"वा" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (प्रवृत्ते) द्रव्य की अवस्था प्रवृत्त होने पर (निमित्तस्य) निमित्त की (प्रापणाव) प्राप्ति पाई जाती है ।

भाष्य-जब द्रव्य दूषित अवस्था में प्रवृत्त होजाता है तब अपने रूप निमित्त की स्वयं प्राप्ति होजाती है अर्थात् उस समय वाक्यान्तर की अपेक्षा अपनय नहीं होता, इससे सिद्ध है कि उक्त याग में अपनय अवश्य करना चाहिये ।

सं०-अब और युक्ति कथन करते हैं :-

लक्षणमात्रमितरत् । १३ ।

पद०-लक्षणमात्रं । इतरत् ।

पदा०-(इतरत्) निरुक्तपद (लक्षणमात्रं) प्रवृत्ति का बोधक है।

भाष्य-सामग्री विषयक जो निरुक्त कथन किया गया है वह प्रवृत्ति का बोधक है अर्थात् दूषित सामग्री की त्यागरूप जो प्रवृत्ति है उसका लखायक है।

सं०-अब उक्त अर्थ में दृष्टान्त कथन करते हैं :-

तथाचान्यार्थदर्शनम् । १४ ।

पद०-तथा । च । अन्यार्थदर्शनम् ।

पदा०-(च) और (तथा) ऐसा ही (अन्यार्थदर्शनम्) अन्य स्थानों में पायाजाता है।

सं०-अब अभ्युदय इष्टि में निर्वाप का पूर्वपक्ष कथन करते हैं :-

अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्योनिर्वपेत्याश्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपनयात् । १५ ।

पद०-अनिरुप्ते । अभ्युदिते । प्राकृतीभ्यो । निर्वपेत् । इति । आश्मरथ्यः । तण्डुलभूतेषु । अपनयात् ।

पदा०-(अभ्युदिते) अभ्युदय इष्टि जिसमें (अनिरुप्ते) निर्वाप नहीं किया गया उसमें (निर्वपेत्) निर्वाप करे (आश्मरथ्यः) आश्मरथ्य आचार्य्य (इति) यह कथन करते हैं कि (तण्डुलभूतेषु) चावलों में (अपनयात्) अपनय पाया जाता है।

भाष्य-जिस अभ्युदय इष्टि में निर्वाप नहीं किया गया अर्थात् अयोग्य सामग्री नहीं निकाली गई उसमें से अयोग्य सामग्री

निकाल देना उचित है ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

व्यूर्ध्वभागभ्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वाद्देव-तापनयस्य । १६ ।

पद०–व्यूर्ध्वभागभ्यः । तु । आलेखनः । तत्कारित्वात् । देव-तापनयस्य ।

पदा०–" तु " शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (आलेखनः) आलेखन नाम वाला आचार्य यह मानता है कि (व्यूर्ध्वभागभ्यः) ऊपर २ भाग की सामग्री निकालना चाहिये, क्योंकि (देवतापनयस्य) देवता का अपनय (तत्कारित्वात्) उसी से होता है ।

भाष्य–आलेखनाचार्य्य का यह कथन है कि सामग्री समग्र नहीं बदलना चाहिये उसका दूषित भाग निकाल डालना चाहिये क्योंकि इस निमित्त से देवता का अपनय होता है ।

सं०–अब समग्ररूप से दूषित सामग्री में निर्वाप कथन करते हैं :–

विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्गुण-त्वात् । १७ ।

पद०–विनिरुप्ते । न । मुष्टीनां । अपनयः । तद्गुणत्वात् ।

पदा०–(विनिरुप्ते) समग्ररूप से दूषित सामग्री में (मुष्टीनां) मुष्टीमात्र (अपनयः) निर्वाप करना (न) ठीक नहीं, क्योंकि

(तद्गुणत्वात्) सम्पूर्ण सामग्री ही दूषित गुणों वाली है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :-

अप्राकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानीयत्वात् ।१८।

पद०-अप्राकृतेन । हि । संयोगः । तत्स्थानीयत्वात् ।

पदा०-(हि) जिसलिये (अप्राकृतेन) अप्राकृतभाव से (संयोगः) संयोग पाया जाता है क्योंकि (तत्स्थानीयत्वात्) वह सामग्री तत् स्थानीय है ।

भाष्य-सम्पूर्ण सामग्री का निर्वाप इसलिये कथन किया गया है कि दूषित सामग्री के साथ सम्बन्ध रखने से अदूषित सामग्री भी दोषभाव को प्राप्त है, इसलिये सम्पूर्ण का ही निर्वाप करना चाहिये ।

सं०-अब और युक्ति कथन करते हैं:-

अभावाच्चेतरस्य स्यात । १९ ।

पद०-अभावात् । च । इतरस्य । स्यात् ।

पदा०-(च) और (इतरस्य) शुद्ध सामग्री के (अभावात् अभाव होने से (स्यात्) निर्वाप करना उचित है ।

भाष्य-जब शुद्ध सामग्री का सर्वथा अभाव है तो बिना निर्वाप के अन्य कोई उपाय नहीं पायाजाता, इसलिये निर्वाप अवश्य करना चाहिये ।

सं०-अब सांनाय्य में निर्वाप कथन करते हैं :-

सांनाय्यसंयोगात् संनयतः स्यात् । २० ।

पद०—सांनाय्यसंयोगात् । संनयतः । स्यात् ।

पदा०—(सांनाय्यसंयोगात्) दूध और दधि के संयोग से यदि विकार उत्पन्न होगया हो तो (संनयतः) सांनाय्य कर्म करने वाले का भी (स्यात्) अपनय करना चाहिये ।

भाष्य—दूध और दधि के मिलाप में बहुधा विकार भी उत्पन्न होजाते हैं इसलिये ऐसे कर्म में भी निर्वाप अवश्य होना चाहिये ।

सं०—अब दोनों अवस्थाओं में निर्वाप कथन करते हैं:—

औषधसंयोगाद्वोभयोः । २१ ।

पद०—औषधसंयोगात् । वा । उभयोः ।

पदा०—"वा" शब्द पक्षान्तर के लिये आया है (औषधसंयोगात्) यदि किसी औषधविशेष का सामग्री से संयोग होगया हो तो (उभयोः) दोनों अवस्थाओं में निर्वाप होना उचित है ।

भाष्य—जब सामग्री में कोई औषधविशेष मिली हुई हो तो विकार रहित सामग्री का भी निर्वाप करना उचित है क्योंकि औषधविशेष से ऋत्विकादि को हानि पहुंचना सम्भव है, इसलिये निर्वाप का होना आवश्यक है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

वैगुण्यान्नेति चेत् । २२ ।

पद०—वैगुण्यात् । न । इति । चेत् ।

पदा०—(वैगुण्यात्) औषधविशेष को निकाल देने से उक्त सामग्री विगुण होजायगी (चेत्) यदि (इति) यह कथन किया जाय तो (न) ठीक नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

नातत्संस्कारत्वात् । २३ ।

पद०-न । अतत्संस्कारत्वात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (अतत्संस्कारत्वात्) औषधविशेष से सामग्री का संस्कार नहीं होता ।

भाष्य-उक्त सूत्रों का तात्पर्य्य यह है कि यज्ञ की सामग्री में कोई औषधविशेष अथवा कोई दूषित द्रव्य मिला हुआ न हो शुद्ध होनी चाहिये, क्योंकि यदि शुद्ध न हो तो याज्ञिक लोगों को कई प्रकार की हानि होना सम्भव है इसलिये सूत्रकार ने निर्वाप विषय को विशेष रीति से वर्णन किया है, निकाल देने का नाम "निर्वाप" है, पौराणिक टीकाकार यज्ञ के देवता का भी निर्वाप कथन करते हैं अस्तु, उनके मत में देवता का निर्वाप=अपनय होना सम्भव हैं क्योंकि वह यज्ञ के देवताओं को भिन्न २ और जड़ भी मानते हैं इसलिये ऐसा होना सम्भव है, वैदिक पथ में यज्ञ का देवता मुख्य एक ईश्वर है ओर देवता उपचार से कथन कियेगये हैं, इसलिये उसका अपनय होना असम्भव है ।

सं०-अब सत्र के लिये प्रवृत्त को विश्वजित् का अधिकार कथन करते हैं:-

साम्युत्थाने विश्वजित्क्रीते विभागसंयोगात् । २४ ।

पद०-सामि । उत्थाने । विश्वजित् । क्रीते । विभागसंयोगात् ।

पदा०–(सामि) समाप्ति करने से विना (उत्थाने) उठ खड़े होने से (विश्वजित्) विश्वजित् याग करना चाहिये, क्योंकि (क्रीते) मूल्य लिये हुए सोम के साथ (विभागसंयोगात्) विभाग रूपी संयोग पायाजाता है।

भाष्य–सत्र के लिये दीक्षित किया हुआ पुरुष यदि यज्ञ की समाप्ति से प्रथम ही उठ खड़ा हो तो उसको विश्वजित् याग करना चाहिये, क्योंकि उसने जो सोम मूल्य लिया है उसका उपयोग किसी यज्ञ में करना आवश्यक है।

सार यह है कि यदि सत्र न होसके तो उस सामग्री से विश्वजित् करे।

सं०–अब उक्त अर्थ की सिद्धि में और हेतु कथन करते हैं:–

प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य। २९।

पद०–प्रवृत्ते। वा। प्रापणात्। निमित्तस्य।

पदा०–"वा" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (प्रवृत्ते) सत्र के प्रवृत्त होने पर (निमित्तस्य) निमित्त की (प्रापणात्) प्राप्ति पाई जाती है।

भाष्य–सत्र के प्रवृत्त होने पर ही विश्वजित् का निमित्त पायाजाता है क्योंकि सत्र का समाप्त न होना विश्वजित् का निमित्त है अर्थात् विश्वजित् अल्प साधनों से ही होसकता है उसके लिये सत्र के समान साधनों की आवश्यकता नहीं।

सं०–ननु, "सोमं विभज्य यजेरन्"=सोम का विभाग

करके याग करे, इससे पायाजाता है कि केवल सोम से ही उक्त याग होता है अन्य सामग्री से नहीं ? उत्तरः-

आदेशार्थेतराश्रुतिः । २६ ।

पद०-आदेशार्थः । इतरा । श्रुतिः ।

पदा०-(इतरा) सोम का विभाग करने वाला (श्रुतिः) कथन (आदेशार्थः) आदेश के लिये है ।

भाष्य-यद्यपि सोम का विभाग कथन किया है अन्य सामग्री का नहीं तथापि उक्त कथन सम्पूर्ण द्रव्य विभाग के लिये है केवल सोम के लिये नहीं, इसलिये कोई दोष नहीं ।

सं०-अब ज्योतिष्टोम याग में दीक्षित होने वालों के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् । २७ ।

पद०-दीक्षापरिमाणे । यथाकामि । अविशेषात् ।

पदा०-(दीक्षापरिमाणे) दीक्षा के परिमाण में (यथाकामि) दीक्षा पाने वाला पुरुष स्वेच्छानुसार दीक्षा में काल लगावे, क्योंकि (अविशेषात्) काल विषय में कोई विशेषता कथन नहीं कीगई ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

द्वादशाहस्तु लिङ्गात्स्यात् । २८ ।

पद०-द्वादशाहः । तु । लिङ्गात् । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ आया है (द्वादशाहः) दीक्षा पाने वाले पुरुष को द्वादश दिन का नियम पालन करना चाहिये, क्योंकि (लिङ्गात्) दीक्षाबोधक लिङ्ग से (स्यात्) ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-दीक्षा पाने वाल पुरुष को उचित है कि १२ दिन का व्रत करे अर्थात् १२ दिन तक शम दमादि साधनों से सम्पन्न होकर दीक्षा प्राप्त करे जैसाकि यज्ञ में ऋत्विजों का कौन २ कर्म है, किस प्रकार अग्न्याधान करना चाहिये, किस प्रकार सोमादि रसों का उपयोग करना चाहिये. इस सम्पूर्ण विधि को दीक्षितपुरुष भले प्रकार सीखे।

सं०-अब "गवामयन" नामक सत्र में यजमानों की दीक्षा का काल नियत करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् । २९ ।

पद०-पौर्णमास्याम् । अनियमः । अविशेषात् ।

पदा०-(पौर्णमास्याम्) "पुरस्तात्पौर्णमास्याः" इस वाक्य में (अनियमः) किसी विशेष पौर्णमासी के ग्रहण का नियम नहीं, क्योंकि (अविशेषात्) उक्त वाक्य में समानरूप से पौर्णमासी का नियम है।

भाष्य-"गवामयन" सत्र के प्रकरण में "पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन्"=पौर्णमासी से चार दिन प्रथम

एकादशी के दिन यजमानों की दीक्षा होनी चाहिये, यह वाक्य पढ़ा है उक्त वाक्य में जो पौर्णमासी कथन की है वह माघ की पौर्णमासी है किंवा चैत्र की अथवा कोई एक ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष सिद्धान्ती और शेष दोनों पक्ष पूर्वपक्षी के हैं, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में निर्विशेष पौर्णमासी पद पढ़ा है जिससे प्रत्येक पौर्णमासी का ग्रहण होसकता है, यदि उक्त वाक्य में पौर्णमासी पद के साथ माघादि विशेषणों का उपादान होता तो अवश्य किसी विशेष पौर्णमासी का ग्रहण किया जाता परन्तु केवल पौर्णमासी पद से विशेष पौर्णमासी अर्थ का लाभ नहीं होसकता और जिससे जिसका लाभ नहीं होसकता उसकी कल्पना करना व्यर्थ है, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य में जो पौर्णमासी कथन की है वह किसी विशेष पौर्णमासी के अभिप्राय से नहीं की किन्तु पौर्णमासी मात्र के अभिप्राय से की है अतएव किसी एक पौर्णमासी के चार दिन प्रथम "गवामयन" सत्र में यजमानों की दीक्षा होनी चाहिये ।

सं०—अब उक्त अर्थ में दूसरा पूर्वपक्ष करते हैं :—

आनन्तर्य्यात् तु चैत्री स्यात् ॥ ३० ॥

पद०—आनन्तर्य्यात् । तु । चैत्री । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द प्रथम पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (चैत्री) उक्त वाक्य में पौर्णमासी पद से चैत्र की पौर्णमासी का ग्रहण (स्यात्) है, क्योंकि (आनन्तर्य्यात्) वाक्यशेष में चैत्र की पूर्णमासी का स्पष्ट रूप से कथन पायाजाता है ।

भाष्य–"ऋतुमुखं वा एषा पौर्णमासी संवत्सरस्य या चैत्री पौर्णमासी"=वर्षभर की ऋतुओं का मुख चैत्र की पूर्णमासी है, यह वाक्यशेष उक्त वाक्य से अनन्तर पढ़ा है, यदि उक्त वाक्य में पौर्णमासी पद से पौर्णमासी मात्र का ग्रहण अभिप्रेत होता तो उक्त वाक्यशेष में चैत्र की पौर्णमासी का ऋतुओं के मुखरूप से स्तवन न किया जाता, स्तवन करने से स्पष्ट है कि उक्त वाक्य में पौर्णमासी पद से चैत्री पौर्णमासी का ही ग्रहण है पौर्णमासीमात्र का नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:–

माघीवैकाष्टकाश्रुतेः । ३१ ।

पद०–माघी । वा । एकाष्टकाश्रुतेः ।

पदा०–"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (माघी) उक्त वाक्य में पौर्णमासी पद से माघ की पौर्णमासी का ग्रहण है, क्योंकि (एकाष्टकाश्रुतेः) माघी से आगे आनेवाली अष्टमी का श्रवण पायाजाता है।

भाष्य–"तेषामेकाष्टकायां क्रयः संपद्यते"=पौर्णमासी से चार दिन प्रथम दीक्षा होने के पश्चात् सोम का क्रय होना चाहिये, इस वाक्य में एकाष्टका नामक अष्टमी में सोम का क्रय विधान किया है और याज्ञिकों की परिभाषा में माघकृष्णाष्टमी का नाम "एकाष्टका" है, यदि उक्त वाक्य में पौर्णमासी पद से चैत्र की पौर्णमासी का ग्रहण किया जाय तो माघकृष्णाष्टमी में

सोम क्रय का विधान सर्वथा असंगत होजाता है, क्योंकि गवामयन सत्र में सम्पूर्ण बारह दीक्षा होती हैं जो माघशुक्लएकादशी से माघकृष्णसप्तमी पर्य्यन्त समाप्त होजाती हैं और उनके समाप्त होने से अष्टमी के दिन सोम का क्रय बनसक्ता है, और जो वाक्यशेष में चैत्र की पौर्णमासी की प्रशंसा कीगई है वह पूर्वभावी माघ की पौर्णमासी के लिये कीगई है अपने लिये नहीं, क्योंकि वसन्तऋतु का आरम्भ माघ की पौर्णमासी से होता है चैत्र की पौर्णमासी से नहीं, और यह बात सर्वसम्मत है कि वसन्तऋतु सब ऋतुओं में मुख्य है उसका आरम्भ जिस पौर्णमासी से होता है वही उसका मुख होसक्ती है अन्य नहीं, और उक्त ऋतु का आरम्भ माघ की पौर्णमासी से होता है और चैत्र की पौर्णमासी की समाप्ति होजाती है, इसलिये उक्त वाक्यशेष में जो चैत्र की पौर्णमासी को ऋतुओं का मुख कथन किया है वह उपचार से किया है, अतएव उक्त विषयवाक्य में पौर्णमासी पद से उक्त वाक्यशेष के अनुसार चैत्र की पौर्णमासी का ग्रहण ठीक नहीं किन्तु माघ की पौर्णमासी का ग्रहण ठीक है।

सार यह है कि "गवामयन" नामक सत्र में माघ की पौर्णमासी से चार दिन प्रथम एकादशी के दिन दीक्षा का आरम्भ करके माघकृष्णसप्तमी पर्य्यन्त समाप्ति होकर अष्टमी के दिन सोम का क्रय होना चाहिये।

सं०—अब उक्त सिद्धान्त में पूर्वपक्ष करते हैं :—

अन्याअपीति चेत्। ३२।

पद०—अन्या । अपि । इति । चेत् ।

पदा०—(अन्या) और (अपि) भी कृष्णाष्टमियें एकाष्टक पद का वाच्य हैं (चेत्) यदि (इति) यह आशंका कीजाय तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का परिहार करते हैं :—

न भक्तित्वादेषां हि लोके । ३३ ।

पद०—न । भक्तित्वात् । एषां । हि । लोके ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (भक्तित्वात्) लक्षणा से (लोके) लोक में (एषां) इन अष्टमियों का एकाष्टका पद से (हि) निश्चय करके व्यवहार होता है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :—

दीक्षापराधे चानुग्रहात् । ३४ ।

पद०—दीक्षापराधे । च । अनुग्रहात् ।

पदा०—(च) और (दीक्षापराधे) दीक्षा के अपराध में (अनुग्रहात्) ग्रहण से माघीअष्टमी ही पाई जाती है ।

भाष्य—"एषा वै संवत्सरस्य पत्नि"=यह इस संवत्सर की पत्नि है, इस प्रकार एक वचन पाये जाने से स्पष्ट है कि माघी अष्टमी को एकाष्टका पद कथन करता है अन्य अष्टमियों को नहीं, यदि अन्य अष्टमियों से तात्पर्य्य होता तो एकवचन कदापि न दियाजाता, एकवचन देने से सिद्ध है कि एकाष्टका पद माघी अष्टमी को कथन करता है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:-

उत्थानेचानुप्ररोहात् । ३५ ।

पद०-उत्थाने । च । अनुप्ररोहात् ।

पदा०-(च) और (उत्थाने) एकाष्टका को प्राप्त होने पर ही (अनुप्ररोहात्) अंकुर पत्ते आदि निकलते हैं ।

भाष्य-जिस अष्टमी के आने पर नूतन पत्ते और पुष्पादिकों का प्रारम्भ होता है उस अष्टमी का यहां पर ग्रहण है, इससे सिद्ध है कि वसंत के समीप जो अष्टमी आती है उसी में नूतन पत्ते आदिकों का प्रारम्भ होता है इसलिये माघी अष्टमी का ग्रहण ही आवश्यक है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

अस्यां च सर्वलिङ्गानि । ३६ ।

पद०-अस्यां । च । सर्वलिङ्गानि ।

पदा०-(च) और (अस्यां) इसी अष्टमी में (सर्वलिङ्गानि) सब हेतु पाये जाते हैं ।

सं०-अब दीक्षित पुरुष के लिये अग्निहोत्रादि कर्मों के करने में पूर्वपक्ष करते हैं:-

दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात् । ३७ ।

पद०-दीक्षाकालस्य । शिष्टत्वात् । अतिक्रमे । नियतानां । अनुत्कर्षः । प्राप्तकालत्वात् ।

पदा०-(दीक्षाकालस्य) दीक्षाकाल के (शिष्टत्वात्) कथन किये जाने से (नियतानां) नियत कर्मों के (अतिक्रमे) अतिक्रमण में (अनुत्कर्षः) उत्कर्ष नहीं होता, क्योंकि (प्राप्तकालत्वात्) उक्त कर्मों का काल प्राप्त है ।

भाष्य-यह सुना गया है कि दीक्षित पुरुष "नददाति"=न देता है, "नपचति"=न पकाता है, "नजुहोति"=न यज्ञ करता है, इससे पायाजाता है कि उक्त पुरुष के लिये अग्निहोत्रादि कर्म कर्तव्य नहीं अर्थात् दीक्षित पुरुष के लिये अग्निहोत्रादि कर्मों का उत्कर्ष है, इसका निरास सूत्रकार ने इस प्रकार किया है कि दीक्षित पुरुष सुशिक्षित किया जाता है इसलिये उसको नियतकर्म अवश्य करने चाहियें क्योंकि उसके लिये उक्त कर्मों का काल प्राप्त है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

उत्कर्षोवादीक्षितत्वादविशिष्टंहिकारणम् ३८

पद०-उत्कर्षः । वा । दीक्षितत्वात् । अविशिष्टं । हि । कारणम् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (उत्कर्षः) यज्ञादि कर्मों का दीक्षित के लिये उत्कर्ष है, क्योंकि (दीक्षितत्वात्) दीक्षित होने से (अविशिष्टं) वह (हि) निश्चय करके (कारणं) कारण है ।

भाष्य-दीक्षित पुरुष दीक्षाकाल में कोई कर्म न करे, क्योंकि वह एक ऐसे काम के लिये दीक्षित किया गया है जो उसके लिये मुख्य है, उसको छोड़कर अन्य नियत कर्म आवश्यक नहीं ।

सं०-अब दीक्षित पुरुष के लिये प्रतिहोम का निषेध करते हैं:-

तत्रप्रतिहोमोनविद्यतेयथापूर्वेषाम् । ३९ ।

पद०-तत्र । प्रतिहोमः । न । विद्यते । यथा । पूर्वेषाम् ।

पदा०-(तत्र) दीक्षितावस्था में (प्रतिहोमः) प्रतिहोम (न, विद्यते) नहीं पायाजाता (यथा) जैसे (पूर्वेषाम्) पूर्व लोगों के लिये पायाजाता है ।

भाष्य-जैसे प्रवर्ग्यादि इष्टि सम्बन्धियों के लिये प्रतिहोम विधान किया है वैसा अग्निष्टोम में दीक्षित पुरुष के लिये नहीं ।

सं०-अब उक्त विषय में युक्ति कथन करते हैं :-

कालप्राधान्याच्च । ४० ।

पद०-कालप्राधान्यात् । च ।

पदा०-(च) और (कालप्राधान्यात्) काल की प्रधानता पाये जाने से भी ऐसा ही प्रतीत होता है ।

भाष्य-दीक्षावस्था में होम का विधान नहीं इसलिये एवं विध काल की प्रधानता पाये जाने से दीक्षित के लिये प्रतिहोम की विधि नहीं ।

सं०-अब अवभृथ इष्टि के अनन्तर उदवसनीय इष्टि करने वाले के लिये प्रतिहोम का अभाव कथन करते हैं :-

प्रतिषिद्धश्चोर्ध्वमवभृथादिष्टेः । ४१ ।

पद०-प्रतिषिद्धः । च । ऊर्ध्वं । अवभृथात् । इष्टेः ।

पदा०-(च) और (अवभृथात्) अवभृथ (इष्टेः) इष्टि से (ऊर्ध्वं) अनन्तर (प्रतिषिद्धः) प्रतिहोम का निषेध है।

भाष्य-जिस इष्टि में यजमान लोग "वरुणस्यपाशः" इस मंत्र से तीन २ समिधा आहवनीय अग्नि में प्रक्षेप करते हैं उसका नाम "अवभृथ" इष्टि है और "तेजोसि स्वाहा" "तेजोमयिधेयी स्वाहा" इत्यादि वाक्यों से हवन करते हैं, उक्त इष्टि से अनन्तर इष्टि करने वाले के लिये प्रतिहोम का विधान नहीं।

सं०-अब प्रतिहोम का काल नियत करते हैं:-

प्रतिहोमश्चेत् सायमग्निहोत्र प्रभृतीनि हूयेरन्।४२।

पद०-प्रतिहोमः। चेत्। सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि। हूयेरन्।

पदा०-(चेत्) यदि होम के लोप होने पर (प्रतिहोमः) प्रतिहोम कियाजाय तो (सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि) सायंकाल से लेकर अग्निहोत्रादिकर्म (हूयेरन्) करें।

सं०-अब "षोड़शी" इष्टि में प्रातःकाल प्रतिहोम कथन करते हैं:-

प्रातस्तु षोड़शिनि।४३।

पद०-प्रातः। तु। षोड़शिनि।

पदा०-"तु" शब्द पक्षान्तर के लिये आया है (षोड़शिनि) षोड़शी इष्टि में (प्रातः) प्रातःकाल प्रतिहोम करे।

सं०-अब भेदन निमित्तक प्रायश्चित्त में पूर्वपक्ष करते हैं :-

प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामान्यात् । ४४ ।

पद०-प्रायश्चित्तं । अधिकारे । सर्वत्र । दोषसामान्यात् ।

पदा०-(अधिकारे) प्रकरण में (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त करना चाहिये, क्योंकि (सर्वत्र) सब स्थानों में (दोषसामान्यात्) दोषों की समानता पाई जाती है ।

भाष्य-साधनों के छिन्न भिन्न होने पर सब इष्टियों में प्रायश्चित्त होना चाहिये, क्योंकि भेदन निमित्तक दोष सर्वत्र समान हैं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् । ४५ ।

पद०-प्रकरणे । वा । शब्दहेतुत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (प्रकरणे) प्रायश्चित्त के प्रकरण में ही प्रायश्चित्त होना चाहिये क्योंकि (शब्दहेतुत्वात्) प्रायश्चित्त का विधायक शब्द ही प्रायश्चित्त में हेतु है ।

सं०-अब उक्त विषय में और युक्ति कथन करते हैं :-

अतद्विकाराच्च । ४६ ।

पद०-अतद्विकारात् । च ।

पदा०-(च) और (अतद्विकारात्) सब इष्टियों में भेदन निमित्तक विकार न पाये जाने से।

भाष्य-सब इष्टियों में भेदन निमित्तक विकार समान नहीं होता इसलिये भेदन निमित्तक प्रायश्चित्त का सर्वत्र विधान नहीं।

सं०-अब आर्य्यों के लिये अभक्ष्य पदार्थों का वर्णन करते हैं:-

व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्य्याणां तत् प्रतीयेत । ४७ ।

पद०-व्यापन्नस्य । अप्सु । गतौ । यत् । अभोज्यं । आर्य्याणां । तत् । प्रतीयेत ।

पदा०-(व्यापन्नस्य) व्यापन्न पदार्थ की (अप्सु) जलों में (गतौ) गति पाये जाने से (आर्य्याणां) आर्य्यों का (यत्, अभोज्यं) जो अभोज्य है (तत्) वह (प्रतीयेत) प्रतीत होजाता है।

भाष्य-शास्त्र में यह कथन किया है कि व्यापन्न पदार्थ को जल में फेंकदे, भक्ष्यानर्ह वस्तु का नाम "व्यापन्न" है, इससे पाया जाता है कि आर्य्यों के लिये सब पदार्थ भक्ष्य न थे अर्थात् मलादिकों से दूषित, वासे और मांसादि पदार्थ आर्य्यों के लिये सर्वथा अभोज्य हैं इनका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये, इसी अभिप्राय से इस सूत्र में आर्य्यों के अभोज्य पदार्थों का कथन किया गया है।

सं०-अब ज्योतिष्टोम याग में उद्गाता और प्रतिहर्त्ता दोनों का एककाल में अपच्छेद होने पर प्रायश्चित्त कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते । ४८ ।

पद०-विभागश्रुतेः । प्रायश्चित्तं । यौगपद्ये । न । विद्यते ।

पदा०-(यौगपद्ये) उद्गाता और प्रतिहर्त्ता दोनों का एककाल में अपछेद होने पर (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त (न, विद्यते) नहीं होता, क्योंकि (विभागश्रुतेः) वह एक २ का अपछेद होने पर विधान किया गया है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में तीन सवन होते हैं प्रातःसवन, मध्यन्दिनसवन और सायंसवन, प्रातःसवन में सब ऋत्विज बहिष्पवमान नामक स्तोत्र का पाठ करते हुए पंक्ति बांधकर यज्ञशाला से बाहर निकलते हैं और उस पंक्ति में प्रत्येक ऋत्विक् अपने आगे के ऋत्विक् की धोती का कच्छा पकड़कर चलते हैं, उनमें से यदि कोई प्रमादवश कच्छा छोड़दे तो उसका प्रायश्चित्त इसप्रकार लिखा है कि "यद्युद्गाताऽपच्छिद्येतादक्षिणो यज्ञःसंस्थाप्यः अथान्य आहृत्यस्तत्रतद्दद्यात्, यत्पूर्वस्मिन्दास्यन्स्यात्, यदि प्रतिहर्ताऽपछिद्येत, सर्वस्वं दद्यात्" = यदि प्रमाद से उद्गाता कच्छ को छोड़दे तो प्रारम्भ किये हुए यज्ञ को बिना दक्षिणा के समाप्त करके पुनः यज्ञ का आरम्भ करे और उसमें वह दक्षिणा दे जो प्रथम संकल्प कीगई थी, यदि प्रतिहर्त्ता कच्छ को छोड़दे तो सर्वस्व दक्षिणा देकर याग को समाप्त करे, धोती की लांग का नाम "कच्छ" और उसके छोड़ने का नाम

"अपच्छेद" है, यदि दैववश उद्गाता और प्रतिहर्त्ता दोनों एकही काल में कच्छ को छोड़दें तो उक्त दोनों प्रायश्चित्तों में से कोई एक होना चाहिये किंवा न होना चाहिये ? यह इस अधिकरण में विचारणीय है, प्रायश्चित्त होना चाहिये यह पक्ष सिद्धान्ती का और न होना चाहिये यह पक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि प्रायश्चित्त के विधायक उक्त वाक्य में एक २ के अपच्छेद होने पर प्रायश्चित्त कथन किया है दोनों के अपच्छेद होने पर नहीं, यदि दोनों के अपच्छेद होने पर प्रायश्चित्त का विधान होता तो अवश्य उसका अनुष्ठान कियाजाता परन्तु ऐसा विधान नहीं, इसलिये दोनों के अपछेद होने पर प्रायश्चित्त नहीं होना चाहिये।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम्।४९

पद०-स्यात्। वा। प्राप्तनिमित्तत्वात्। कालमात्रम्। एकम्।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (स्यात्) प्रायश्चित्त होना चाहिये, क्योंकि (प्राप्तनिमित्तत्वात्) उसका अपच्छेदनरूप निमित्त विद्यमान है केवल (कालमात्रम्) काल ही (एकम्) एक है।

भाष्य-उक्त वाक्य में प्रायश्चित्त का निमित्त अपछेद कथन किया है काल नहीं, यदि काल कथन किया होता तो उद्गाता तथा प्रतिहर्त्ता दोनों का एक काल में अपछेद होने पर प्रायश्चित्त न होता परन्तु उक्त वाक्य में केवल अपछेद ही प्रायश्चित्त का निमित्त कथन किया है और वह निमित्त जैसे भिन्न २ काल में उद्गाता

तथा प्रतिहर्त्ता का अपच्छेद होने में विद्यमान है वैसेही एककाल में अपच्छेद होने में भी विद्यमान है और निमित्त के होने पर नैमित्तिक का होना आवश्यक है, निमित्त, अपच्छेद और प्रायश्चित्त नैमित्तिक हैं इससे सिद्ध हुआ कि उक्त दोनों का एक काल में अपच्छेद होने पर भी प्रायश्चित्त होना चाहिये ।

सं०-अब उक्त अपच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्त कथन करते हैं :-

तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात् । ५० ।

पद०-तत्र । विप्रतिषेधात् । विकल्पः । स्यात् ।

पदा०-(तत्र) दोनों का एककाल में अपच्छेद होने पर (विकल्पः) दोनों प्रायश्चित्तों में से कोई एक प्रायश्चित्त (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (विप्रतिषेधात्) परस्पर विरोध होने के कारण दोनों नहीं होसक्ते ।

भाष्य-उद्गाता के अपच्छेद का प्रायश्चित्त बिना दक्षिणा के याग का समाप्त करना और प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद का प्रायश्चित्त सर्वस्व दक्षिणा से याग का समाप्त करना विधान किया है, यह दोनों प्रायश्चित्त परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव निमित्त के प्राप्त होने पर भी दोनों का इकट्ठा अनुष्ठान नहीं होसक्ता परन्तु निमित्त के विद्यमान होने पर प्रायश्चित्त का होना आवश्यक है इसलिये उक्त दोनों ऋत्विजों का एक काल में अपच्छेद होने पर दोनों में से कोई एक प्रायश्चित्त होना चाहिये ।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :-

प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात् । ५१ ।

पद०–प्रयोगान्तरे । वा । उभयानुग्रहः । स्यात् ।

पाद०–"वा" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (प्रयोगान्तरे) एक याग में दोनों का अनुष्ठान न होसकने पर भी भिन्न २ याग में (उभयानुग्रहः) दोनों का अनुष्ठान (स्यात्) होसक्ता है ।

भाष्य–यद्यपि दोनों प्रायश्चित्तों का परस्पर विरोध होने के कारण एक याग में इकट्ठा अनुष्ठान नहीं होसक्ता तथापि दो यागों में होसक्ता है और ऐसा होना भी उचित है, क्योंकि जब दोनों प्रायश्चित्तों के निमित्त विद्यमान हैं तो एक को छोड़कर एक का अनुष्ठान ठीक नहीं, इसलिये दोनों का ही अनुष्ठान होना उचित है ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं

न चैकसंयोगात् ॥ ५२ ॥

पद०–न । च । एकसंयोगात् ।

पदा०–(न, च) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (एक-संयोगात्) उक्त प्रायश्चित्तों का एक याग के साथ सम्बन्ध है ।

भाष्य–दोनों प्रायश्चित्तों का याग भेद से तब अनुष्ठान होसक्ता था जबकि उनका एक याग के साथ सम्बन्ध कथन न किया जाता परन्तु प्रायश्चित्त वाक्य में एक याग के साथ दोनों का सम्बन्ध कथन किया है और यह विकल्प = दोनों में से किसी एक का अनुष्ठान माने विना संगत नहीं होसकता, इसलिये प्राय-श्चित्त का विकल्प ही ठीक है याग भेद से समुच्चय ठीक नहीं ।

सं०—अब दोनों ऋत्विजों का क्रम से अपछेद होने पर सर्वस्व दक्षिणा रूप प्रायश्चित्त कथन करते हैं :—

पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् ॥ ५३ ॥

पद०—पौर्वापर्ये । पूर्वदौर्बल्यं । प्रकृतिवत् ।

पदा०—(प्रकृतिवत्) जैसे प्रकृति में विधान किया पदार्थ विकृति में विधान किये पदार्थ से निर्बल है वैसे ही (पौर्वापर्ये) क्रम से अपछेद होने पर प्राप्त हुए दोनों प्रायश्चित्तों के मध्य (पूर्वदौर्बल्यं) अदक्षिणारूप प्रथम प्रायश्चित्त सर्वस्व दक्षिणारूप प्रायश्चित्त की अपेक्षा निर्बल है ।

भाष्य—यदि उद्गाता और प्रतिहर्त्ता दोनों ऋत्विजों का प्रातःसवन में ही क्रम से अपछेद हो तो अदक्षिणा रूप तथा सर्वस्व दक्षिणारूप दोनों प्रायश्चित्तों के मध्य कौन प्रायश्चित्त होना चाहिये ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि जैसे प्रकृति तथा विकृति दोनों यागों में विधान किये दो समान पदार्थों के मध्य पूर्वविहित होने के कारण प्रकृति विहित निर्बल और विकृतिविहित प्रबल है वैसे ही अदक्षिणारूप तथा सर्वस्व दक्षिणारूप प्रायश्चित्तों के मध्य पूर्वविहित होने के कारण अदक्षिणारूप प्रायश्चित्त निर्बल और सर्वस्व दक्षिणारूप प्रबल है, निर्बल तथा प्रबल दोनों का सन्निधान होने पर प्रबल ही आदरणीय है निर्बल नहीं, इसीलिये दोनों का क्रम से अपच्छेद होने पर भी सर्वस्व दक्षिणारूप प्रायश्चित्त ही होना चाहिये अदक्षिणारूप नहीं ।

स०—अब प्रतिहर्त्ता के पश्चात् भी उद्गाता का अपच्छेद होने पर सर्वस्व दक्षिणा रूप प्रायश्चित्त कथन करते हैं :—

यद्युद्गाता जघन्यः स्यात् पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्यात् यथेतरस्मिन् ॥ ५४ ॥

पद०—यदि । उद्गाता । जघन्यः । स्यात् । पुनः । यज्ञे । सर्ववेदसं । दद्यात् । यथा । इतरस्मिन् ।

पदा०—(यदि) यदि (उद्गाता) उद्गाता का (जघन्यः) प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद से पूर्व अपच्छेद (स्यात्) हो तो (यथा) जैसे (इतरस्मिन्) भिन्न २ काल में अपच्छेद होने पर पुनर्याग में सर्वस्व दक्षिणा दीजाती है वैसे ही (पुनः, यज्ञे) पुनर्यज्ञ में (सर्ववेदसं) सर्वस्वदक्षिणा (दद्यात्) देनी चाहिये ।

भाष्य—प्रायश्चित्त विधायक वाक्य में यह कथन किया है कि यदि उद्गाता का अपच्छेद हो तो प्रथम यज्ञ बिना दक्षिणा के समाप्त करके दूसरा यज्ञ करे और उसमें वह दक्षिणा दे जो प्रथम संकल्प कीगई है वह दक्षिणा बारह सौ गौ हैं, और प्रतिहर्त्ता का अपच्छेद होनेपर सर्वस्व दक्षिणा देकर याग की समाप्ति रूप प्रायश्चित्त कथन किया है, उक्त प्रायश्चित्त विधायक वाक्य में उद्गाता का अपच्छेद प्रथम और प्रतिहर्त्ता का पीछे होने पर उक्त प्रायश्चित्त का विधान है और दोनों का क्रम से अपच्छेद होने पर सर्वस्व दक्षिणारूप प्रायश्चित्त पिछले अधिकरण में निश्चित किया है, अब यह सन्देह है कि यदि प्रतिहर्त्ता का प्रथम और उद्गाता का पश्चात् अपच्छेद हो तो प्रथम यज्ञ बिना दक्षिणा के समाप्त करके दूसरे यज्ञ की बारहसौ गौ दक्षिणा है अथवा सर्वस्व दक्षिणा है ? यह सन्देह

है, इस सन्देह की निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि बारहसौ गौ की दक्षिणा भिन्न २ सवन में अपछेद होने पर विधान की है एक सवन में क्रम से अपछेद होने पर नहीं, और क्रम से अपछेद होने में सर्वस्व दक्षिणा पूर्वविहित होने से प्रथम उपस्थित है, उपस्थित तथा अनुपस्थित दोनों के मध्य उपस्थित का ग्रहण ही उचित है, इसलिये सिद्ध है कि प्रतिहर्त्ता के पीछे उद्गाता का अपछेद होने पर भी प्रथम यज्ञ विना दक्षिणा के समाप्त करके दूसरे यज्ञ में बारहसौ गौ दक्षिणा नहीं देनी चाहिये किन्तु सर्वस्व दक्षिणा देनी चाहिये।

सं०—अब द्वादशाह आदि अहर्गण नामक यागों में उद्गाता का अपछेद होने पर यज्ञ की पुनरावृत्तिरूप प्रायश्चित्त कथन करते हैं :—

अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्त्तेत कर्मपृथक्त्वात् ॥ ५५ ॥

पद०—अहर्गणे। यस्मिन्। अपच्छेदः। तत्। आवर्त्तेत। कर्मप्रथक्त्वात्।

पदा०—(अहर्गणे) द्वादशाह आदि अहर्गण यागों के मध्य (यस्मिन्) जिस याग में (अपच्छेदः) उद्गाता का अपछेद हो (तत्) उसी की (आवर्तेत) आवृत्ति करे, क्योंकि (कर्मपृथक्त्वात्) एक २ दिन में होनेवाला वह यज्ञरूप कर्म भिन्न २ है।

भाष्य—एक २ दिन में होने वाले यागों का नाम "अहर्गण" है, और वह द्वादशाह आदि भेद से अनेक प्रकार

का है, बारह दिन में होने वाले बारह यागों को "द्वादशाह" कहते हैं, उनके मध्य किसी एक दिन में यदि उद्गाता का अपच्छेद हो तो उस दिन में होने वाले कर्म मात्र की पुनरावृत्ति होनी चाहिये किंवा द्वादशाह आदि अहर्गण की? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि द्वादशाह आदि नाम किसी एक कर्म का नहीं किन्तु एक २ दिन में होने वाले कर्मों के समूह का नाम है यदि एक ही कर्म के नाम होते तो उद्गाता के अपछेद होने पर सबकी पुनरावृत्ति होती भिन्न २ कर्म होने से सबकी पुनरावृत्ति मानना ठीक नहीं, और पुनरावृत्ति का निमित्त अपच्छेद भी एक है उसके बल से भी सब यागों की आवृत्ति मानना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि अहर्गण यागों में जिस दिन उद्गाता का अपच्छेद हो उसी दिन में होने वाले कर्म की आवृत्ति होनी चाहिये सब दिन में होने वाले सब कर्मों की नहीं ॥

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
षष्ठाध्याये पञ्चमः
पादः

ओ३म्

। अथ षष्ठाध्याये षष्ठःपादः प्रारभ्यते ।

सङ्गति-अब सत्र में समान गोत्र वाले यजमानों ही का अधिकार कथन करते हैं :-

सन्निपातेऽवैगुण्यात्प्रकृतिवत्तुल्यकल्पा यजेरन् । १ ।

पद०-सन्निपाते । अवैगुण्यात् । प्रकृतिवत् । तुल्यकल्पा । यजेरन् ।

पदा०-(सन्निपाते) सम्बन्ध में (अवैगुण्यात्) विगुणता उत्पन्न नहो, इसलिये (प्रकृतिवत्) प्रकृति याग के समान (तुल्यकल्पा) प्रयाजादि कल्पों वाले (यजेरन्) यज्ञ करें !

भाष्य-सत्र याग में जो १७ ऋत्विज होते हैं उनमें भिन्न कल्पों = गोत्रों वाले नहीं लेने चाहियें किन्तु समान कल्पों वाले लेने चाहियें, क्योंकि उनमें कई एक नाराशंस कल्पों वाले हैं, कई एक तनूनपात कल्पों वाले हैं, कई एक प्रयाज कल्पोंवाले हैं, इस प्रकार भिन्न २ कल्पों वाले होने के कारण उनमें से समान कल्प वाले ऋत्विज् लेने उचित हैं और ऐसा करने से यज्ञ में विगुणता उत्पन्न नहीं होती ।

सं०-अब उक्त सिद्धान्त में पूर्वपक्ष करते हैं :-

वचनाद्वाशिरोवत्स्यात् । २ ।

पद०—वचनात् । वा । शिरोवत् । स्यात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त सिद्धान्त के निराकरणार्थ आया है (वचनात्) वचन पाये जाने से (शिरोवत्) शिर के समान भिन्न कल्पों का अधिकार (स्यात्) होसक्ता है ।

भाष्य—"पुरुषशीर्षमुपदधाति" = मृतक पुरुष के शिर को धारण करता है, इस वाक्य मे जैसे शिर का धारण करना पाया जाता है एवं भिन्न कल्पों वाले भी अधिकारी होसक्ते हैं क्योंकि जिस प्रकार स्मृति में मृतक के स्पर्श का निषेध है और शिर के धारण करने वाले वचन से विधान है इसीप्रकार परस्पर विरुद्ध कल्पों वाले का भी एक ही सत्र में अधिकार होसक्ता है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

नवाऽनारभ्यवादत्वात् । ३ ।

पद०—न । वा । अनारभ्यवादत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ आया है (न) भिन्न कल्पों का अधिकार ठीक नहीं, क्योंकि (अनारभ्यवादत्वात्) उन के अनारम्भ का कथन पायाजाता है ।

भाष्य—भिन्न कल्पों का अधिकार ठीक नहीं, क्योंकि यदि भिन्न २ कल्पों का आरम्भ करके समानाधिकार कहाजाता है सो ठीक नहीं, क्योंकि फिर वचन अनर्थक होजाता है, इसलिये समान कल्पों का अधिकार मानना ही ठीक है भिन्न कल्पों का नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पुनः पूर्वपक्ष करते हैं :—

स्याद्वायज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् । ४ ।

पद०–स्यात् । वा । यज्ञार्थत्वात् । औदुम्बरीवत् ।

पदा०–"वा" शब्द उक्त सिद्धान्त के खण्डनार्थ आया है (औदुम्बरीवत्) औदुम्बरी के समान (यज्ञार्थत्वात्) यज्ञार्थ होने से भिन्न कल्पों का (स्यात्) अधिकार होसक्ता है।

भाष्य–जैसे औदम्बरी = काष्ठविशेष यज्ञ के लिये है वैसेही यज्ञ के उपयोगी होने से भिन्न कल्पों का यज्ञ में अधिकार है।

सं०–अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं:–

नतत्प्रधानत्वात् । ५ ।

पद०–न । तत्प्रधानत्वात् ।

पदा०–(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (तत्प्रधानत्वात्) कल्प पुरुषार्थ के लिये हैं यज्ञ के लिये नहीं।

भाष्य–प्रयाजादि कल्प पुरुष के सुख के हेतु हैं इसलिये वह पुरुष के निमित्त हैं यज्ञ के नहीं, इसलिये भिन्न कल्पों का यज्ञ में अधिकार होसक्ता है।

सं०–अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:–

औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत् । ६ ।

पद०–औदुम्बर्याः । परार्थत्वात् । कपालवत् ।

पदा०–(कपालवत्) कपाल के समान (औदुम्बर्याः) औदुम्बरी (परार्थत्वात्) यज्ञ के लिये है।

भाष्य–जैसे पुरोडाश के पात्र पञ्च कपाल यज्ञार्थ होते हैं वैसेही औदुम्बरी भी यज्ञार्थ है, इससे सिद्ध है कि भिन्न २ कल्प भी यज्ञ

के लिये हैं, इसलिये उक्त कल्पों का यज्ञ में अधिकार है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और आशङ्का करते हैं :—

अन्येनापीतिचेत् ।७।

पद०—अन्येन । अपि । इति । चेत् ।

पदा०—(अन्येन) अन्य यजमान से (अपि) भी यज्ञ होना चाहिये (चेत्) यदि (इति) यह आशङ्का कीजाय तो ठीक नहीं इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य—यदि भिन्न कल्पों का यज्ञ में अधिकार है तो अन्य यजमान से भी यज्ञ की सिद्धि होजानी चाहिये, पर ऐसा नहीं होता इससे पायाजाता है कि भिन्न कल्पों का यज्ञ में अधिकार नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

नैकत्वात्तस्यचानधिकाराच्छब्दस्यचाविभक्तत्वात् ।८।

पद०—न । एकत्वात् । तस्य । च । अनधिकारात् । शब्दस्य । च । अविभक्तत्वात् ।

पदा०—(च) और (न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (एकत्वात्) एक होने से (तस्य) उस यजमान का (अनधिकारात्) अनधिकार है (च) और (शब्दस्य) शब्द के (अविभक्तत्वात्) एक होने से अन्य यज्ञ के यजमान का अन्य यज्ञ में अधिकार नहीं।

भाष्य—अन्य यज्ञ के यजमान का अन्य यज्ञ में अधिकार नहीं कथन किया गया जिसका यज्ञ होता है उसी यजमान का

अधिकार कथन किया गया है और शब्द भी यजमान की एकता को वर्णन करता है इसलिये भिन्न यज्ञ के यजमान का भिन्न यज्ञ में अधिकार नहीं।

सं०-अब समान कल्प वालों के अधिकार में आशङ्का करते हैं :-

सन्निपातात्तुनिमित्तविघातःस्याद्बृहद्रथंतर-वद्विभक्तशिष्टत्वाद्वसिष्ठनिर्वर्त्ये। ९।

पद०-सन्निपातात्। तु। निमित्तविघातः। स्यात्। बृहत्रथंतरवत्। विभक्तशिष्टत्वात्। वसिष्ठनिर्वर्त्ये।

पदा०-"तु" शब्द उक्त अर्थ के खण्डनार्थ आया है (सन्निपातात्) सम्बन्ध से (निमित्तविघातः) निमित्त का नाश (स्यात्) होगा (बृहत्रथन्तरवत्) बृहत्रथन्तर के समान, क्योंकि (वसिष्ठनिर्वर्त्ये) दोनों से सिद्ध जो अर्थ है वह (विभक्तशिष्टत्वात्) विभाग योग्य है।

भाष्य-यदि समान कल्प वालों का यज्ञ में अधिकार मानाजाय तो यह दोष आता है कि फल का निमित्त ठीक नहीं रहता, क्योंकि फल एक के उद्देश से होना चाहिये और यजमान भिन्न २ हैं, इसलिये फल ठीक न होने से समान कल्प वालों का अधिकार मानना उचित नहीं।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रतीयेत स्वामित्वेनाभिसम्बन्धात्। १०।

पद०—अपि। वा। कृत्स्नसंयोगात्। अविघातः। प्रतीयेत। स्वामित्वेन। अभिसम्बन्धात्।

पदा०—"अपि,वा" शब्द उक्त आशङ्का के खण्डनार्थ आया है (कृत्स्नसंयोगात्) दोनों का कर्तृत्वेन सम्बन्ध पाये जाने से (अविघातः) फल का अविघात (प्रतीयेत) प्रतीत होता है, क्योंकि यजमानों का (स्वामित्वेन) स्वामीरूप में (अभिसम्बन्धात्) सम्बन्ध पाया जाता है।

भाष्य—समान कल्प वाले यजमानों का यज्ञ में स्वामीरूप से सम्बन्ध पाया जाता है इसलिये फल का विघात नहीं होता, क्योंकि फल के लिये सब यजमानों का कर्तृत्व एक जैसा है।

सं०—अब बृहत्रथन्तर के दृष्टान्त में विषमता कथन करते हैं:—

साम्नोः कर्मवृद्ध्यैकदेशेन संयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धस्तस्मात्तत्र विघातः स्यात्॥ ११॥

पद०—साम्नोः। कर्मवृद्ध्या। एकदेशेन। संयोगे। गुणत्वेन। अभिसम्बन्धः। तस्मात्। तत्र। विघातः। स्यात्।

पदा०—(साम्नोः) बृहत् और रथन्तर दोनों सामों का (कर्मवृद्ध्या) स्तोत्ररूप कर्म की वृद्धि द्वारा (एकदेशेन) एकदेश से (संयोग) संयोग में (गुणत्वेन) गुणरूप से (अभिसम्बन्धः) सम्बन्ध पाया जाता है (तस्मात्) इसलिये (तत्र) उस स्थल में

(विघातः) विघात (स्याव) होता है ।

भाष्य–बृहत् और रथन्तर साम को मिलाकर जहां पृष्टस्तोत्र बनता है वहां कर्मवृद्धिद्वारा दोनों सामों का उक्त स्तोत्र से सम्बन्ध है. इसलिये उक्त साम का विघात होता है और गुणरूपता से सम्बन्ध होने के कारण भी विघात होता है परन्तु उक्त दोनों बातें फल में नहीं पाई जातीं, इसलिये फल में विघात का दोष नहीं आता ।

सं०–अब कुलाय नामक यज्ञ में भिन्न गोत्र वाले राजा तथा पुरोहित दोनों का अधिकार कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैंः–

वचनात्तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणिवत् ॥ १२ ॥

पद०–वचनात् । तु । द्विसंयोगः । तस्मात् । एकस्य । पाणिवत् ।

पदा०–"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (पाणिवत्) जैसे "अंजलिना जुहोति"=अंजलि से हवन करे, इस वाक्य से हवनानर्ह बायें हाथ का भी सम्बन्ध प्रतीत होता है वैसे ही "राजपुरोहितौ" वाक्य में भी राजा के दो पुरोहितों की प्रतीति होनी चाहिये, क्योंकि (वचनात्) विधायक वाक्य से ऐसा ही पाया जाता है (तस्मात्) इसलिये (एकस्य) एक राजा के दो पुरोहितों का ही उक्त यज्ञ में अधिकार है राजा तथा पुरोहित दोनों का नहीं ।

भाष्य–"एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्"=सायुज्यरूप ऐश्वर्य्य की कामना वाले राजा तथा

पुरोहित कुलाय नामक याग करें, यह वाक्य इस अधिकरण का विषय है. इसमें जो "राजपुरोहितौ" शब्द है उसमें "राज्ञः पुरोहितौ" = राजा के दो पुरोहित, यह समास है अथवा "राजा च पुरोहितश्च राजपुरोहितौ" = राजा और पुरोहित दोनों, यह समास है, प्रथम समास में राजा के दो पुरोहितों का और द्वितीय समास में राजा तथा पुरोहित दोनों का अधिकार सिद्ध होता है और समास दोनों होसक्ते हैं, इससे यह सन्देह हुआ कि उक्त वाक्य में राजा के दो पुरोहितों को कुलाय नामक यज्ञ करने का अधिकार कथन किया है किंवा राजा तथा पुरोहितों दोनों को। इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे "अंजलिना जुहोति" = अंजलि से हवन करे, इस वाक्य में विधान कीगई अंजलि से दो हाथों का ग्रहण होता है एक हाथ का नहीं इसी प्रकार "राजपुरोहितौ" शब्द से भी राजा के दो पुरोहितों का ही ग्रहण होना चाहिये राजा तथा पुरोहित दोनों का नहीं, क्योंकि उक्त शब्द में जो दो संख्या वाचक "औ" विभक्ति है वह पुरोहित शब्द के साथ सम्बन्ध रखती है राजा के साथ नहीं और जिसके साथ उक्त विभक्ति का सम्बन्ध है उसी के दो होने को बोधन करसक्ती है, और उक्त वचन में "राजपुरोहितौ" यह पुरोहित शब्द के आगे "औ" विभक्ति स्पष्ट है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य से कुलाय नामक याग में राजा तथा पुरोहित दोनों का अधिकार कथन नहीं किया किन्तु राजा के दो पुरोहितों का किया है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अर्थाभावात्तु नैवं स्यात् ॥ १३ ॥

पद०—अर्थाभावात् । तु । न । एवं । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (एवं) उक्त वाक्य में दो पुरोहितों का ग्रहण (न, स्यात्) ठीक नहीं क्योंकि (अर्थाभावात्) उसका उक्त अर्थ नहीं।

भाष्य—उक्त वाक्य में जो "राजपुरोहितौ" शब्द का राजा के दो पुरोहित अर्थ किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि एक राजा का एक ही पुरोहित होसक्ता है दो नहीं, जब एक ही होसक्ता है तो "राज्ञःपुरोहितौ" यह समास करके उक्त अर्थ करना संगत नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त वाक्य में "राजपुरोहितौ" शब्द का अर्थ "राजा च पुरोहितश्च-राजपुरोहितौ" इस समास के अनुसार राजा और पुरोहित, यही अर्थ करना ठीक है, और इस अर्थ से स्पष्ट है कि उक्त याग में राजा के दो पुरोहित का अधिकार नहीं किन्तु राजा और पुरोहित दोनों का अधिकार है।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :—

अर्थानां च विभक्तत्वान्नतच्छ्रुतेन सम्बन्धः ॥ १४ ॥

पद०—अर्थानां । च । विभक्तत्वात् । न । तत्श्रुतेन । सम्बन्धः

पदा०-(च) और (अर्थानां) याग फल का (विभक्तत्वात्) विभाग पाये जाने से भी (तत्श्रुतेन) उक्त वाक्य में श्रवण किये याग के साथ (सम्बन्धः) दो पुरोहितों का सम्बन्ध (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य-"एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्" इस वाक्य से याग का विधान करके "तेजःसंस्तवो ब्राह्मणस्य वीर्य्यसंस्तवो राजन्यस्य" = पुरोहित का याग ब्रह्मतेज की स्तुति कराने वाला और राजा का याग बल की स्तुति कराने वाला होता है, इस वाक्य से याग फल का विभाग कथन किया है यदि उक्त याग में राजा के दो पुरोहितों का अधिकार मानाजाय तो उक्त वाक्य में जो तेज तथा वीर्य्यरूप फल का विभाग कथन किया है वह नहीं बनसक्ता, क्योंकि दो पुरोहितों में एक ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय नहीं होसक्ता और राजा तथा पुरोहित दोनों का अधिकार मानने से उक्त विभागवचन सार्थक होजाता है, क्योंकि पुरोहित ब्राह्मण तथा राजा क्षत्रिय निर्विवाद है, इसलिये उक्त याग में राजा और पुरोहित दोनों का अधिकार है।

सं०-अब पूर्वपक्ष में कथन किये "पाणिवत्" दृष्टान्त का समाधान करते हैं :—

पाणेः प्रत्यङ्गभावादसंम्बन्धः प्रतीयेत्। १९।

पद०-पाणेः। प्रत्यङ्गभावात्। असंबन्धः। प्रतीयेत्।

पदा०-(पाणेः) वामहस्त का (प्रत्यङ्गभावात्) अंजलि

के प्रति अंगभाव होने पर भी (असंबन्धः) हवन के साथ सम्बन्ध नहीं (प्रतीयेत) होसक्ता ।

भाष्य–" अंजलिना जुहोति " वाक्य में जो दायें तथा बायें दोनों हाथों का अंजलि शब्द से ग्रहण कथन किया है वह अंजलि मात्र के प्रति अंग होने के अभिप्राय से ठीक होने पर भी होम के अभिप्राय से ठीक नहीं, क्योंकि अञ्जलि दो हाथों के बिना नहीं बन सक्ती परन्तु होम एक हाथ से होसक्ता है और होम में दक्षिण हस्त का विनियोग "अथदक्षिणेनजुहोति" = दक्षिण हाथ से हवन करे, इस वाक्य से स्पष्ट है और वाम हस्त से होम का निषेध सर्वत्र पाया जाता है, इससे सिद्ध है कि "अञ्जलिना जुहोति" वाक्य में हवन के लिये दो हाथ का ग्रहण नहीं किन्तु एक ही दक्षिण हस्त का ग्रहण है, इसी प्रकार "राजपुरोहितौ" वाक्य में भी एक ही पुरोहित का ग्रहण है दो का नहीं ।

सं०–अब सत्र में ब्राह्मण मात्र का अधिकार कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात । १६ ।

पद०–सत्राणि । सर्ववर्णानां । अविशेषात् ।

पदा०–(सत्राणि) सत्र नामक यागों में (सर्ववर्णानां) ब्राह्मण, क्षत्रियादि सब वर्णों का अधिकार है क्योंकि (अविशेषात्) उक्त सत्रों के विधायक वाक्यों में कोई विशेषता नहीं पाईजाती ।

भाष्य—"ऋद्धिकामाः सत्रमासीरन्"=अपने ऐश्वर्य्य की वृद्धि के लिये सत्र नामक यागों को करे, यह वाक्य इस अधिकरण का विषय है, इस वाक्य में जो ऐश्वर्य्य वृद्धि के लिये सत्र नामक याग के करने की आज्ञा दीगई है उसमें ब्राह्मणादि सब वर्णों को अधिकार है किंवा ब्राह्मणमात्र को ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती को है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में "ऋद्धिकामाः" यह सामान्य शब्द पड़ा है जिसका अर्थ "ऐश्वर्य्य की समृद्धि चाहने वाले" है, इस अर्थ से किसी विशेष वर्ण का बोध नहीं होता किन्तु जो २ ऐश्वर्य्य की समृद्धि चाहने वाला है उन सब का बोध होता है और ऐश्वर्य्य की समृद्धि चाहने वाले जैसे ब्राह्मण हैं वैसे ही क्षत्रियादि भी हैं, इसलिये सिद्ध है कि अपनी कामना के अनुसार ब्राह्मणादि सब वर्णों का सत्र में अधिकार है केवल ब्राह्मण वर्ण का ही नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं :—

लिङ्गदर्शनाच्च । १७ ।

पद०—लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—द्वादशाह याग के प्रकरण में ब्रह्मसाम का विधायक "बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्य्यात्, पार्थुरश्मं राजन्यस्य रायोवाजीयं वैश्यस्य" = द्वादशाह याग में ब्राह्मण

के लिये "वार्हङ्गिर" नामक ब्रह्मसाम क्षत्रिय के लिये "पार्थुरश्य" नामक ब्रह्मसाम और वैश्य के लिये "रायोवाजीय" नामक ब्रह्मसाम का गान करें, इस वाक्य में जो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों का ग्रहण किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि सत्र में ब्राह्मणमात्र का ही अधिकार होता तो द्वादशाह याग में जो ब्रह्मसाम का विधान किया गया है उसमें ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों का ग्रहण न होता परन्तु है इससे सिद्ध है कि जैसे ब्रह्मसाम ब्राह्मणादि तीनों वर्णों के लिये हैं वैसे ही सत्र भी है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात् ।१८।

पद०-ब्राह्मणानां । वा । इतरयोः । आर्त्विज्याभावात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (ब्राह्मणानां) ब्राह्मणों का ही सत्र में अधिकार है क्योंकि (इतरयोः) क्षत्रिय तथा वैश्य के (आर्त्विज्याभावात्) ऋत्विज होने का निषेध पाया जाता है।

भाष्य-सत्र याग के प्रकरण में लिखा गया है कि "ये यजमानास्ते ऋत्विजः"=यजमान ही ऋत्विज हैं, इससे यजमानों का ऋत्विज होना सिद्ध है और ऋत्विज ब्राह्मण ही होसकते हैं इतर वर्ण नहीं यह द्वादश अध्याय में निर्णय किया गया है, जब ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य कोई वर्ण ऋत्विज नहीं होसकता और

सत्र में यजमानों का ही ऋत्विज होना स्पष्ट है इससे सिद्ध है कि सत्र में ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्ण का अधिकार नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :–

वचनादिति चेत् । १९ ।

पद०–वचनात् । इति । चेत ।

पदा०–(वचनात) "ऋद्धिकामाः सत्रमासीरन्" इस वचन से इतर वर्णों का अधिकार सिद्ध है (चेत) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है–

भाष्य–उक्त वचन में ऐश्वर्य्य की समृद्धि चाहने वालों को यजमान होना कथन किया है और ऐश्वर्य्य की समृद्धि चाहने वाले जैसे ब्राह्मण हैं वैसे ही इतर वर्ण भी हैं इसलिये सिद्ध है कि सत्र में ब्राह्मणादि सब वर्णों का अधिकार है ब्राह्मण मात्र का नहीं ।

सं०–अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :–

न स्वामित्वं हि विधीयते । २० ।

पद०–न । स्वामित्वं । हि । विधीयते ।

पदा०–(न) उक्त कथन ठीक नहीं (हि) क्योंकि (स्वामित्वं) उक्त वाक्य में सत्र का स्वामी होना (विधीयते) कथन किया है ।

भाष्य–"ऋद्धिकामाः सत्रमासीरन" इस वाक्य में जो २ ऐश्वर्य्य की कामना वाले हैं वह सत्र सत्र के अधिकारी हैं यह कथन नहीं किया किन्तु जिनका सत्र में अधिकार है उनके मध्य जो ऐश्वर्य्य की समृद्धि चाहने वाले हैं वह सत्र याग करें, यह

कथन किया है और सत्र के अधिकारी ब्राह्मण सिद्ध हैं, इसलिये सत्र में उन्हीं का अधिकारी है इतर वर्णों का नहीं।

सं०—अब प्रकारान्तर से उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

गार्हपते वा स्यातामविप्रतिषेधात्। २१।

पद०—गार्हपते। वा। स्यातां। अविप्रतिषेधात्।

पदा०—"वा" शब्द आशङ्का के लिये आया है (गार्हपते) गृहपति कर्म में (स्यातां) क्षत्रिय, वैश्य का अधिकार होना चाहिये, क्योंकि (अविप्रतिषेधात्) ऐसा होने में कोई विरोध नहीं।

भाष्य—सत्र याग में जो गृहपति सम्बन्धी गार्हपत नामक एक कर्म है उसमें जैसे ब्राह्मण का अधिकार है वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य का होना चाहिये, क्योंकि सत्र की भांति इस कर्म में ऋत्विज का कोई कर्तव्य नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे सत्र में क्षत्रिय, वैश्य का अधिकार मानने में यह विरोध आजाता है कि ऋत्विज केवल ब्राह्मण ही होते हैं क्षत्रिय, वैश्य नहीं, अब इनको भी ऋत्विज मानना पड़ेगा सो शास्त्र विरुद्ध होने से ठीक नहीं, इस प्रकार गार्हपत कर्म में क्षत्रिय, वैश्य का अधिकार मानें तो कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि उसमें ऋत्विज होने की आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध है कि सत्र में ब्राह्मणातिरिक्त वर्णों का अधिकार न होने पर भी सत्रान्तर्गत गार्हपत कर्म में अधिकार है।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

न वा कल्पविरोधात्। २२।

पद०–न । वा । कल्पविरोधात् ।

पदा०–"वा" शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (कल्पविरोधात्) उसमें गोत्र का विरोध होजाता है।

भाष्य–सत्र में ब्राह्मणों का अधिकार होने पर भी सत्रान्तर्गत गार्हपत कर्म में इतर वर्णों का अधिकार मानें तो गोत्रों का विरोध होजाता है, क्योंकि ब्राह्मण के गोत्र से क्षत्रिय, वैश्य का गोत्र भिन्न है और सत्र में समान गोत्र वालों का ही अधिकार निर्णय कियागया है, इसलिये सिद्ध है कि सत्र में इतर वर्णों का अधिकार नहीं किन्तु ब्राह्मण का ही अधिकार है।

सं०–अब पूर्वपक्ष में कथन किये लिङ्ग का समाधान करते हैं:–

स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ।२३।

पद०–स्वामित्वात् । इतरेषाम् । अहीने । लिङ्गदर्शनम् ।

पदा०–(लिङ्गदर्शनम्) पूर्वपक्ष का साधक जो लिङ्ग कथन किया है वह (अहीने) अहीन नामक याग में जानना चाहिये, क्योंकि (इतरेषाम्) ब्राह्मणातिरिक्त वर्ण भी (स्वामित्वात्) यजमान होते हैं।

भाष्य–द्वादशाह याग दो प्रकार का होता है, एक सत्ररूप दूसरा अहीनरूप, उक्त याग के प्रकरण में जो लिङ्गरूप वाक्य कथन किया है वह अहीन के अभिप्राय से किया है सत्र के अभिप्राय से नहीं, इसलिये उक्त लिङ्ग के बल से सत्र में सब वर्णों का अधिकार मानना ठीक नहीं, ब्राह्मणों का ही अधिकार मानना ठीक है।

सं०—अब ब्राह्मणों के मध्य सत्र में विश्वामित्र तथा तत्समान गोत्र वालों का अधिकार कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्वनियमात् । २४ ।

पद०—वासिष्ठानां । वा । ब्रह्मत्वनियमात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (वासिष्ठानां) वसिष्ठ गोत्र वालों का ही सत्र में अधिकार है, क्योंकि (ब्रह्मत्व-नियमात्) उन्हीं का ब्रह्मा होना नियत है ।

भाष्य—सत्र में ब्राह्मणों का ही अधिकार है यह पिछले अधि-करण में सिद्ध किया, अब उक्त ब्राह्मणों के मध्य विश्वामित्र गोत्र वालों का किंवा वसिष्ठ गोत्र वालों का अथवा ब्राह्मणमात्र का अधिकार है ? यह विचारणीय है, इसमें पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "वासिष्ठो ब्रह्माभवति" = वसिष्ठगोत्र वाला ब्रह्मा हो, इस वाक्य में वसिष्ठगोत्र वाले का ब्रह्मा होना विधान किया है और ब्रह्मा के वसिष्ठगोत्र वाला होने से होता आदि का वसिष्ठगोत्र वाला होना स्वयं सिद्ध है और सबके वसिष्ठगोत्र वाला होने से स्पष्ट है कि सत्र में वसिष्ठगोत्र वालों का ही अधिकार है इतरों का नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का दूसरा पूर्वपक्षी समाधान करता है:—

सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् । २५ ।

पद०—सर्वेषां । वा । प्रतिप्रसवात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्षान्तर सूचन के लिये आया है (सर्वेषां) सत्र में सब ब्राह्मणों का अधिकार है, क्योंकि (प्रति-

प्रसवात्) वाक्यान्तर में वसिष्ठगोत्र वाले के ब्रह्मा होने का निषेध पायाजाता है ।

भाष्य-यद्यपि "वासिष्ठो ब्रह्माभवति" इस वाक्य में वासिष्ठ का ब्रह्मा होना कथन किया है तथापि "यः स्तोमभागानधीते स वासिष्ठः" = "रश्मिरसि क्षत्रायत्वा" इत्यादि मन्त्रों का नाम स्तोम भाग है उनको जो पढ़े उसको "वासिष्ठ" कहते हैं, इस वाक्यान्तर में जो वासिष्ठ शब्द का अर्थ किया है उससे वसिष्ठगोत्र का निषेध स्पष्ट है अर्थात् उक्त वाक्य में वासिष्ठ शब्द का अर्थ वसिष्ठगोत्र वाला नहीं किन्तु स्तोम भाग का अध्ययन करने वाला है और उनका अध्ययन सब ब्राह्मण करसक्ते हैं केवल वसिष्ठगोत्र वाले ही नहीं, इसलिये सिद्ध है कि सत्र में वसिष्ठ, विश्वामित्र, भृगु, शुनक आदि गोत्र वाले सब ब्राह्मणों का अधिकार है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

विश्वामित्रस्य हौत्रनियमात् भृगुशुनकवसिष्ठानामनधिकारः । २६ ।

पद०-विश्वामित्रस्य । हौत्रनियमात् । भृगुशुनकवसिष्ठानां । अनधिकारः ।

पदा०-(भृगुशुनकवसिष्ठानां) भृगु, शुनक, वसिष्ठ गोत्र वालों का (अनधिकारः) सत्र में अधिकार नहीं किन्तु (विश्वामित्रस्य)

विश्वामित्र गोत्र वालों का ही अधिकार है, क्योंकि (हौत्रनियमात्) उन्हीं के होता होने का नियम पायाजाता है ।

भाष्य-"वैश्वामित्रो होता भवति" = विश्वामित्र गोत्र वाला होता हो, इस वाक्यविशेष में केवल विश्वामित्र गोत्र वाले का होता होना कथन किया है अन्य गोत्र वाले का नहीं, यदि अन्य गोत्र वालों का भी सत्र में अधिकार होता तो उनका भी कथन पाया जाता परन्तु उनका नहीं, इससे सिद्ध है कि सत्र में विश्वामित्र गोत्र वालों और तत्समान गोत्र वाले ब्राह्मणों का ही अधिकार है वसिष्ठादि गोत्र वालों का नहीं ।

सं०-अब सत्र में आहिताग्नि का अधिकार कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

विहारस्यप्रभुत्वादनग्नीनामपिस्यात् । २७ ।

पद०-विहारस्य । प्रभुत्वात् । अनग्नीनां । अपि । स्यात् ।

पदा०-(अनग्नीनां) अनाहित अग्नियों का (अपि) भी (स्यात्) सत्र में अधिकार है, क्योंकि (विहारस्य) एक ही आहवनीयाग्नि (प्रभुत्वात्) सब हवनों के लिये समर्थ है ।

भाष्य-सत्र में जो विश्वामित्र गोत्र वाले ब्राह्मणों का अधिकार कथन कियागया है उसमें अब विचारणीय अंश यह है कि आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि सब का सत्र में अधिकार है किंवा आहिताग्निमात्र का ! जिसने अग्नि का आधान किया है उसको "आहिताग्नि" और तद्भिन्न को "अनाहिताग्नि" कहते हैं, इससे आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि सबका सत्र में अधिकार है

यह पक्ष पूर्वपक्षी का और केवल आहिताग्नि का ही सत्र में अधिकार है यह पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि हवन के लिये आहवनीयाग्नि आवश्यक है और उसमें आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नियों का हवन होने में कोई वाधक नहीं, इसलिये आहित तथा अनाहिताग्नि दोनों का ही सत्र में अधिकार है केवल आहिताग्नि का ही नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:—

सारस्वते च दर्शनात्। २८।

पद०—सारस्वते। च। दर्शनात्।

पदा०—(च) और (सारस्वते) सारस्वत नामक सत्र में (दर्शनात्) अनाहिताग्नियों का कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—सारस्वत नामक सत्र के प्रकरण में "**परस्थैर्वाएतेस्वर्गं लोकं यन्ति येऽनाहिताग्नयः सत्रमासते**" = वह दूसरों के द्वारा सुख को प्राप्त होते हैं जो अनाहिताग्नि हुए सत्र नामक याग करते हैं, यह वाक्य पढ़ा है, इससे अनाहिताग्नियों का सत्र में अधिकार स्पष्ट है क्योंकि उसके विना "दूसरों के द्वारा सुख को प्राप्त होना" यह कथन नहीं वनसकता, इसलिये सिद्ध है कि सत्र में आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि दोनों का अधिकार है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:—

प्रायश्चित्तविधानाच्च॥ २९॥

पद०—प्रायश्चित्तविधानात्। च।

पदा०-(च) और (प्रायश्चित्तविधानात्) प्रायश्चित्त का विधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"यस्याहिताग्नेरन्यैरग्निभिरग्नयः संसृज्यन्ते अग्नये विविचयेऽष्टाकपालं निर्वपेत्" = जिस आहिताग्नि पुरुष की अग्नि दूसरे की अग्नि से मिलजाय तो वह परम विवेकी प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश्य से आठ कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का प्रदान करे, इस वाक्य में जो आहिताग्नि की अग्नि का दूसरी अग्नि के साथ सम्बन्ध होजाने पर जो प्रायश्चित्त विधान किया है इससे स्पष्ट है कि सत्र में एकही आहवनीयाग्नि होम के लिये पर्य्याप्त है और वह सत्र यजमानों के आहिताग्नि न होने पर भी प्राप्त होसकती है क्योंकि उनके मध्य आहिताग्नि भी बहुत से यजमान हैं; इसलिये सिद्ध है कि सत्र में आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि दोनों का अधिकार है केवल आहिताग्नि का ही नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

साग्नीनांवेष्टिपूर्वत्वात्। ३०।

पद०-साग्नीनां। वा। इष्टिपूर्वत्वात्।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (साग्नीनां) सत्र में आहिताग्नियों का ही अधिकार है, क्योंकि (इष्टिपूर्वत्वात्) सत्र का अनुष्ठान दर्शपूर्णमास याग के पश्चात् कथन कियागया है।

भाष्य-"दर्शपूर्णमासौ इष्ट्वा जयेत" = दर्शपूर्णमास याग करके ज्योतिष्टोमादि याग करे, इस वाक्य से ज्योतिष्टोमादि

सम्पूर्ण यागों का अनुष्ठान दर्शपूर्णमास याग के पश्चात् कथन किया है और दर्शपूर्णमास याग का अनुष्ठान अग्न्याधान के बिना नहीं होसकता, इससे सिद्ध है कि सत्र में आहिताग्नियों का ही अधिकार है अनाहिताग्नियों का नहीं।

सं०-अब पूर्वपक्ष में कथन कीगई प्रथम युक्ति का समाधान करते हैं :-

स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् । ३१ ।

पद०-स्वार्थेन । च । प्रयुक्तत्वात् ।

पदा०-(च) और (स्वार्थेन) अपने २ अर्थ के लिये (प्रयुक्तत्वात्) अग्नियों का आधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"अग्नीनादधीत"=अग्नियों का आधान करे, इस वाक्य में जो अग्नियों का आधान विधान किया है वह "आदधीत" इस आत्मने पद क्रिया से किया है, जिसका भाव यह है कि जो अग्नि का आधान करता है वही उसके फल का भागी होता है अन्य नहीं, यदि आहिता तथा अनाहिताग्नि दोनों का यज्ञ में अधिकार मानाजाय तो अनाहिताग्नियों को फल की प्राप्ति नहीं होसकती, क्योंकि उनकी आधान कीहुई अग्नि में होम नहीं कियागया और फल के न होने से अधिकार का मानना व्यर्थ है, इसलिये सिद्ध है कि सत्र में आहिताग्नियों का ही अधिकार है ।

सं-अब पूर्वपक्ष में कीहुई दूसरी युक्ति का समाधान करते हैं :-

संनिवापं च दर्शयति । ३२ ।

पद०—संनिवापं । च । दर्शयति ।

पदा०—(च) और (संनिवापं) सत्र यजमानों की अग्नियों का मिलाप (दर्शयति) श्रुतिवाक्य से पायाजाता है ।

भाष्य—"सावित्राणि होष्यन्तः संनिवपेरन्"=प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश्य से हवन करने के लिये सत्र अग्नियों को मिलावें, इस वाक्य में जो सावित्र होमों के लिये सत्र अग्नियों का मिलाना कथन किया गया है वह आधान कीगई अग्नियों का कथन किया है, यदि आधान कीगई अग्नि का अन्य अग्नि के साथ संमेलन होता तो पूर्व कथन किया प्रायश्चित्त आवश्यक होता, क्योंकि विजातीय अग्नियों के मिलने पर उक्त प्रायश्चित्त विधान किया है सजातीय अग्नियों के मिलने पर नहीं, और सजातीय अग्नियों का मिलना तभी होसकता है जब आहिताग्नियों का ही सत्र में अधिकार मानें अन्यथा नहीं, इसलिये सिद्ध है कि सत्र में आहिताग्नियों का ही अधिकार है अन्यों का नहीं ।

सं०—अब सर्वसाधारण जुहु आदि पात्रों से सत्र का अनुष्ठान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्संदेहे यथाकामी प्रतीयेत । ३३ ।

पद०—जुह्वादीनां । अप्रयुक्तत्वात् । संदेहे । यथाकामी । प्रतीयेत ।

पदा०-(जुह्वादीनां) जुह्वादि पात्रों का (संदेहे) सन्देह होनेपर (यथाकामी) अपनी इच्छा के अनुसार (प्रतीयेत) उक्त पात्रों का उपादान करे, क्योंकि (अप्रयुक्तत्वात्) उनका विशेष रूप से विधान नहीं पायाजाता ।

भाष्य-उक्त सत्र का अनुष्ठान जिस किसी यजमान के जुहु आदि पात्रों से होना चाहिये किंवा सर्वसाधारण उक्त पात्रों का सम्पादन करके अनुष्ठान होना चाहिये ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि सत्र में आहिताग्नियों का अधिकार होने के कारण प्रत्येक यजमान के पास जुहु आदि पात्र विद्यमान हैं उनके विद्यमान होने से सर्व-साधारण अन्य पात्रों के सम्पादन करने की आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध है कि किसी एक यजमान के उक्त पात्र लेकर अनु-ष्ठान करना चाहिये अन्य पात्रों की आवश्यकता नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अपिवाऽन्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वीरन्विप्रतिषेधाच्छास्त्र-कृतत्वात् । ३४ ।

पद०-अपि । वा । अन्यानि । पात्राणि । साधारणानि । कुर्वी-रन् । विप्रतिषेधात् । शास्त्रकृतत्वात् ।

पदा०-"अपि, वा" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (अन्यानि) दूसरे (साधारणानि) सर्वसाधारण (पात्राणि)

जुहु आदि पात्र (कुर्वीरन्) सम्पादन करने चाहियें, क्योंकि (शास्त्रकृतत्वात्) शास्त्र से ऐसा ही पायाजाता है और (विप्रतिषेधात्) किसी यजमान के पात्र ग्रहण करने में विरोध होजाता है ।

भाष्य–यदि किसी एक यजमान के उक्त पात्रों से सत्र का अनुष्ठान कियाजाय तो अत्यन्त विरोध आजाता है क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि यदि आहिताग्नि पुरुष मरजाय तो पात्रों को उसके साथ भस्म करदेना चाहिये, इसके अनुसार जिस यजमान के पात्र लेकर अनुष्ठानारम्भ किया गया है दैवयोग से अनुष्ठान के मध्य उसके मरजाने पर पात्रों का दाह अवश्य होगा और उनके दग्ध होजाने पर अन्य किसी यजमान के पात्र लेने होंगे और उनमें भी यही आशंका होसकती है और शास्त्र में एकही पात्रों से अनुष्ठान की समाप्ति कथन की है वह किसी यजमान के पात्र लेने से संगत नहीं होसकती प्रत्युत उक्त शास्त्र के साथ विरोध आजाता है और सर्वसाधारण पात्र सम्पादन करके अनुष्ठान किया जाय तो कोई विरोध नहीं आता और शास्त्र भी संगत होजाता है, इसलिये सिद्ध है कि जिन पात्रों पर किसी यजमान का स्वत्व न हो किन्तु सब के प्रति साधारण हैं ऐसे नूतन पात्रों का सम्पादन करके अनुष्ठान करे ।

सं०–अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :–

प्रायश्चित्तमापदि स्यात् । ३९ ।

पद०–प्रायश्चित्तम् । आपदि । स्यात् ।

पदा०–(आपदि) यजमान के मरजाने पर (प्रायश्चित्तं) जो

प्रायश्चित्त कथन किया है (स्याव्) वहभी उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है।

भाष्य—अनुष्ठान के मध्य यजमान के मरजाने पर जो नूतन पात्रों के सम्पादन समय प्रायश्चित्त कथन किया है वह तभी ठीक होसकता है जब कि सर्वसाधारण नूतन पात्रों का सम्पादन किया जाय अन्यथा नहीं, इसलिये सिद्ध है कि सत्र का अनुष्ठान नूतन पात्रों से ही होंना चाहिये।

सं०—अब अध्वर कल्पादि विकृति यागों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों का अधिकार कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

पुरुषकल्पेन विकृतौ कर्तृनियमः स्याद्यज्ञस्य तद्गुणत्वादभावादितरान्प्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्यात् । ३६ ।

पद०—पुरुषकल्पेन । विकृतौ । कर्तृनियमः । स्याव् । यज्ञस्य । तद्गुणत्वाव् । अभावाव् । इतरान् । प्रति । एकस्मिन् । अधिकारः । स्याव् ।

पदा०—(विकृतौ) अध्वर कल्पादि विकृति यागों में (पुरुषकल्पेन) पुरुषविशेष द्वारा सप्तदश सामिधेनियों का उल्लेख पाये जाने से (कर्तृनियमः) वैश्यरूप यजमान का नियम (स्याव्) होना चाहिये, क्योंकि (यज्ञस्य) उक्त यागों के प्रति (तद्गुणत्वाव्) उक्त सामिधेनियें गौण हैं और (इतरान्, प्रति) ब्राह्मण क्षत्रिय के प्रति

(अभावात्) सप्तदश सामिधेनियों का विधान नहीं, इसलिये (एकस्मिन्) एक वैश्यरूप यजमान में ही (अधिकारः) उक्त यागों का अधिकार (स्यात्) होना उचित है ।

भाष्य-अध्वर कल्पादि विकृति यागों में केवल वैश्य का अधिकार है किंवा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों का? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि अध्वर कल्पादि विकृति यागों के प्रकरण में "सप्तदशं सामिधेनीरनुब्रूयात्"=सामिधेनीसंज्ञक १७ मन्त्रों का उच्चारण करे, इस वाक्य से सप्तदश सामिधेनियों का उच्चारण कथन किया है और वह वैश्य का अधिकार मानने से ही ठीक होसक्ता है अन्यथा नहीं, क्योंकि प्रकृति याग में वैश्य के उद्देश्य से ही "सप्तदशानुब्रूयाद्वैश्यस्य"=वैश्य यजमान के लिये सप्तदश सामिधेनियों का उच्चारण करे, इस वाक्य द्वारा १७ सामिधेनियों का विधान किया है और जिसके उद्देश से प्रकृति याग में उक्त सामिधेनियों का विधान किया है उसी के यजमान होने पर विकृति याग में भी उक्त सामिधेनियों का विधान ठीक होसक्ता है, क्योंकि वैश्य के अतिरिक्त ब्राह्मण तथा क्षत्रिय यजमान होने पर सप्तदश सामिधेनियों का कहीं विधान नहीं किया और उक्त विकृति यागों में सप्तदश सामिधेनियों का विधान स्पष्ट है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त विकृति यागों में केवल वैश्य का ही अधिकार है ब्राह्मण क्षत्रिय का नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं :-

लिङ्गाच्चेज्याविशेषवत् । ३७ ।

पद०–लिङ्गात् । च । इज्याविशेषवत् ।

पदा०–(इज्याविशेषवत्) जैसे वैश्यस्तोम नामक यागविशेष में केवल वैश्य का अधिकार है वैसे ही (लिङ्गात्) लिङ्ग के पाये जाने से (च) भी उक्त विकृति यागों में वैश्य का अधिकार सिद्ध होता है ।

भाष्य–"सप्तदशो वै वैश्याः" = १७ सामिधेनियों वाला वैश्य होता है, इस अर्थवाद वाक्य में जो वैश्य की सप्तदश सामिधेनी कथन की हैं, वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, क्योंकि इस अर्थवाद से यह व्याप्ति निश्चित होजाती है कि जो २ सप्तदश सामिधेनी वाला याग है वह वैश्यस्तोम नामक याग की भांति वैश्य यजमान वाला है, उक्त विकृति याग भी सप्तदश सामिधेनी वाले हैं इसलिये सिद्ध है कि उनमें भी वैश्य का ही अधिकार है ब्राह्मण क्षत्रिय का नहीं ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

न वा संयोगपृथक्त्वाद्गुणस्येज्या प्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना । ३८ ।

पद०–न । वा । संयोगपृथक्त्वात् । गुणस्य । इज्याप्रधानत्वात् । असंयुक्ता । हि । चोदना ।

पदा०–"वा" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (न)

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (संयोगपृथक्त्वात्) याग के विधायक तथा सामिधेनियों के विधायक वाक्यों का भेद है और (गुणस्य) गुण के प्रति (इज्याप्रधानत्वात्) याग को प्रधान होने से गुणानुसार यजमान की कल्पना करना ठीक नहीं (हि) इसलिये (चोदना) उक्त विकृति याग (असंयुक्ता) वैश्य यजमान वाले नहीं होसक्ते।

भाष्य—उक्त यागों के विधायक वाक्य में केवल सप्तदश सामिधेनियों का श्रवण होने से वैश्य के यजमान होने की कल्पना नहीं करसक्ते, क्योंकि जिस वाक्य से वैश्य के लिये सप्तदश सामिधेनियों का उच्चारण कथन किया है वह उक्त विकृति विधायक वाक्य से भिन्न है, दूसरे सामिधेनियां याग के प्रति गौण हैं गौण के अनुसार कल्पना करना ठीक नहीं और प्रकृति याग में तीनों वर्णों का अधिकार सिद्ध है उसी के अनुसार विकृति यागों में भी होना ठीक है इसलिये उक्त विकृति यागों में वैश्य का अधिकार नहीं किन्तु तीनों वर्णों का अधिकार है।

सं०—अब पूर्वपक्ष में कथन किये "इज्याविशेषवत्" दृष्टान्त का समाधान कथन करते हैं:—

इज्यायां तद्गुणत्वाद्विशेषेण नियम्येत।३९

पद०—इज्यायां। तद्गुणत्वात्। विशेषेण। नियम्येत।

पदा०—(इज्यायां) वैश्यस्तोम नामक याग में (विशेषेण) वैश्यरूपकर्त्ता विशेष का (नियम्येत) नियम होना ठीक है, क्योंकि (तद्गुणत्वात्) उसमें वैश्य का गुणरूप से कथन पायाजाता है।

भाष्य—जैसे वैश्यस्तोम में "वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत" इस वाक्य से वैश्य का साक्षात् विधान पायाजाता है वैसे उक्त

विकृति यागों में नहीं उनमें तो केवल सप्तदश सामिधेनियों का श्रवण होने से वैश्य के यजमान होने की कल्पना कीजाती है इसलिये उक्त दृष्टान्त के अनुसार वैश्य का यजमान होना निश्चित नहीं होसक्ता, और जो निश्चित नहीं है उसका मानना ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि अध्वर कल्पादि उक्त विकृति यागों में तीनों वर्णों का अधिकार है वैश्य मात्र का ही नहीं ।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
षष्ठाध्याये षष्ठः
पादः

ओ३म्

। अथ षष्ठाध्याये सप्तमःपादः प्रारभ्यते ।

सं०—अब विश्वजित् याग में सर्वस्वदानविषयक पूर्वपक्ष करते हैं:—

स्वदानेसर्वमविशेषात् । १ ।

पद०—स्वदाने । सर्वम् । अविशेषात् ।

पदा०—(स्वदाने) उक्त याग में (सर्वं) सबका दान करना चाहिये, क्योंकि (अविशेषात्) सामान्यरूप से सर्वस्व दान का विधान पायाजाता है ।

भाष्य—"विश्वजिति सर्वस्वं ददाति" = विश्वजित् याग में सर्वस्व दान दे, इस वाक्य से सिद्ध है कि विश्वजित् याग में सर्वस्व दान का विधान पाया जाता है अर्थात् यजमान सब पदार्थों का दान उक्त याग में करदे, क्योंकि यह क्षात्रधर्म का प्रधान याग है इसके करने से क्षात्रधर्म की वृद्धि होती है और व्युत्पत्ति सेभी यही अर्थ लाभ होता है कि "विश्वंजयति इति विश्वजित्" = जिस याग से भूमण्डल का विजय कियाजाय उसका नाम "विश्वजित्" याग है, इस याग में सर्वस्व दान देना आवश्यक है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का सामाधान करते हैं:—

यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याशक्यत्वात् । २ ।

पद०—यस्य । वा । प्रभुः । स्यात् । इतरस्य । अशक्यत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (प्रभुः) यजमान (यस्य) जिस वस्तु का स्वामी (स्यात्) हो उसी का दान करे (इतरस्य) अन्य का नहीं, क्योंकि (अशक्यत्वात्) अन्य वस्तु के देने में असमर्थ है ।

भाष्य—"विश्वजिति सर्वस्वं ददाति" इस वाक्य का तात्पर्य्य यह नहीं कि सर्वस्व दान करे, जैसाकि कई एक आधुनिक मतावलम्बि स्त्री तक का दान करदेते हैं, इस वाक्य का भाव यह है कि अपनी प्रभुतावाली वस्तुओं का दान करे, प्रभुता शब्द स्वाधीन वस्तुओं के दान को बोधन करता है सबके दान को नहीं ।

सार यह है कि राजा उन्हीं वस्तुओं का उक्त याग में दान करे जिनपर उसका आत्मीय अधिकार है नकि सम्पूर्ण क्रमागत वस्तुओं का ।

सं०—अब भूमि के दान का निषेध करते हैं:—

न भूमिः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ।३।

पद०— न । भूमिः । स्यात् । सर्वान्प्रति । अविशिष्टत्वात् ।

पदा०—(भूमिः) पृथ्वी का दान (न) नहीं (स्यात्) देना चाहिये, क्योंकि उसमें (सर्वान्प्रति) सब सम्बन्धियों का (अविशिष्टत्वात्) एक जैसा अधिकार है ।

भाष्य-भूमि का दान इसलिये नहीं देना चाहिये कि उसमें सब सम्बन्धियों का अधिकार है अर्थात् पुत्रपौत्रादि सबका उससे पालनपोषण होता है, अतएव उसका दान कदापि न करे।

सं०-अब अश्वादि के दान का निषेध करते हैं:-

अकार्य्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात् ।४।

पदा०-अकार्य्यत्वात् । च । ततः । पुनर्विशेषः । स्यात् ।

पदा०-(च) और (अकार्य्यत्वात्) दान के योग्य न होने के कारण (ततः) भूमि आदिकों से (पुनर्विशेषः) अश्वादिकों की विशेषता (स्यात्) है।

भाष्य-युद्ध के अत्यन्त उपयोगी होने के कारण अश्वादि का दान यजमान कदापि न दे यह पदार्थ सर्वथा अदेय हैं।

सं०-ननु, क्षत्रिय यजमान तो उक्त याग में आत्मसमर्पण तक करदेते हैं फिर अश्वादि दानों का निषेध क्यों? उत्तर:-

नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः । ५ ।

पद०-नित्यत्वात् । च । अनित्यैः । नास्ति । सम्बन्धः ।

पदा०-(च) और (नित्यत्वात्) आत्मा नित्य होने से (अनित्यैः) अनित्य पदार्थों के साथ उसका (सम्बन्धः) सम्बन्ध (नास्ति) नहीं है।

भाष्य-आत्मसमर्पण का कारण यह है कि आत्मा नित्य होने से उसका अनित्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध नहीं, इस उच्च उद्देश्य से आत्मसमर्पण का विधान किया है और व्यावहारिक अभ्युदय

को लक्ष्य रखकर अश्वादि दान का निषेध है, इसलिये कोई दोष नहीं।

सं०–ननु, क्या शूद्र भी उक्त याग में दान दे ? उत्तर :–

शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् । ६ ।

पद०–शूद्रः । च । धर्मशास्त्रत्वात् ।

पदा०–(च) और (शूद्रः) शूद्र को भी उक्त याग में दान का अधिकार है, क्योंकि (धर्मशास्त्रत्वात्) धर्मशास्त्र में उसका भी सेवारूप धर्म वर्णन किया है।

भाष्य–वैदिकसिद्धान्त में शूद्रत्वादि धर्म औपाधिक हैं जन्म से नहीं, धर्मशास्त्र में वर्णत्रय की सेवा करना शूद्र का धर्म कथन किया है परन्तु यहां जाति के अभिप्राय से शूद्र का कथन नहीं किन्तु गुण कर्म के अभिप्राय से है, इसलिये विश्वजित् याग में शूद्र को भी दान देने का अधिकार है।

सं०–अब दातव्य पदार्थ देने का काल कथन करते हैं :–

दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीयेत तद्दानसंयोगात् । ७ ।

पद०–दक्षिणाकाले । यत् । स्वं । तत् । प्रतीयेत । तद्दानसंयोगात् ।

पदा०–(यत्) जो (स्वं) दातव्य पदार्थ हों (तत्) वह (दक्षिणाकाले) दक्षिणाकाल में ही देने चाहियें, क्योंकि (तद्दानसंयोगात्) उक्त याग के सम्बन्ध में (प्रतीयेत) ऐसा ही प्रतीत होता है।

भाष्य–विश्वजित् याग में दातव्य पदार्थों को दक्षिणाकाल में ही देना चाहिये, क्योंकि शास्त्र में तत्काल देना ही विशेषफलप्रद लिखा है यज्ञोत्तर काल में देने की प्रतिज्ञा करना ठीक नहीं।

सं०–अब उक्त याग की समाप्ति में पूर्वपक्ष करते हैं :–

अशेषत्वात्तदन्तः स्यात्कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् । ८ ।

पद०–अशेषत्वात् । तदन्तः । स्यात् । कर्मणः । द्रव्यसिद्धिः त्वात् ।

पदा०–(कर्मणः) उक्त याग सम्बन्धी कोई कर्म (अशेषत्वात्) शेष न रहने से (तदन्तः) दक्षिणाकाल में ही उसकी समाप्ति (स्यात्) होनी चाहिये (द्रव्यसिद्धित्वात्) द्रव्य की सिद्धि होने से।

भाष्य–उक्त याग की समाप्ति दक्षिणा काल में होनी चाहिये, क्योंकि याग का प्रयोजन जो सर्वस्व दान था सो वह दक्षिणाकाल में पूर्ण होने से अब कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

अपि वा शेषकर्मस्यात्क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् । ९ ।

पद०–अपि । वा । शेषकर्म । स्यात् । क्रतोः । प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।

पदा०–"अपि, वा" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (क्रतोः) यज्ञ सम्बन्धी (शेषकर्म) शेषकर्म (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (प्रत्यक्षशिष्टत्वात्) निश्चित पूर्णाहुति आदि कर्म शेष पाये जाते हैं।

भाष्य–दक्षिणा के अनन्तर ही उक्त याग की समाप्ति नहीं होनी चाहिये, जब यजमान सर्वस्व दक्षिणा देचुके उसके पश्चात् परमात्मा के रुद्ररूप प्रतिपादक सूक्तों का पाठ करके पूर्णाहुति देकर यज्ञ को समाप्त करना चाहिये।

सं०–अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:–

तथा चान्यार्थदर्शनम् । १० ।

पद०–तथा । च । अन्यार्थदर्शनम् ।

पदा०–(च) और (तथा) ऐसे ही (अन्यार्थदर्शनम्) उदाहरण भी हैं।

भाष्य–परमात्मा के रुद्ररूप को बोधन करने वाले अनेक मंत्र वेदों में पायेजाते हैं।

सं०–अब शेष सम्पूर्ण शाकल्य की पूर्णाहुति देने में पूर्वपक्ष करते हैं:–

अशेषं तु समञ्जसादानेन शेषकर्म स्यात् । ११ ।

पद०–अशेषं । तु । समञ्जसा । दानेन । शेषकर्म । स्यात् ।

पदा०–"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (शेषकर्म) अन्त का जो शेषकर्म उसके पश्चात् (अशेषं) शेष शाकल्य को (समञ्जसा) सम्पूर्ण प्रकार से (दानेन) हवनाग्नि में आहुति देने से (स्यात्) पूर्ण होता है।

भाष्य–पूर्णाहुति में शेष सम्पूर्ण शाकल्य का हवन करदेना

चाहिये, क्योंकि यज्ञ की पूर्ति शेष सम्पूर्ण शाकल्य का हवन करदेने से ही होती है अन्यथा नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

नादानस्यानित्यत्वात् । १२ ।

पद०—न । आदानस्य । अनित्यत्वात् ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (आदानस्य) शेष शाकल्य के भक्षण की जो विधि वह (अनित्यत्वात्) अनित्य होने से पूर्ण नहीं होती ।

भाष्य—यज्ञशेष का भक्षण पूर्व प्रकृति याग में भले प्रकार वर्णन कर आये हैं, शेष सम्पूर्ण शाकल्य की हवन में आहुति देना ठीक नहीं, भक्षण योग्य शाकल्य रखकर शेषभाग की पूर्णाहुति देना चाहिये।

सं०—ननु, पूर्णाहुति में यज्ञशेष सम्पूर्ण शाकल्य का हवन करना कथन किया है और ऋत्विजादिकों का भक्षण करना भी लिखा है, यह परस्पर विरोध क्यों ? उत्तर :-

दीक्षासु तु निर्देशादक्रत्वर्थेनसंयोगस्त-स्मादविरोधः स्यात् । १३ ।

पद०—दीक्षासु । तु । निर्देशात् । अक्रत्वर्थेन । असंयोगः । तस्मात् । अविरोधः । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द विरोध निवारणार्थ आया है (दीक्षासु) दीक्षाकाल में (निर्देशात्) यज्ञशेष के भक्षण का विधान पायेजाने

से (अक्रत्वर्थेन) क्रतु के अर्थ जो होम उसके साथ (असंयोगः) यज्ञशेष के भक्षण का सम्बन्ध नहीं (तस्मात्) इसलिये (अविरोधः) उक्त दोनों का अविरोध (स्यात्) है ।

भाष्य—यज्ञशेष भक्षणार्थ ही होता है पूर्णाहुति के लिये नहीं, पूर्णाहुति सम्पूर्ण द्रव्य की नहीं दीजाती, यज्ञशेष जो भक्षणार्थ है उसको छोड़कर दीजाती है, इसलिये यज्ञशेष भक्षण के साथ पूर्णाहुति का विरोध नहीं ।

सं०—अब अहर्गण अष्टरात्र याग जो आठदिन में पूर्ण होता है उसमें सर्वस्व दक्षिणा का विधान कथन करते हैं :-

अहर्गणे च तद्धर्मास्यात्सर्वेषाम-विशेषात् । १४ ।

पद०—अहर्गणे । च । तद्धर्मा । स्यात् । सर्वेषां । अविशेषात् ।

पदा०—(च) और (अहर्गणे) अहर्गण याग में (तद्धर्मा) विश्वजित् याग के धर्म पायेजाते हैं, इसलिये (सर्वेषां) सर्वस्व दक्षिणा की (अविशेषात्) सम्पूर्ण रीति से विधि पाई जाती है।

भाष्य—विश्वजित् याग का वर्णन पीछे पञ्चमपाद में विस्तार पूर्वक कर आये हैं उसमें सर्वस्व दक्षिणा का विधान है, अहर्गण याग में भी सम्पूर्ण धर्म विश्वजित् के पाये जाते हैं, इसलिये इस याग में भी सर्वस्व दक्षिणा देनी चाहिये ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :-

द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् । १५ ।

पद०-द्वादशशतं । वा । प्रकृतिवत् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (प्रकृतिवत्) प्रकृति याग के सामान अहर्गण याग की (द्वादशशतं) बारहसौ रुपये दक्षिणा है ।

भाष्य-जैसे ज्योतिष्टोम याग की बारहसौ रुपये दक्षिणा है इसी प्रकार इस याग की भी इतनी ही दक्षिणा होनी चाहिये, क्योंकि ज्योतिष्टोम याग अहर्गण याग की प्रकृति है, इसलिये तुल्य दक्षिणा का ही विधान है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अतद्गुणत्वात्तु नैवं स्यात् । १६ ।

पद०-अतद्गुणत्वात् । तु । न । एवं । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष के निवारणार्थ आया है (न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (अतद्गुणत्वात्) उक्त याग में ज्योतिष्टोम के धर्म नहीं पाये जाते, इसलिये (एवं) इस प्रकार का विधान नहीं (स्यात्) होसक्ता ।

भाष्य-अहर्गण याग में विश्वजित् याग के धर्म पाये जाते हैं ज्योतिष्टोम के नहीं, इसलिये इसकी बारहसौ रुपया दक्षिणा ठीक नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

लिङ्गदर्शनाच्च । १७ ।

पद०-लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग भी ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"हीयते वा एषः पशुभिर्यो विश्वजिति सर्वे न ददाति"=वह पशुओं से हीन होजाता है जो विश्वजित् याग में सर्वस्व दक्षिणा नहीं देता, इस लिङ्ग से स्पष्ट पायाजाता है कि अहर्गण याग की भी सर्वस्व दक्षिणा है, क्योंकि दोनों के धर्म समान हैं, इसलिये अहर्गण याग में भी सर्वस्व दक्षिणा देनी चाहिये न्यून नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:-

विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात्। १८।

पद०-विकारः। सन्। उभयतः। अविशेषात्।

पदा०-(विकारः, सन्) विकाररूप अहर्गण याग (उभयतः) दोनों अवस्थाओं में होसक्ता है, क्योंकि (अविशेषात्) कोई विशेषता नहीं पाईजाती।

भाष्य-जिस पुरुष के पास द्वादशशत रुपया हो वह भी अहर्गण याग करसक्ता है और न्यून धन वाला भी करसक्ता है दोनों अवस्थाओं में उक्त याग होसक्ता है, इसलिये द्वादशशत दक्षिणा का विधान ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

अधिकं वा प्रतिप्रसवात्। १९।

पद०-अधिकं। वा। प्रतिप्रसवात्।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निवारणार्थ आया है (अधिकं) सबको उक्त याग करने का अधिकार नहीं, क्योंकि (प्रतिप्रसवात्) उसमें द्वादशशत धन का विधान पायाजाता है।

भाष्य-विश्वजित् याग द्वादशशत धन से न्यून वाला नहीं कर सक्ता, क्योंकि "**एतावता वाव ऋत्विज आनेया अपि-वा सर्वस्वेन**"=इतने से ऋत्विज आवें वा सर्वस्व से, इत्यादि वाक्यों से पायाजाता है कि द्वादशशत से न्यून धन में ऋत्विज नहीं आसक्ते, इससे सिद्ध है कि सबके लिये विश्वजित् याग का अधि-कार नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:-

अनुग्रहाच्चपादवत्।२०।

पद०-अनुग्रहात्। च। पादवत्।

पदा०-(च) और (अनुग्रहात्) अधिक का ग्रहण करने से (पादवत्) पाद के समान द्वादशशत भी बीच में आजाते हैं।

भाष्य-जिस प्रकार कार्षापण मोहर के देने से उसके पाद-स्थानीय चतुर्थांश बीच में आजाते हैं इसी प्रकार अधिक के कथन करने से द्वादशशत भी बीच में आजाते हैं, इसलिये न्यून धन वाले को अधिकार नहीं होसक्ता।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:-

अपरिमिते शिष्टस्य संख्याप्रतिषेधस्त-च्छ्रुतित्वात्।२१।

पद०–अपरिमिते । शिष्टस्य । संख्याप्रतिषेधः । तच्छ्रुतित्वात् ।

पदा०–(अपरिमिते) अपरिमित दान का विधान पायेजाने से (शिष्टस्य) उक्त संख्या का (संख्याप्रतिषेधः) निषेध पायाजाता है, क्योंकि (तच्छ्रुतित्वात्) उक्त दान में श्रुति पाई जाती है ।

भाष्य–"शतंदेयं, सहस्रंदेयं, अपरिमितंदेयं," इत्यादि वाक्यों द्वारा विश्वजित् याग में अपरिमित दान का विधान पाया जाता है, इससे सिद्ध है कि न्यून धन वाला विश्वजित् याग नहीं करसक्ता, अपरिमित तथा असंख्यात यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

कल्पान्तरं वा तुल्यवत्प्रसंख्यानात् । २२ ।

पद०–कल्पान्तरं । वा । तुल्यवत्प्रसंख्यानात् ।

पदा०–"वा" शब्द पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ आया है (कल्पान्तरं) अपरिमित शब्द द्वादशशत आदि संख्या का निषेधक नहीं किन्तु (तुल्यवत्प्रसंख्यानात्) उक्त संख्या के बराबर संख्या, कथन करने का हेतु है ।

भाष्य–अपरिमित शब्द के अर्थ यहांपर असंख्यात के नहीं किन्तु द्वादशशत वा सहस्र की तुल्यता बोधन करता है, क्योंकि उन्हीं के प्रकरण में पढ़ा गया है, इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं ।

सं०–अब और पूर्वपक्ष करते हैं :–

अनियमोऽविशेषात् । २३ ।

पद०–अनियमः । अविशेषात् ।

पदा०-(अविशेषात्) उक्तार्थ में विशेष हेतु न पाये जाने से (अनियमः) तुल्यार्थ में कोई नियामक नहीं।

भाष्य-तुल्यार्थता में कोई विशेष हेतु नहीं पायाजाता, इसलिये सहस्र वा द्वादशशत के बराबर ही अपरिमित शब्द का अर्थ लेना चाहिये, यह ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

अधिकं वा स्याद्बह्वर्थत्वादितरेषां संनिधानात्। २४।

पद०-अधिकं। वा। स्यात्। बह्वर्थत्वात्। इतरेषां। संनिधानात्।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के समाधानार्थ आया है (अधिकं) अपरिमितशब्द द्विशत आदि संख्या से अधिक का वाचक (स्यात्) है (बह्वर्थत्वात्) बहुत अर्थ का वाचक होने से क्योंकि (इतरेषां) इतर जो सहस्र वा द्विशत आदि संख्या हैं उनकी (संनिधानात्) संनिधि में पढ़ागया है।

भाष्य-"शतंदेयं, सहस्रंदेयं, अपरिमितंदेयं," इत्यादि वाक्यों की सन्निधि में अपरिमित शब्द पढ़ा है इनसे अधिकार्थ का वाचक है असंख्यात का वाचक नहीं अर्थात् अपरिमित शब्द बहुत धन के अभिप्राय से आया है सर्वथा अपरिमित के अभिप्राय से नहीं, इससे सिद्ध है कि प्रचुर धन वाले ही विश्वजित् याग करसक्ते हैं अन्य नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

अर्थवादश्चतद्वत् । २५ ।

पद०—अर्थवादः । च । तद्वत् ।

पदा०—(च) और (अर्थवादः) जैसे स्तुति वा निन्दा के अभिप्राय से कुछ बढ़ाकर कथन करदिया जाता है (तद्वत्) इसी प्रकार अपरिमित शब्द है ।

भाष्य— अपरिमित शब्द यहां अर्थवाद के अभिप्राय से है धन के ग्रहणार्थ नहीं अर्थात् विश्वजित् याग में प्रचुर धन का ग्रहण है इससे सिद्ध है कि उक्त याग में प्रचुर धन वाले को ही यजमान बनना चाहिये न्यून धन वाले को नहीं ।

सं०—अब पूर्वसृष्टि के पुरुषों के अपूर्व सामर्थ्य कथन करने वाले वाक्यों में अर्थवाद का निरूपण करते हैं :-

परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम् । २६ ।

पद०—परकृतिपुराकल्पं । च । मनुष्यधर्मः । स्यात् । अर्थाय । हि । अनुकीर्तनम् ।

पदा०—(परकृतिपुराकल्पं) सृष्टि से पूर्व कल्पों के मनुष्यों में (च) भी (मनुष्यधर्मः) मनुष्यों के धर्म (स्यात्) हैं (अर्थाय) इस अर्थ के बोधनार्थ (हि) निश्चय करके (अनुकीर्त्तनम्) शास्त्रों में अनुकीर्तन कथन किया गया है ।

भाष्य—"सदाचारेण पुरुषः शतवर्षाणि जीवति"= सदाचार से पुरुष सौ वर्ष जीता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि

पूर्वसृष्टि के लोग भी मनुष्यों ही के धर्म वाले थे कोई अलौकिक सामर्थ्य वाले न थे।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:-

तद्युक्ते च प्रतिषेधात्। २७।

पद०-तद्युक्ते। च। प्रतिषेधात्।

पदा०-"च" शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है (तद्युक्ते) पूर्वकल्प में मनुष्य के धर्मों का विधान मानना ठीक नहीं, क्योंकि (प्रतिषेधात्) उनका निषेध पायाजाता है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

निर्देशाद्वा तद्धर्मःस्यात् पञ्चावत्तवत्।२८।

पद०-निर्देशात्। वा। तद्धर्मः। स्यात्। पञ्चावत्तवत्।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (पञ्चावत्तवत्) पञ्चभौतिक देह के समान (निर्देशात्) निर्देश पाये जाने से (तद्धर्मः) मनुष्यों के धर्मों वाले मानना ही (स्यात्) ठीक है।

भाष्य-जिस प्रकार इस सृष्टि के पुरुषों के देह भौतिक हैं इसी प्रकार आदि सृष्टि के पुरुषों के देह भी भौतिक थे और इसी प्रकार अन्य धर्म भी समान थे कोई अलौकिक सामर्थ्य न थे।

सं०-अब उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये वेद प्रमाण कथन करते हैं:-

विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात्। २९।

पद०–विधौ । तु । वेदसंयोगात् । उपदेशः । स्यात् ।

पदा०–"तु" शब्द दृढ़ता के लिये आया है (विधौ) उक्त विधान में (वेदसंयोगात्) वेद के सम्बन्ध द्वारा (उपदेशः) उपदेश पायाजाता (स्यात्) है ।

भाष्य–"पश्येम शरदः शतं जीवेमशरदः" यजु० ३६। २४=सौवर्ष तक देखूं, सौवर्ष तक जीतारहूं, इत्यादि मंत्रों से सिद्ध है कि पूर्वसृष्टि में मनुष्यों ही के धर्म थे, पौराणिक लोगों के मन्तव्यानुसार सहस्रों वर्षों की आयु प्राचीन लोगों की कदापि न थी ।

सं०–अब अर्थवाद की रीति से समाधान करते हैं :–

अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् । ३० ।

पद०–अर्थवादः । वा । विधिशेषत्वात् । तस्मात् । नित्यानुवादः । स्यात् ।

पदा०–"वा" शब्द समाधानार्थ आया है (अर्थवादः) सहस्रों वर्षों की आयु का कथन अर्थवाद है (विधिशेषत्वात्) वेद प्रमाण पाये जाने से (तस्मात्) इसलिये (नित्यानुवादः) वेदार्थ काही अनुवादक अर्थवाद शास्त्र है अन्यार्थ का विधायक नहीं ।

भाष्य–उक्त मंत्रों द्वारा पाया जाता है कि वास्तव में पुराकल्पीय लोगों की आयु आदि धर्म मनुष्यों के सदृश ही थे, कहीं २ अर्थवाद से बढ़ाकर वर्णन करदिये हैं–जिसको पौराणिक झलक समझना चाहिये ।

सं०–अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :–

सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसंभवात् मनुष्येषु । ३१ ।

पद०–सहस्रसंवत्सरं । तदायुषाम । असंभवात् । मनुष्येषु ।

पदा०–(सहस्रसंवत्सरं) "दिव्यंवर्षसहस्रं" इस वाक्य में सहस्र वर्ष की आयु पाये जाने से (तदायुषाम्) उक्त आयु वाले होना (मनुष्येषु) मनुष्यों में (असंभवात्) असंभव पायेजाने से आदि सृष्टि के लोगों में मनुष्यों के धर्म न थे ।

भाष्य–"दिव्यंवर्षसहस्रं" इत्यादि वाक्यों से पुराकल्पीय लोगों की आयु सहस्र वर्ष की पाई जाती है और उक्त आयु मनुष्यों में नहीं होसकती, इससे सिद्ध है कि आदि सृष्टि के इन्द्रादि लोग मनुष्य धर्मों वाले कदापि न थे ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मःस्यात् ।३२।

पद०–अपि । वा । तदधिकारात् । मनुष्यधर्मः । स्यात् ।

पदा०–"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निवारणार्थ आया है (तदधिकारात्) अध्ययनाध्यापन में मनुष्यों का अधिकार पाये जाने से (अपि) भी (मनुष्यधर्मः) मनुष्यों का ही धर्म (स्यात्) है देवों का नहीं ।

भाष्य–अध्ययनाध्यापन में मनुष्यों का ही अधिकार पायाजाता है इसलिये उक्त वाक्य में मनुष्यों का ही अधिकार है अन्य कल्पित वा भौतिक देवों का नहीं ।

सं०—अब और युक्ति कथन करते हैं :—

नासामर्थ्यात् । ३३ ।

पद०—न । असामर्थ्यात् ।

पदा०—(असामर्थ्यात्) सामर्थ्य न पाये जाने से (न) कल्पित देवों का अध्ययन में सम्बन्ध नहीं पायाजाता ।

भाष्य—यद्यपि देव शब्द का प्रयोग इन्द्रादि देवों में भी किया जाता है तथापि यहां उनका ग्रहण इसलिये नहीं कियाजासक्ता कि अध्ययनाध्यापन में उनका सामर्थ्य नहीं अर्थात् जब देव शब्द से सूर्य्यादिकों का ग्रहण होता है तो उनका उक्त सामर्थ्य नहीं पायाजाता मनुष्यों का ही पायाजाता है, इसलिये उन्हीं का ग्रहण है जड़ देवों का नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :—

सम्बन्धादर्शनात् । ३४ ।

पद०—एकपद० ।

पदा०—(सम्बन्धादर्शनात्) जड़ देवों का शास्त्र में अध्ययनाध्यापन का सम्बन्ध नहीं पायाजाता ।

भाष्य—अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञ सिध्यर्थं ऋग्यजुः साम लक्षणम् ॥ मनु

इत्यादि मनु धर्मशास्त्र में जो अध्ययनाध्यापन का सम्बन्ध कथन किया है वह चेतनों का है जड़ों का नहीं, इसलिये सम्बन्ध के देखे जाने से भी सिद्ध है कि मनुष्यों का ही ग्रहण है जड़ों का नहीं ।

सं०—अब और पूर्वपक्ष करते हैं :—

स कुलकल्पःस्यादितिकार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात् । ३५ ।

पद०—स । कुलकल्पः । स्यात् । इति । कार्ष्णाजिनिः । एकस्मिन् । असम्भवात् ।

पदा०—(कार्ष्णाजिनिः) कार्ष्णाजिनि आचार्य्य (इति) यह (स्यात्) मानते हैं कि जो (कुलकल्पः) दिव्यसहस्रवर्ष अध्ययन लिखा है (स) वह एक कुल का है, क्योंकि (एकस्मिन्) एक पुरुष में (असम्भवात्) उक्त अर्थ की असम्भवता पाईजाती है ।

भाष्य—कार्ष्णाजिनि आचार्य्य का मत यह है कि एक पुरुष किसी प्रकार भी सहस्र वर्ष अध्ययनाध्यापन नहीं करसकता, इसलिये एक कुल का अभिप्राय समझना चाहिये एक पुरुष का नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् । ३६ ।

पद०—अपि । वा । कृत्स्नसंयोगात् । एकस्य । एव । प्रयोगः । स्यात् ।

पदा०—"अपि, वा" शब्द पूर्वसिद्धान्त के खण्डनार्थ आया है (कृत्स्नसंयोगात्) कृत्स्न शब्द के साथ सम्बन्ध पायेजाने से (एकस्य) एक का ही (एव) निश्चय करके (प्रयोगः) सम्बन्ध (स्यात्) है ।

भाष्य—उक्त वाक्य में कृत्स्न शब्द का सम्बन्ध पाये जाने से

स्पष्ट है कि एक के ही अध्ययन में तात्पर्य्य है कुल के अध्ययन में नहीं।

सं०—अब लावुकायन ऋषि के मत से पूर्वपक्ष करते हैं :—

विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्यतरः स्यादिति लावुकायनः । ३७ ।

पद०—विप्रतिषेधात् । तु । गुण्यन्यतरः । स्यात् । इति । लावुकायनः ।

पदा०—"तु" शब्द पुनः पूर्वपक्ष के लिये आया है (विप्रतिषेधात्) पूर्वोत्तर विरोध पायेजाने से (लावुकायनः) लावुकायन ऋषि (इति) यह मानते हैं कि (गुण्यन्यतरः) दिव्यवर्षसहस्र का अध्ययन गौण है ।

भाष्य—लावुकायन ऋषि का मत यह है कि एक मनुष्य का सहस्रवर्ष पर्य्यन्त अध्ययनाध्यापन "सिंहो देवदत्तः"=देवदत्त सिंह है, इस दृष्टान्त के समान गौण है मुख्य नहीं अर्थात् चिरकाल के अभिप्राय से कथन किया है मुख्यता से नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

संवत्सरो विचालित्वात् । ३८ ।

पद०—संवत्सरः । विचालित्वात् ।

पदा०—(संवत्सरः) संवत्सर शब्द (विचालित्वात्) एक अर्थ का वाचक नहीं ।

भाष्य–संवत्सर शब्द कहीं ऋतुओं का वाचक है, कहीं चन्द्रमा का और कहीं दिन का वाचक है, इसलिये उक्त शब्द को गौण मानना ठीक नहीं किन्तु योग्यता के अनुसार मानने से ही व्यवस्था बनसक्ती है अन्यथा नहीं ।

सं०–अब और पूर्वपक्ष करते हैं :–

सा प्रकृतिः स्यादधिकारात् । ३९ ।

पद०–सा । प्रकृतिः । स्यात् । अधिकारात् ।

पदा०–(सा) उक्त वर्षों वाली (प्रकृतिः) मनुष्य व्यक्ति ही (स्यात्) लीजासक्ती है, क्योंकि (अधिकारात्) मनुष्यों का ही अधिकार पायाजाता है ।

भाष्य–सहस्र संवत्सरों वाली मनुष्य व्यक्ति ही लीजासक्ती है, क्योंकि मनुष्यों का ही अध्ययनाध्यापन में अधिकार पायाजाता है अन्य जड़ देवादि का नहीं ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

अहानि वाऽभिसंख्यत्वात् । ४० ।

पद०–अहानि । वा । अभिसंख्यत्वात् ।

पदा०–"वा" शब्द उक्त सिद्धान्त के सूचनार्थ आया है (अहानि) दिन में संवत्सर शब्द वर्त्तता है, क्योंकि (अभिसंख्यत्वात्) दिन का भले प्रकार कथन पायाजाता है ।

भाष्य–संवत्सर शब्द का दिन में वर्त्तने का प्रकार यह है कि जब आदित्य उदय होता है तब वसन्त, जब मध्य दिन होता है तब वर्षा, जब भले प्रकार उदय होजाता है तब ग्रीष्म, एवं षट् ऋतु

एक दिन में वर्त्ते जाते हैं, इस प्रकार संवत्सर शब्द दिन का वाचक है वर्ष का नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जिन वाक्यों में सहस्र संवत्सर का आयु लिखा है वहां संवत्सर शब्द से दिन लेना चाहिये वर्ष नहीं, इस प्रकार व्यवस्था करने में आयु विधायक वेद शास्त्र से कोई विरोध नहीं आता और न कोई असम्भवतारूपी दोष आता है।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये

षष्ठाध्याये सप्तमः

पादः

ओ३म्

। अथ षष्ठाध्याये अष्टमःपादः प्रारभ्यते ।

सङ्गति–अब "चतुर्होतृ" होमों को संस्कृताग्नि में करने का पूर्वपक्ष करते हैं :–

इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्व-ग्निषु स्यादपूर्वोऽप्याधानस्य सर्व-शेषत्वात् । १ ।

पद०–इष्टिपूर्वत्वात् । अक्रतुशेषः । होमः । संस्कृतेषु । अग्निषु । स्यात् । अपूर्वः । अपि । आधानस्य । सर्वशेषत्वात् ।

पदा०–(अक्रतुशेषः) यज्ञ का अनङ्गभूत (होमः) होम (संस्कृतेषु, अग्निषु) संस्कृत अग्नियों में (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (अपूर्वः, अपि) उक्त अपूर्व होम होनेपर भी (आधानस्य) अग्न्याधान (इष्टिपूर्वत्वात्) पवमान इष्टि साध्य होने से (सर्वशेष-त्वात्) सब होमों का अङ्ग है ।

भाष्य–"प्रजाकामं चतुर्होत्रा याजयेत्"=प्रजा की कामना वाला पुरुष चतुर्होत्री होम से याग करावे, इत्यादि वाक्यों में प्रतिपादन किये हुए होम का नाम "चतुर्होतृ" होम है, उक्त होम संस्कृताग्नियों में ही करना चाहिये, क्योंकि यह होम अन्य

होमों का अङ्ग है, इसलिये यह आहवनीय आदि होमों की आकांक्षा करता है, इससे सिद्ध है कि उक्त होम संस्कृताग्नियों में ही कर्तव्य है असंस्कृताग्नियों में नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतॄनसंस्कृतेषु दर्शयति ।२।

पद०—इष्टित्वेन । तु । संस्तवः । चतुर्होतॄन् । असंस्कृतेषु । दर्शयति ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ आया है (इष्टित्वेन) इष्टिरूप से (संस्तवः) स्तुति (चतुर्होतॄन्) चतुर्होतृ होमों को (असंस्कृतेषु) असंस्कृत अग्नियों में (दर्शयति) दिखलाती हैं।

भाष्य—"एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टि यच्चतुर्होतारः"= चतुर्होता होम अनाहिताग्नियों की इष्टियें हैं, इस प्रकार इष्टिरूप कथन पाये जाने से स्पष्ट है कि चतुर्होतृ होम असंस्कृत अग्नियों में ही होता है संस्कृत अग्नियों में नहीं।

सं०—ननु, जब उक्त होम असंस्कृत अग्नियों में ही होता है तो फिर उसके विधान की क्या आवश्यकता है ? उत्तर :—

उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ।३।

पद०—उपदेशः । तु । अपूर्वत्वात् ।

पदा०—"तु" शब्द आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (उपदेशः) पूर्वोक्त होमों का उपदेश (अपूर्वत्वात्) अपूर्व विधि के अभिप्राय से है।

सं०-अब यज्ञ के अनङ्गभूत तथा अङ्गभूत दोनों प्रकार के चतुर्होतृ होमों को आहिताग्नि में करने का पूर्वपक्ष करते हैं :-

स सर्वेषामविशेषात् । ४ ।

पद०-स । सर्वेषाम् । अविशेषात् ।

पदा०-(स) पूर्वोक्त विधि (सर्वेषां) यज्ञ के अङ्गभूत तथा अनङ्गभूत दोनों प्रकार के होमों का विधान करती है, क्योंकि (अविशेषात्) कोई विशेषता नहीं पाई जाती ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूतनिर्देशः । ५ ।

पद०-अपि । वा । क्रत्वभावात् । अनाहिताग्नेः । अशेषभूतनिर्देशः ।

पदा०-"अपि, वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के समाधानार्थ आया है (क्रत्वभावात्) यज्ञरूप न होने से (अशेषभूतनिर्देशः) यज्ञ का अनङ्गभूत कथन (अनाहिताग्नेः) अनाहिताग्नियों का है ।

भाष्य-चतुर्होतृ होम जो यज्ञ का अनङ्गभूत हैं उन्हीं के लिये यह विधि है कि वह अनाहिताग्नि में किये जायं और जो यज्ञ का अङ्गभूत हैं उनके लिये विधि की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो प्रथम ही विहित हैं अतएव उनके लिये विधि मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब और पूर्वपक्ष करते हैं :-

जपो वाऽनग्निसंयोगात् । ६ ।

पद०—जपः । वा । अनग्निसंयोगात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है (जपः) अनाहिताग्नियों की इष्टि अर्थवाद है, क्योंकि (अनग्निसंयोगात्) अग्नि के साथ सम्बन्ध नहीं पायाजाता ।

भाष्य—जो यह कथन किया गया है कि उक्त चतुर्होतृ होम यज्ञ का अनङ्गभूत हैं यह बात अर्थवाद है, क्योंकि आहिताग्नि से बिना होम नहीं कहलासक्ता, इसलिये उक्त कथन अर्थवाद है इष्टि नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

इष्टित्वेन तु संस्तुते होमःस्यादनारभ्याग्नि संयोगादितरेषामवाच्यत्वात् । ७ ।

पद०—इष्टित्वेन । तु । संस्तुते । होमः । स्यात् । अनारभ्याग्निसंयोगात् । इतरेषाम् । अवाच्यत्वात् ।

पदा०—" तु " शब्द उक्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लियेआया है (इष्टित्वेन) इष्टिरूप से (संस्तुते) वर्णन होने के कारण (होमः) उक्त चतुर्होतृ कर्म होम (स्यात्) है, क्योंकि (अनारभ्याग्निसंयोगात्) अनाहिताग्नि के साथ उसका सम्बन्ध पाया जाता है (इतरेषां) और कर्मों का (अवाच्यत्वात्) वाचक न होने से ।

भाष्य—निम्नलिखित हेतुओं से पायाजाता है कि उक्त कर्म होम हैं अर्थवाद नहीं, पहली बात यह है कि उक्त कर्मों का इष्टिरूप से वर्णन किया है दूसरे असंस्कृताग्नि में हवन करने का विधान कियागया है और तीसरे उक्त कर्म हवन से भिन्न अन्य किसी कर्म

के वाचक नहीं, इत्यादि हेतुओं से सिद्ध है कि उक्त कर्म होम ही है अन्य नहीं।

सं०-अब आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि दोनों के कर्म होने का पूर्वपक्ष करते हैं:-

उभयोः पितृयज्ञवत् । ८ ।

पद०-उभयोः । पितृयज्ञवत् ।

पदा०-(पितृयज्ञवत्) पितृयज्ञ के समान (उभयोः) उक्त दोनों होम कर्म है ।

भाष्य-जिस प्रकार पितृयज्ञ कर्म को आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि पुरुष करसकते हैं इसीप्रकार चतुर्होतृ कर्म भी दोनों प्रकार के पुरुषों का है अर्थात् आहित तथा अनाहित दोनों प्रकार की अग्नियों से उक्त कर्म कियाजासकता है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

निर्देशो वाऽनाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयोगात् । ९ ।

पद०-निर्देशः । वा । अनाहिताग्नेः । अनारभ्याग्निसंयोगात् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (निर्देशः) उक्त होमों का अनाहिताग्नि में ही निर्देश पायाजाता है, क्योंकि (अनारभ्याग्निसंयोगात्) इसी अग्नि के साथ उक्त होमों का सम्बन्ध है ।

भाष्य-"आहवनीये जुहोति" इत्यादि वाक्य चतुर्होतृ

होमों के अधिकार से प्रवृत्त नहीं होते किन्तु अन्य होमों के अधिकार से प्रवृत्त होते हैं इससे पायाजाता है कि उक्त होम असंस्कृताग्नियों में होते हैं ।

सं०-अब उक्त पितृयज्ञ के दृष्टान्त में विषमता कथन करते हैं:-

पितृयज्ञेसंयुक्तस्यपुनर्वचनम् । १० ।

पद०-पितृयज्ञे । संयुक्तस्य । पुनर्वचनम् ।

पदा०-(पितृयज्ञे) पितृयज्ञ में (संयुक्तस्य) अग्न्याधान संयुक्त का (पुनर्वचनम्) भिन्न वचन है ।

भाष्य-पितृयज्ञ विषयक आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि दोनों के बोधक भिन्न २ वचन पायेजाते हैं इसलिये पितृयज्ञ के दृष्टान्त से चतुर्होतृ होमों को आहित तथा अनाहित उभय साधारण कथन करना ठीक नहीं ।

सं०-अब उपनयन सम्बन्धी होमों में आहिताग्नि में हवन का पूर्वपक्ष करते हैं:-

उपनयन्नादधीत होमसंयोगात् । ११ ।

पद०- । उपनयन् । आदधीत । होमसंयोगात् ।

पदा०-(उपनयन्) उपनयन काल में (आदधीत) आहिताग्नि में होम करे, क्योंकि (होमसंयोगात्) होम के साथ सम्बन्ध पाया जाता है ।

भाष्य-"आहवनीये जुहोति" इत्यादि वाक्यों से पाया जाता है कि उपनयन सम्बन्धी होम आहिताग्नि में होने चाहियें अनाहिताग्नि में नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

स्थपतीष्टिवल्लौकिके वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् । १२ ।

पद०—स्थपतीष्टिवत् । लौकिके । वा । विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के समाधानार्थ आया है (स्थपतीष्टिवत्) स्थपति इष्टि के समान (लौकिके) लौकिक अग्नि में उपनयन सम्बन्धी होम होना चाहिये, क्योंकि (विद्याकर्मानुपूर्वत्वात्) ब्रह्मविद्या का साधन जो उपनयनरूप कर्म उससे पूर्व है ।

भाष्य—उपनयन सम्बन्धी हवन लौकिक अग्नि में ही होना चाहिये, क्योंकि वह होम विद्या ग्रहणार्थ ही किये जाते हैं और विद्या से अनन्तर अग्न्याधान का अधिकार उत्पन्न होता है, इसलिये अनाहिताग्नि में ही उक्त होम होना चाहिये आहिताग्नि में नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :—

आधानं च भार्यासंयुक्तम् । १३ ।

पद०—आधानं । च । भार्यासंयुक्तम् ।

पदा०—(च) और (आधानं) अग्न्याधान का विधान (भार्यासंयुक्तम्) स्त्रीसंयुक्त को ही है ।

भाष्य—अग्न्याधान का अधिकार स्त्री वाले के लिये ही है इससे सिद्ध है कि उपनयन सम्बन्धी होम लौकिकाग्नि में ही होना चाहिये ।

सं०—अब अग्न्याधानार्थ भार्य्याद्वय के ग्रहण में आशङ्का करते हैं :—

अकर्म चोर्ध्वमाधानात्तत्समवायो हि कर्मभिः । १४ ।

पद०—अकर्म । च । ऊर्ध्वम् । आधानात् । तत् । समवायः । हि । कर्मभिः ।

पदा०—"च" शब्द आशङ्का के लिये आया है (आधानात्) अग्न्याधान मे (उर्ध्वम्) पश्चात् जो भार्य्या का ग्रहण है (तत्) वह (अकर्म) अकर्म है (हि) क्योंकि (कर्मभिः) कर्मों के साथ (समवायः) उस भार्य्या का सम्बन्ध उपनयन काल से पश्चात् होता है ।

भाष्य—यदि कोई पुरुष अग्न्याधान के लिये एक भार्य्या प्रथम विवाह ले और एक उपनयन से पश्चात् विवाह ले, इस प्रकार दो भार्य्याओं के होने से आहवनीयाग्नि में उपनयन सम्बन्धी हवन हो जायगा, इसमें कोई दोष नहीं, इस आशङ्का का सूत्रकार ने यह समाधान किया है कि ऐसा करने से दूसरी भार्य्या का कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा, क्योंकि एक भार्य्या का कर्म के साथ सम्बन्ध होने से दूसरी का नहीं होसक्ता ।

सं०—अब और आशङ्का करते है :—

श्राद्धवदिति चेत् । १५ ।

पद०—श्राद्धवत् । इति । चेत् ।

पदा०—(श्राद्धवत्) श्राद्धकर्म के समान उपनयन सम्बन्धी हवन आहित तथा अनाहित दोनों अग्नियों में किया जाता है (चेत्)

यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:—

न श्रुतिविप्रतिषेधात् । १६ ।

पद०—न । श्रुतिविप्रतिषेधात् ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (श्रुतिविप्रतिषेधात्) दो भार्य्याओं से विवाह का निषेध पायाजाता है ।

भाष्य—यद्यपि श्राद्धकर्म श्रद्धाभक्ति से मातापिता तथा आचार्य्यादिकों को भोजन करानेरूप कर्म का आहित अनाहित उभय साधारण है अर्थात् जिसको अन्याधान का अधिकार है वह भी उक्त कर्म करसकता है और जिसको नहीं वहभी करसकता है तथापि उपनयन सम्बन्धी होम में उक्त रीति नहीं बनसकती, क्योंकि भार्य्यासंयुक्त को शास्त्र ने अग्न्याधान का अधिकार दिया है और उपनयन संस्कार विवाह से प्रथम होता है, यदि एक उपनयन से प्रथम और दूसरी उपनयन के पश्चात् इस प्रकार दो भार्य्या मानी जायं तो यह वेदविरुद्ध है, इसलिये उपनयन सम्बन्धी हवन अनाहिताग्नि में ही करना चाहिये ।

सं०—ऊपर जो यह कथन किया था कि एक भार्य्या उपनयन से पूर्व अग्न्याधान के लिये रहे और दूसरी केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये, अब इसकी व्यवस्था करते हैं:—

सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् । १७ ।

पद०—सर्वार्थत्वात् । च । पुत्रार्थः । न । प्रयोजयेत् ।

पदा०-"च" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (सर्वार्थत्वात्) धर्मादि सब प्रयोजनों के लिये होने से स्त्री सहधर्मिणी कहलाती है (पुत्रार्थः) केवल पुत्ररूपी (प्रयोजयेत्) प्रयोजन से (न) नहीं।

भाष्य-स्त्री का प्रयोजन केवल सन्तानोत्पत्ति ही नहीं किन्तु यज्ञादि वैदिक कर्म भी पति के साथ करती है इसलिये केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही विवाह करना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:-

सोमपानात्तु प्रापणं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत। १८।

पद०-सोमपानात्।तु।प्रापणं।द्वितीयस्य।तस्मात्।उपयच्छेत्।

पदा०-"तु" शब्द युक्त्यन्तर के लिये आया है (सोमपानात्) सोम पीने वाला (द्वितीयस्य) दूसरी भार्य्या के निषेध को (प्रापणं) प्राप्त (उपयच्छेत्) एक की इच्छा करे (तस्मात्) इसलिये एक ही भार्य्या से विवाह होना चाहिये।

भाष्य-"सोमपो न द्वितीयां जायामभ्यपूयते"= सोम पीने वाला दूसरी भार्य्या को नहीं चाहता, यहां सोमपान वैदिकधर्म का उपलक्षण है अर्थात् वैदिक धर्मावलम्बी दूसरी स्त्री की इच्छा नहीं करता, इससे पायाजाता है कि वैदिक धर्म में केवल एक ही स्त्री की आज्ञा है दो की नहीं।

कई एक टीकाकार उक्त वाक्य द्वारा अनेक स्त्रियों से विवाह की विधि कथन करते हैं, उनकी तर्क यह है कि यदि एक भार्य्या

से ही विवाह की विधि होती तो यह कथन न किया जाता कि सोमपान करने वाला दूसरी स्त्री न करे, इस कथन से स्पष्ट है कि दूसरी भार्य्या की विधि पाई जाती है, यह आशय वर्णन करना उन टीकाकारों की भूल है, क्योंकि उक्त प्रकार के निषेध से यदि विधि कथन कीजाय तो "सुरां न पिबेत्"=मदिरा न पीवें, इस वाक्य से भी सुरा पीने की विधि माननी चाहिये, क्योंकि सुरा पीने की प्रथम विधि होगी तभी निषेध बनेगा।

यह तर्क ऐसा ही तर्काभास है जैसाकि कई एक कहा करते हैं कि "नतस्य प्रतिमास्ति" यह मंत्र ईश्वर की प्रतिमा को विधान करता है, क्योंकि यदि मूर्त्ति न होती तो निषेध क्यों किया जाता, ऐसी कुतर्क करने वाले यह नहीं समझते कि अज्ञान से प्राप्त वस्तु का भी निषेध होता है और अन्यत्र प्राप्त का भी होता है. इसी आशय से सोमपान करने वाले को दो भार्य्याओं का निषेध किया है इससे दो की विधि नहीं पाई जाती।

सं०–पीछे जो यह कथन किया है कि पितृयज्ञ के समान आहित अनाहित उभय साधारण उपनयन सम्बन्धी होम है, अब इसका समाधान करते हैं:–

पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्प्रतीयेत्।१६।

पद०–पितृयज्ञे। तु। दर्शनात्। प्राग्। आधानात्। प्रतीयेत्।

पदा०–"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (पितृयज्ञे) पितृयज्ञ में (दर्शनात्) वाक्य पाये जाने से (आधानात्)

अग्न्याधान से (प्राग्) प्रथम पितृयज्ञ की (प्रतीयेत) प्रतीति होती है।

भाष्य-"अनाहिताग्निना कार्य्या" = अनाहिताग्नि करके पितृयज्ञ करना चाहिये, इस वाक्य से पाया जाता है कि पितृयज्ञ अग्न्याधान से उपरिष्ट किया जाता है और अनाहिताग्नि वाले भी पितृयज्ञ करते हैं, मातापिता की सेवा करना जैसा आहिताग्नि द्विजों का धर्म है इसी प्रकार अनाहिताग्नि शूद्रादिकों का भी धर्म है इसी अभिप्राय से उक्त यज्ञ में दोनों प्रकार के हवन कथन किये हैं परन्तु उपनय न में ऐसा विधान नहीं।

सं०-अब स्थपति इष्टि को आहिताग्नि में करने का पूर्वपक्ष करते हैं:-

स्थपतीष्टिः प्रयाजवदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्ताद-र्थ्याच्चापवृज्येत । २० ।

पद०-स्थपतीष्टिः। प्रयाजवत्। अग्न्याधेयं। प्रयोजयेत्। तादर्थ्यात्। च। अपवृज्येत।

पदा०-(स्तपतीष्टिः) स्थपतीष्टि (प्रयाजवत्) प्रयाज के समान (अग्न्याधेयं) अग्न्याधान को (प्रयोजयेत्) आश्रय करती है (च) और (तादर्थ्यात्) यज्ञ के अभिप्राय वाली होने से (अपवृज्येत) आहिताग्नि के सम्बन्ध को लाभ करती है।

भाष्य-"निषादस्थपतिं याजयेत" = निषादस्थपति को याग करावे, इस वाक्य में जो निषादों के पति की इष्टि विधान कीगई है वह आहिताग्नि में करनी चाहिये अनाहित में नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अपि वा लौकिकेऽग्नौस्यादाधानस्यासर्व शेषत्वात् । २१ ।

पद०-अपि । वा । लौकिके । अग्नौ । स्यात् । आधानस्य । असर्वशेषत्वात् ।

पदा०-"अपि, वा" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (लौकिके, अग्नौ) उक्त इष्टि लौकिक अग्नि में (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (आधानस्य) अग्न्याधान कर्म (असर्वशेषत्वात्) सब के लिये नहीं है ।

भाष्य-स्थपतीष्टि इसलिये आहिताग्नि में नहीं होती कि अग्न्याधान का सब को अधिकार नहीं अर्थात् निषादस्थपति जिसकी उक्त इष्टि है वह अग्न्याधान का अधिकारी नहीं, इसलिये यह इष्टि अनाहित अग्नि में ही होनी चाहिये आहिताग्नि में नहीं ।

सं०-अब अवकीर्णिब्रह्मचारी की इष्टि को अनाहिताग्नि में कथन करते हैं :-

अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् । २२ ।

पद०-अवकीर्णिपशुः । च । तद्वत् । आधानस्य । अप्राप्तकालत्वात् ।

पदा०-"च" शब्द समुच्चय के लिये आया है (अवकीर्णिपशुः) अवकीर्णि पशु की जो इष्टि है वह (तद्वत्) अलौकिकाग्नि

में कीजाती है, क्योंकि (आधानस्य) अग्न्याधान का (अप्राप्त-कालत्वात्) काल प्राप्त नहीं ।

भाष्य—जिस ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य्य व्रत भङ्ग होजाय अर्थात् वह स्त्रीरत होजाय तो ऐसा ब्रह्मचारी अवकीर्णी कहलाता है उसके लिये यह प्रायश्चित्त है कि वह "नैर्ऋतंगर्दभमालभेत" = नैर्ऋतकोण के गर्दभ को स्पर्शकरे, यहां यह सन्देह है कि उक्त इष्टि को ब्रह्मचारी अग्न्याधान करके करे किंवा लौकिकाग्नि में करे ? इसका उत्तर यह है कि उक्त ब्रह्मचारी इस इष्टि को लौकिकाग्नि में करे अर्थात् जब कोई ब्रह्मचारी इस अवस्था को प्राप्त होजाय तो वह अनाहिताग्नि में हवन करके गर्दभ का स्पर्श करे, यह उसके पापका प्रायश्चित्त है, उक्त प्रायश्चित्त पाप निवृत्ति के लिये कथन किया गया है, लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि जब किसी पुरुष से कोई निन्दित कर्म होजाता था तो कई एक राजे महाराजे उसका काला मुंहु करके गर्दभ पर चढ़ाते थे, इसी प्रकार उक्त प्रायश्चित्त भी निन्दा के अभिप्राय से है ।

कई एक टीकाकार अथवा यों कहिये कि हिंसक टीकाकार इसके यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्मचर्य्य नष्ट होने पर जो अवकीर्णि ब्रह्मचारी गर्दभ मारकर हवन करता है वह हवन लौकिकाग्नि में होना चाहिये, यह अर्थ सूत्रकार के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं क्योंकि ब्रह्मचर्य्य तो ब्रह्मचारी का नष्ट हुआ गर्दभ विचारे का क्या अपराध जो अन्यथा सिद्ध माराजाय, बात यह है कि उक्त ब्रह्मचारी गर्दभपशु का स्पर्श करता था इसलिये गर्दभ को अव-कीर्णिपशु कहागया है और उसका स्पर्श करके लौकिकाग्नि में

हवन करता था, इस तत्व को न समझकर हिंसक टीकाकारों ने गर्दभ मारने की प्रथा चलादी है जो वैदिकों को सर्वथा अनादरणीय है ।

सं०-अब चूड़ाकरणादि कर्मों के काल का नियम कथन करते हैं :-

उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु दैवानि स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् । २३ ।

पद०-उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्यहेषु । दैवानि । स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ।

पदा०-(उदगयन०) चूड़ाकरणादि कर्म पवित्र दिनों में होना चाहिये क्योंकि (दैवानि) उक्त देवसम्बन्धी कर्म शुभदिनों में ही किये जाते हैं (स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात्) स्मृति वाक्यों में ऐसाही विधान पायाजाता है ।

भाष्य-उक्तकर्म देवकर्म इसलिये कहेजाते हैं कि इनकी निष्पत्ति समय में परमात्मदेव की उपासना कीजाती है और यह कर्म पवित्र दिन और पवित्र पक्ष में होने चाहियें ।

सं०-अब इनको दिन में करना कथन करते हैं:-

अहनि च कर्मसाकल्यम् । २४ ।

पद०-अहनि । च । कर्मसाकल्यम् ।

पदा०-(च) और (कर्मसाकल्यम्) उक्त सब कर्म (अहनि) दिनमें ही करने चाहियें ।

सं०–अब पित्र्य कर्म को इनमें विलक्षण कथन करते हैं :–

इतरेषु तु पित्राणि । २५ ।

पद०–इतरेषु । तु । पित्राणि ।

पदा०–"तु" शब्द पक्षान्तर के लिये आया है (इतरेषु) सब दिनों में (पित्राणि) पित्र्यकर्म करने चाहियें ।

सं०–अब सोमादि के क्रयण काल में पूर्वपक्ष करते हैं :–

याञ्चाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् । २६ ।

पद०–याञ्चाक्रयणम् । अविद्यमाने । लोकवत् ।

पदा०–(याञ्चाक्रयणम्) भिक्षा और सोम का क्रयण (अविद्यमाने) सब कालों में होना चाहिये, (लोकवत्) जैसाकि लोक में पाया जाता है ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

नियतं वाऽर्थवत्त्वात्स्यात् । २७ ।

पद०–नियतं । वा । अर्थवत्त्वात् । स्यात् ।

पदा०–"वा" अथवा (नियतं) भिक्षादिकों का नियत काल (स्यात्) है, क्योंकि (अर्थवत्वात्) वह अर्थ वाले हैं अर्थात् क्रतु रूप अपूर्व के जनक हैं ।

सं०–अब यवागू आदि व्रतों के काल का अति देश कथन करते हैं :–

तथाभक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम् । २८ ।

पद०—तथा । भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम् ।

पदा०—(तथा) उक्त प्रकार (भक्षप्रैषा०) भक्ष=यवागू आदि व्रत प्रैष = प्रैषितव्य आच्छादन = दर्भमय आच्छादन, तथा संज्ञप्त-होम और द्वेष = "योऽस्मानद्वेष्टि" इत्यादि वाक्योक्तकर्म नियत कालों में होते हैं ।

सं०—अब उक्त कर्मों के नियत काल में न होने में दोष कथन करते हैं :-

अनर्थकं त्वनित्यं स्यात् । २९ ।

पद०—अनर्थकं । तु । अनित्यं । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द अवधारण के लिये आया है (अनित्यं) नियमपूर्वक न होने से उक्त कर्म (अनर्थकं) अनर्थ के देने वाले (स्यात्) होते हैं ।

भाष्य—यदि यवागू आदिकों के व्रत नियमपूर्वक न किये जायं तो मरणादि अनर्थों के देने वाले होते हैं अर्थात् व्रतकर्त्ता पुरुष को देश, काल, वस्तु इन सब बातों का ध्यान रखकर व्रत करने चाहिये, यदि शीत प्रधान होतो ऊष्ण वस्तुओं का भक्षण करना चाहिये, यदि औषण्य प्रधान देश होतो शीतप्रद वस्तुओं का, एवं विवेक पूर्वक खानपान करने से उक्त यवागू आदि पदार्थ अनर्थप्रद नहीं होते ।

सं०अब "यजमानस्य पशून पाहि" यजु० १ । १ इत्यादि वाक्य प्रतिपादित पशुरक्षा का विधान कथन करते हैं

पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् । ३० ।

पद०–पशुचोदनायाम् । अनियमः । अविशेषात् ।

पदा०–(पशुचोदनायां) "पशून् पाहि" इत्यादि मन्त्र द्वारा पशुओं की रक्षा रूप प्रेरणा में (अनियमः) कोई नियम नहीं, क्योंकि (अविशेषात्) कोई विशेषता नहीं पाईजाती ।

भाष्य–उक्त वाक्य में किसी पशुविशेष की रक्षा का विधान नहीं किन्तु सामान्य पशुमात्र की रक्षा का विधान कियागया है, इससे सिद्ध है कि वेद में पशुमात्र की रक्षा का विधान है ।

सं०–अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :–

छागो वा मंत्रवर्णात् । ३१ ।

पद०–छागः । वा । मंत्रवर्णात् ।

पदा०–"वा" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (छागः) बकरा (मंत्रवर्णात्) वेद में पायाजाता है ।

भाष्य–वेद में लिखा है कि बकरे को मारकर हवन करना चाहिये फिर पशुमात्र की रक्षा का वेद में विधान मानना ठीक नहीं ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

न चोदनाविरोधात् । ३२ ।

पद०–न । चोदनाविरोधात् ।

पदा०–(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (चोदनाविरोधात्) उक्त वेदमंत्र के साथ अविरोध पायाजाता है ।

भाष्य—वेद ईश्वरोक्त होने से उसमें परस्पर विरोध नहीं होसक्ता, यदि बकरे को मारकर हवन करना मानाजाय तो उक्त "पशून् पाहि" मंत्र से विरोध आता है इसलिये पूर्वपक्षी का कथन आदरणीय नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और आशङ्का करते हैं :०

आर्षेयवदिति चेत् । ३३ ।

पद०—आर्षेयवत् । इति । चेत् ।

पदा०—(आर्षेयवत्) आर्षेय के समान "पशून् पाहि" का (चेत्) यदि संकोच मानाजाय तो (इति) यह कथन ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है ।

भाष्य—"आर्षेयं वृणीते" इस वाक्य में जैसे तीन ऋषियों का वरण संकोच से लेलिया जाता है इसी प्रकार उक्त मंत्र में भी गौ आदि विशेष पशुओं की रक्षा मानना चाहिये पशुमात्र की नहीं ।

स०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

न तत्र ह्यचोदितत्वात् । ३४ ।

पद०—न । तत्र । हि । अचोदितत्वात् ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (तत्र) वेद में (हि) निश्चय करके (अचोदितत्वात) पशुविशेष की रक्षा का विधान नहीं पायाजाता ।

भाष्य—वेद में पशुविशेष की रक्षा ही नहीं कथन कीगई किन्तु पशु सामान्य की भी रक्षा कथन कीगई है इसलिये उक्त मंत्र से कुछ पशुओं की रक्षा अभिमेत हो और कुछ की न हो ऐसा नहीं होसक्ता, क्योंकि वेद सबके कल्याणार्थ उपदेश करता है।

सं०—अब और आशङ्का करते हैं :-

नियमो वैकार्थ्य ह्यर्थभेदाद्भेदः पृथक्त्वे-नाभिधानात् ॥ ३५ ॥

पद०—नियमः । वा । एकार्थ्य हि । अर्थभेदात् । भेदः । पृथकत्वेन् । अभिधानात् ।

पदा०—"वा" शब्द आशङ्का के लिये आया है (हि) जिसलिये (एकार्थ्य) छाग शब्द का एक अर्थ है, इसलिये (नियमः) उसकी हिंसा का नियम वेद में पाया जाता है, क्योंकि (अर्थभेदात्, भेदः) छाग का अर्थ भिन्न होने से अन्न पशुओं से भेद है (पृथकत्वेन्) भेदरूप से (अभिधानात्) कथन किये जाने से।

भाष्य—जो यह कथन कियागया है कि पशु रक्षा का कोई नियम नहीं, यह ठीक नहीं, क्योंकि "छाग" शब्द के भिन्नार्थ पाये जाने से स्पष्ट है कि छाग पशु विशेष है, इससे पाया जाता है कि उक्त मंत्र में सामान्य पशुओं की रक्षा का विधान है विशेष पशुओं की रक्षा का विधान नहीं, इस प्रकार सामान्य मंत्र का बाध होजाता है इसलिये कोई विरोध नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

अनियमो वाऽर्थान्तरत्वादन्यत्वंव्यति-रेकशब्दभेदाभ्याम् । ३६ ।

पद०—अनियमः । वा । अर्थान्तरत्वात् । अन्यत्वं । व्यति-रेकशब्दभेदाभ्याम् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त आशङ्का के वारणार्थ आया है (अनियमः) किसी विशेष पशु की रक्षा का वेद में नियम नहीं; क्योंकि (अर्थान्तरत्वात्) भेद पाये जाने से अनियम है और (व्यतिरेक शब्दभेदाभ्याम्) भेद तथा शब्द से (अन्यत्वं) भेद पायाजाता है ।

भाष्य— "गां माहिंसीः" यजु० १३ । ४३, "अवि माहिंसीः" यजु० १३ । ४४ तथा "मा हिंसीरेकशफम्" यजु० १३ । ४८ इत्यादि वाक्यों द्वारा व्यक्ति और शब्द के भेद से पशुमात्र की रक्षा वेद में पाई जाती है फिर किसी विशेष पशु की रक्षा मानना और छागादि निर्बल व्यक्तियों का वलिदान करना ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और आशङ्का करते हैं :—

रूपाल्लिङ्गाच्च । ३७ ।

पद०—रूपात् । लिङ्गात् । च ।

पदा०—(रूपात्) रूप (च) और (लिङ्गात्) लिङ्ग से भी बकरे का बध पायाजाता है ।

भाष्य-बकरे की व्यक्ति इस बात को सिद्ध करती है कि बिना बध से उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं और लिङ्ग यह है कि "यागार्थंच्छिद्यतेति छागः"=जो याग के लिये काटा जाय उसका नाम "छाग" है. इस प्रकार रूप और लिङ्ग से पायाजाता है कि छाग यज्ञ में बध योग्य है।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:-

छागे न कर्माख्यारूपलिङ्गाभ्याम् ।३८।

पद०-छागे । न कर्माख्या । रूपलिङ्गाभ्याम् ।

पदा०-(रूपलिङ्गाभ्याम्) रूप और लिङ्ग से (छागे) छाग में (कर्माख्या) कर्मवाच्यता (न) नहीं ।

भाष्य-छाग की आकृति और हिंसा बोधक लिङ्गों से "छिद्यतेविछागः" यह अर्थ बकरे में नहीं घटता किन्तु यज्ञ के लिये जो छेदन किया जाय उसका नाम छाग है, इसलिये छाग से किसी व्यक्ति विशेष का अर्थ मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब छाग के जातिविशेष होने का खण्डन करते हैं:-

रूपान्यत्वान्नजातिशब्दः स्यात् । ३९ ।

पद०-रूपान्यत्वात् । न । जातिशब्दः । स्यात् ।

पदा०-(रूपान्यत्वात) रूप के अन्य होने से (जातिशब्दः) छाग जाति वाचक शब्द (न, स्यात) नहीं हैं।

भाष्य-"छं गच्छतीति-छागः"=जो विस्तार को प्राप्त

हो उसका नाम छाग है, इस व्युत्पत्ति से छाग किसी जाति विशेष का वाचक नहीं किन्तु यज्ञ की सामग्री विशेष का वाचक है, इसलिये "छाग" शब्द से वेद में बकरे का ग्रहण नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:—

विकारो नौत्पत्तिकत्वात्। ४०।

पद०—विकारः। न। औत्पत्तिकत्वात्।

पदा०—(विकारः) यज्ञ में पशुहनन रूप विकार (न) इष्ट नहीं, क्योंकि (औत्पत्तिकत्वात्) वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

भाष्य—यज्ञ में पशुहननादि विकार इसलिये ठीक नहीं कि वेद ईश्वरीय पुस्तक है वह उक्त विकारों का वर्णन नहीं करता।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:—

स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात्।४१

पद०—स। नैमित्तिकः। पशोः। गुणस्य। अचोदितत्वात्।

पदा०—(स) छाग शब्द वेद में (नैमित्तिकः) यौगिक है, क्योंकि (पशोः) पशु के (गुणस्य) गुणों की (अचोदितत्वात्) विधि नहीं पाईजाती।

भाष्य—वेद केजिन मन्त्रों में छाग शब्द आया है वहां उसको यौगिक कथन किया है अर्थात् "छायते,इति छः" जो अपने सुगन्धादि गुणों द्वारा सर्वत्र छाजाय उसका नाम "छ" और "तंगच्छतीति छागः" = उसको जो सामग्रीरूप द्रव्य प्राप्त होते हैं

उनका नाम "छाग" है, इस प्रकार छाग शब्द यौगिक लेना चाहिये, क्योंकि पशु मारकर हवन के गुणों को बढाने का कहीं विधान नहीं कियागया इसलिये यौगिक अर्थ लेना ही ठीक है अन्य नहीं।

सं०–अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :–

ज्ञातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् । ४२ ।

पद०–ज्ञातेः । वा । तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् ।

पदा०–(वा) अथवा (ज्ञातेः) छाग शब्द जाति का वाचक है (तत्प्राय०) जाति वाले शब्दों में पढ़े जाने और प्रयोजन वाला होने से।

भाष्य–जिस वेद वाक्य में उक्त शब्द पढ़ा है वहां कई एक औषध वाची शब्द पड़े हैं इससे पायाजाता है कि छाग औषध विशेष का वाचक है और हवन की सुगन्धि रूप प्रयोजन भी औषध सेही सिद्ध होता है मांस से नहीं, इसलिये छाग शब्द से औषध विशेष का ग्रहण करना चाहिये मांस पिण्ड का नहीं।

असंख्यात पशुओं की हिंसा द्वारा वेद यदि यज्ञ का विधान करता तो :–

(१) इषेत्वोर्ज्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविताप्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय

भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन
ईशत माघशꣳसो ध्रुवा आस्मिन् गोपतौ
स्यात् वह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥ यजु० १ । १

(२) यः पौरुषेयेणक्रविषा समङ्क्ते यो अश्वेन पशुना
यातुधानः । यो अघ्न्याया भरतिक्षीरमग्ने तेषां शी-
र्षाणि हरसापिवृश्च ॥ ऋग० ८ । ४ । ८ । १६

इन मन्त्रों में पशुरक्षा का विधान कदापि न होता, उक्त मन्त्रों में गौओं को "अघ्न्या" कथन कियागया है अर्थात् वध योग्य नहीं, और यजमान के पशुमात्र की रक्षा की प्रार्थना कीगई है, अश्वादि के खाने वाले को राक्षस कथन कियागया है इत्यादि कथनों से स्पष्ट सिद्ध है कि वेद का तात्पर्य्य पशु हनन में कदापि नहीं । विस्तार के भय से हम यहां और मन्त्र उद्धृत नहीं करते वरन् सहस्रों मन्त्र पशु हिंसा के निषेधक हैं जिनको हम यथा स्थान तृतीय भाग में उद्धृत करेंगे ।

मीमांसा का तात्पर्य्य भी यही था कि पशुयज्ञरूप घोर अनार्थ का मूल से उन्मूलन करे नकि उसकी पुष्टि का एकमात्र हेतु हो । वेदार्थानभिज्ञ और स्वार्थी मनुष्यों ने मीमांसा के टीकाओं में अनेक अनर्थ भरदिये हैं जो मीमांसा शास्त्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं जिस प्रकार ब्रह्ममीमांसा नाना ईश्वरवाद को जड़ से उखाड़ता है इसी प्रकार यह धर्म मीमांसा यज्ञ में पशु वध, सौत्रमणी यज्ञ में

सुरापानादि घोर अनर्थों को मूल से मर्दन करता है जो ग्रन्थ के आद्योपान्त अवलोकन से हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होता है ।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
मीमांसार्य्यभाष्ये
षष्ठाध्याये
अष्टमःपादः
समाप्तः

दोहा

मीमांसा के विषय में, पशुबध को नहिं नाम ।

वैदिकमत की ख्याति में, यही हमारो काम ।